कारक के पूर्वपद होने के कारण यण् हो जायगा। तब 'शुद्धध्यौ, शुद्धध्य' इस प्रकार रूप बनेंगे। परन्तु नदीसञ्ज्ञा वहां भी न होगी, क्योंकि वहां स्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द ही नहीं रहेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०२ न भूसुधियोः ।६।४।८५॥

एतयोरचि सुँपि यण्न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि।

अर्थ—अजादि सुँप् प्रत्यय परे रहते भू और सुधी शब्द को यण् न हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि श्नु०' से *] सुँपि ।७।१। ['ओः सुँपि' से] यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] न इत्यव्ययपदम्। भूसुधियोः ।६।२। 'अचि' पद 'सुँपि' पद का विशेषण है, अतः 'यस्मिन्विधिः०' द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ सुँपि' बन जायगा। समास—भूश्च सुधीश्च=भूसुधियौ, तयोः=भूसुधियोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अचि) अजादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (भूसुधियोः) भू और सुधी शब्द के स्थान पर (यण्) यण् (न) नहीं होता।

सुध्यायतीति सुधीः (भली प्रकार चिन्तन करने वाला=बुद्धिमान्)। सुपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर 'सुधी' शब्द निष्पन्न होता है। इस में पूर्वपद (सु) 'गतिश्च' सूत्र द्वारा गतिसञ्ज्ञक है अतः अजादि प्रत्ययों में यण् निषेध नहीं होता, एरनेकाचः० द्वारा यण् प्राप्त होता है। इस पर इस सूत्र से उस का निषेध हो इयँङ् हो जाता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	प०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	,,	,,	ष०	,,	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि		सुधीषु
च०	सुधिये	,,	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः!	हे सुधियौ!	हे सुधियः!

नोट—'सु=शोभना धीर्यस्य स सुधीः' इस विग्रह में भी उच्चारण इसी तरह होगा। नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'नेयँङ०' (२२६) सूत्र से निषेध हो जायगा।

सूचना—इस सूत्र से 'सुध्युपास्यः' में यण् का निषेध नहीं होता। क्योंकि वहां यण्, अजादि सुँप् को मान कर नहीं किन्तु 'उपास्य' के उकार को मान कर प्रवृत्त होता है।

* इको यणचि इत्यत 'अचि' इत्यनुवर्तत इति मन्वानो बालमनोरमाकारोऽत्र भ्रान्तः।

[लघु०] सुखमिच्छतीति—सुखी । सुतमिच्छतीति—सुती । सुख्यौ । सुत्यौ । सुख्यु । सुत्यु'। शेषं प्रधीवत् ।

व्याख्या—सुखम् आत्मन इच्छतीति—सुखी । जो अपने लिये सुख चाहे उसे 'सुखी' कहते हैं । सुतम् आत्मन इच्छतीति—सुती । जो अपने लिये सुत—पुत्र चाहे उसे सुती कहते हैं । इन शब्दों की साधनप्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिये । तथाहि—सुख + अम्' तथा सुत + अम्' इन सुबन्तों से 'सुप आत्मनः क्यच्' (७२०) सूत्र द्वारा क्यच् प्रत्यय हो कर 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से सुख अम् क्यच्' तथा 'सुत अम् क्यच्' इन समुदायों की धातुसञ्ज्ञा हो जाती है । अब 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से अम् का लुक् हो कर क्यचि च' (७२२) से अकार को ईकार करने पर 'सुखीय, सुतीय' रूप बन जाते हैं । इन का अर्थ क्रमशः 'अपने लिये सुख चाहना' और 'अपने लिये पुत्र चाहना' है । अब इन धातुओं से कर्त्ता अर्थ में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय कर 'अतो लोपः' (४७०) से अकारलोप तथा लोपो व्योर्वलि' (४२९) से यकार का लोप हो कर—सुखी' और 'सुती' शब्द निष्पन्न होते हैं । क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस नियमानुसार इन की धातुसञ्ज्ञा भी अक्षत है ।

'सुखी + स (सुँ), सुती + स् (सुँ)' यहां ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता । रुँत्व विसर्ग हो कर—सुखी: सुती: ।

'सुखी+औ सुती + औ' यहां अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र धातु के इकार को 'एरनेकाचः' (२००) से यण् होता चला जायगा—सुख्यौ सुत्यौ ।

'सुखी + अस् (ङसि व ङस्) सुती + अस (ङसि व ङस्) यहां प्रथम 'एरनेकाचः' से यण् हो सुख्य् + अस् , सुत्य् + अस् बन जाता है। तब 'ख्यत्यात् परस्य' (१८३) सूत्र से अकार को उकार हो 'सुख्यु , सुत्यु' प्रयोग निष्पन्न होते हैं । इन शब्दों के उच्चारण यथा—

सुखी

प्र०	सुखी:	सुख्यौ	सुख्य:
द्वि०	सुख्यम्	,,	,,
तृ०	सुख्या	सुखीभ्याम्	सुखीभि:
च०	सुख्ये	,,	सुखीभ्य:
प०	सुख्युः	,,	,,
ष०	,,	सुख्यो:	सुख्याम्
स०	सुख्यि	,,	सुखीषु
सं०	हे सुखीः !	हे सुख्यौ !	हे सुख्य: !

सुती

प्र०	सुती:	सुत्यौ	सुत्य:
द्वि०	सुत्यम्	,,	,,
तृ०	सुत्या	सुतीभ्याम्	सुतीभि:
च०	सुत्ये	,,	सुतीभ्य:
प०	सुत्यु:	,,	,,
ष०	,,	सुत्यो:	सुत्याम्
स०	सुत्यि	,,	सुतीषु
सं०	हे सुती: !	हे सुत्यौ !	हे सुत्य: !

इसी प्रकार—लूनी, क्षामी, प्रस्तीमी आदि शब्दों के रूप होते हैं। इन शब्दों में क्त प्रत्यय के तकार के स्थान पर नकार मकार आदि आदेश होते हैं। ये आदेश त्रिपादी होने से 'ख्यत्यात् परस्य' (१८३) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हैं अतः उस से उकार आदेश करने में कोई बाधा नहीं होती।

अभ्यास (२६)

(१) यदि प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा न कर उपसर्गसञ्ज्ञा से ही काम चलाया जाय तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(२) प्रधी — प्रध्यायतीति प्रधी । प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधी । | सुश्री — सुश्रयतीति सुश्री । सु (शोभना) श्रीर्यस्य स सुश्री ।

सुधी — सुध्यायतीति सुधी । सु (शोभना) धीर्यस्य स सुधी । | शुद्धधी — शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधी । शुद्धं ध्यायतीति शुद्धधी ।

इन चार शब्दों में विग्रहभेद से रूपों में कौन २ सा भेद हो सकता है ? सविस्तर लिखो।

(३) अजादि प्रत्ययों के परे रहते निम्नलिखित शब्दों में कहां यण् और कहां इयँङ् होता है ? कारणनिर्देशपूर्वक तत्तद्विधायक सूत्र लिखो—

१ प्रस्तीमी। २ ग्रामणी। ३ सुधी। ४ यवक्री। ५ मन्दधी। ६ सुश्री। ७ प्रधी। ८ सुखी। ९ नी। १० सुती।

(४) निम्नलिखित शब्दों में यण् होगा या इयँङ् ? समझ कर लिखो—

१ पपी। २ बहुश्रेयसी। ३ अतिलक्ष्मी। ४ ययी।

(५) (क) किस २ विभक्ति में नदीसञ्ज्ञा के कारण अन्तर होता है ?

(ख) अग्रणी तथा सेनानी शब्द के अम् तथा आम् में क्या रूप बनेंगे ?

(ग) सुध्युपास्य में न भूसुधियोः द्वारा यण्निषेध क्यों नहीं होता ?

(६) सन्धि प्रकरण में सवर्णदीर्घ यण् का और इस प्रकरण में यण् सवर्णदीर्घ का बाधक होता है—इस कथन की पुष्टि सोदाहरण प्रमाणनिर्देशपूर्वक करते हुए प्रधी और पपी शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप लिखो।

(७) सूत्रों की व्याख्या करो—

१ अचि श्नु । २ एरनेकाच । ३ यू स्त्र्याख्यौ नदी। ४ न भूसुधियोः।

(८) यदागमास्तद्गुणीभूता , क्विबन्ता धातुत्वम् प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च गतिकारकेतर , विप्रतिषेधे यद् इन वचनों का तात्पर्य व्यक्त करो।

(९) सूत्र निर्देशपूर्वक सिद्धि करो—

१ सुत्यु । २ नियाम् । ३ शुद्धधियौ । ४ बहुश्रेयसि । ५ पपी । ६ अति-लक्ष्म्यै । ७ सुधियि । ८ यवक्रियौ । ९ प्रध्यै । १० बहुश्रेयसीनाम् ।

[यहाँ ईकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—○ ❀ ●—

अब ह्रस्व उकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] शम्भुर्हरिवत् । एवम्—भान्वादयः ।

अर्थ—शम्भु (भगवान् शिव) शब्द के रूप हरिशब्द के समान होते हैं । इसी प्रकार भानु (सूर्य) आदि अन्य उकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के भी रूप होते हैं ।

व्याख्या—शम्भु शब्द को ह्रस्व उकारान्त होने से 'हरि' के समान 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा होती है, अतः घिसञ्ज्ञा के कार्य 'हरि' शब्द के समान ही होंगे । यहाँ गुण उकार के स्थान पर ओकार ही होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः ‡	पं०	शम्भोः *	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
द्वि०	शम्भुम्	,,	शम्भून्	ष०	,,	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
तृ०	शम्भुना †	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः	स०	शम्भौ ☙	,,	शम्भुषु
च०	शम्भवे ×	,,	शम्भुभ्यः	सं०	हे शम्भो ! ✠	हे शम्भू !	हे शम्भवः !

‡ 'जसि च' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है ।

† घिसञ्ज्ञा होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' द्वारा आ को ना हो जाता है ।

× 'घेर्ङिति' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है ।

* 'घेर्ङिति' से गुण तथा 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप हो जाता है ।

☙ 'अच्च घेः' से ङि को औ तथा घि को अत् हो जाता है ।

✠ 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हो सुलोप हो जाता है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप बनेंगे—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अजातशत्रु*	युधिष्ठिर	अंशु	किरण	इषु *	बाण
अणु	परमाणु	आखु	चूहा	उन्दुर *	चूहा
अध्वर्यु *	यजुर्वेद का ज्ञाता	इक्षु*	गन्ना	१५ ऊरु *	पट्ट
अनूरु*	सूर्य का सारथि	१० इक्ष्वाकु *	एक राजा	ऊर्णायु	मेष—भेड़
५ अभीशु*	किरण व लगाम	इच्छु	चाहने वाला	ऋजु	सरल
असु	प्राण	इन्दु	चन्द्र	ऋतु	मौसम

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
ओतु	बिल्ला	तरु	वृक्ष	७०प्रज्ञु	टेढ़े घुटने वाला
२०कटु	† तीखा	४९तिग्मांशु	सूर्य	प्रभु*	स्वामी
	(मरिचवत्)	तितउ	चलनी	प्रांशु	उन्नत
कारु*	कारीगर	तुहिनांशु	चन्द्र	बन्धु	बान्धव
कृशानु	अग्नि	त्सरु*	तलवार की मूठ	बाहु	भुजा
केतु	झण्डी, एक ग्रह	दद्रु*	रोग विशेष	७१बुभुक्षु*	भूखा
क्रोष्टु*	गीदड़	५०दयालु	दया वाला	भिक्षु*	याचक
२५क्रतु	यज्ञ	दस्यु	डाकू	भीरु*	डरपोक
क्षवथु	खांसी	दिदृक्षु*	दर्शनाभिलाषी	भृगु*	एक ऋषि
गुग्गुलु	गूगल	देवदारु*	दियार का वृक्ष	मञ्जु	खूबसूरत
गुरु*	गुरु	धातु	सुवर्णादि धातु	८०मनु	पहला राजा
गृध्नु	लालची	५१निद्रालु	निद्राशील	मन्यु	क्रोध
३०गोमायु	गीदड़	पङ्गु	लङ्गड़ा	मरु*	रेगिस्तान
चण्डांशु	सूर्य	पटु	चतुर	मित्रयु*	मित्रवत्सल
चरिष्णु	चालाक	परमाणु	ज़र्रा	मुमूर्षु*	मरणेच्छुक
चरु*	हव्यान्न	पशु	जानवर	८१मृगयु*	शिकारी
चिकीर्षु*	करने का इच्छुक	६०परशु	कुल्हाड़ा	मृत्यु	मौत
३१जन्तु	प्राणी	पलाण्डु	प्याज़	मेरु	एक पर्वत
जायु	औषध	पाण्डु	प्रसिद्ध नृप	यदु	प्रसिद्ध नृप
जिज्ञासु	जानने का इच्छुक	पांशु	धूलि	रघु*	प्रसिद्ध नृप
जिष्णु	इन्द्र व अर्जुन	पायु	गुदा	९०रङ्कु*	मृगविशेष
जीवातु	जीवन औषध	६१पिचु	कपास	राहु*	ग्रह विशेष
४०तनु	पतला	पिपासु	प्यासा	रिपु*	शत्रु
तन्तु	तागा	पीलु	पीलु का वृक्ष	रेणु	मट्टी
तन्द्रालु	बहुत ऊँघनेवाला	पुरु*	प्रसिद्ध नृप	लघु	छोटा
तरक्षु*	विशेष भेड़िया	पृथु	प्रसिद्ध नृप	९१वटु	बालक

† भाषा में आजकल मरिच पिप्पली आदि को तिक्त अर्थात् तीखा तथा निम्ब आदि को कड़वा समझा जाता है। परन्तु वैद्यकशास्त्रों में ठीक इस से विपरीत होता है। वहां मरिच आदि को कटु तथा निम्ब आदि को 'तिक्त' कहा जाता है। अतएव 'त्रिकटु' शब्द से शास्त्र में—'काली मिर्च, पिप्पली, सुण्ठी' इन तीनों का ग्रहण होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वनायु	अरब देश	व्यसु	मृत	सानु	पर्वत की चोटी
वन्दारु*	वन्दनशील	शङ्कु	कील	१२०सिन्धु	सागर
वमथु	वमन	शत्रु*	दुश्मन	सीधु	मद्यविशेष
	(सूँड का पानी)	११०शयालु	निद्राशील	सुधांशु	चन्द्र
वायु	हवा	शयु	अजगर	सूनु	पुत्र
१००विधु	चन्द्र	शरारु*	हिंस्र	सेतु	पुल
विन्दु	बूंद	शिशु	बालक	१२५स्तनयित्नु	बादल
विभावसु	अग्नि, सूर्य	शीतगु	चन्द्र	स्थाणु	शाखाहीन वृक्ष
विभु	व्यापक	११५श्रद्धालु	श्रद्धालु	स्वर्भानु	राहु
विष्णु	भगवान् विष्णु	श्वयथु	सूजन शोथ	स्वादु	स्वादिष्ट
१०५वेणु	बांस	सक्तु	सत्तू	हिमांशु	चन्द्र
वेपथु	कांपना	साधु	सज्जन	१३०हेतु	कारण

शम्भु शब्द की अपेक्षा क्रोष्टु (गीदड़ । 'शृगाल वञ्चक क्रोष्टु फेरु फेरव जम्बुकाः' इत्यमरः) शब्द के रूपों में अन्तर पड़ता है। अतः अब उस का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—२०३ तृज्वत् क्रोष्टुः ।७।१।९५॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ।

अर्थः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग करना चाहिये—यह सूत्र का तात्पर्य है (अर्थ नहीं। अर्थ व्याख्या में देखें।)

व्याख्या—तृज्वत् इत्यव्ययपदम् । क्रोष्टुः ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। [सख्युरसम्बुद्धौ' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। [इतोऽत्सर्वनामस्थाने से] तृचा तुल्यम्—तृज्वत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वतिप्रत्ययः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से तृजन्त का ग्रहण होता है। 'तृज्वत्' का अर्थ है—तृजन्त के समान। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे रहते (क्रोष्टुः) क्रोष्टुशब्द (तृज्वत्) तृच्प्रत्ययान्त के समान होता है। यह अतिदेश सूत्र है; अतिदेश कई प्रकार के होते हैं, यहां रूपातिदेश है।

तृजन्त शब्द—कर्तृ हर्तृ दातृ आदि अनेक हैं, इन में से यहां क्रोष्टु शब्द के स्थान पर कौन सा तृजन्त हो? इस का उत्तर यह है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से

अथकृत आन्तय [अर्थ के तुल्य होने से जो सादृश्य देखा जाता है उसे अथकृत आन्तर्य कहते हे] द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ ही तृजन्त आदेश होगा। क्रोष्टु और क्रोष्टृ दोनो का एक ही अथ है।

क्रोष्टु+स (सु) यहा सम्बुद्धिभिन्न सवनामस्थान 'सु' परे है अत क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो कर— क्रोष्टृ+स हुआ। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०४ ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयो ।

।७।३।११०॥

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

अर्थ—ङि अथवा सवनामस्थान परे होने पर ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर गुण हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (अग्रिम इसे बान्ध लेता है।)

व्याख्या—ऋत ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुण ।१।१। [ह्रस्वस्य गुण से] ङि सवनामस्थानयो ।७।२। समास —ङिश्च सवनामस्थानञ्च=ङिसर्वनामस्थाने तयो =ङिसर्वनामस्थानयो इतरेतरद्वन्द्व। अङ्गस्य का विशेषण होने से ऋत' से तदन्तविधि हो जाती है। अथ —(ऋत) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुण) गुण होता है (ङिसवनामस्थानयो) ङि अथवा सवनामस्थान परे हो तो।

अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषा से अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर ही गुण होगा। किञ्च इसके साथ उरण्रपर (२६) सूत्र द्वारा रपर हो अर हो जायगा।

क्रोष्टृ+स यहा सु सवनामस्थान परे है अत प्रकृत सूत्र से ऋवर्ण के स्थान पर अर् गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र निषेध कर अनङ् आदेश करता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०५ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ।

।७।१।९४॥

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सु परे होने पर ऋदन्तो तथा उशनस् (शुक्र आचार्य) पुरुदंसस् (बिल्ली) और अनेहस् (समय) शब्दों को अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। अनङ् ।१।१। ['अनङ् सौ' से] ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' अधिकार का

वचनविपरिणाम हो जाता है ।] च इत्यव्ययपदम् । समास —ऋच्च उशना च पुरुदंसा च अनेहा च=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहस , तेषाम्=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् इतरेतरद्वन्द्व । 'अङ्गानाम्' का विशेषण होने से ऋदुशनस् पद से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ —(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ)सु पर हो तो (ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्) ऋदन्त उशनस्शब्दान्त तथा अनेहसशब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (अनङ) अनङ् आदेश होता है ।

अनङ् आदेश में ङकार इत्संज्ञक है अकार उच्चारणार्थ है । 'अन्' ही अवशिष्ट रहता है । ङित् होने से यह आदेश ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल—ऋवर्ण या सकार के स्थान पर होगा । किन्च ध्यान रहे कि केवल उशनस आदि शब्दों के स्थान पर भी व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से अनङ् आदेश हो जायगा ।

क्रोष्टृ + स् यहां सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे है अतः प्रकृत सूत्र से ऋकार को अनङ् आदेश हो अनुबन्ध लोप करने पर—'क्रोष्टन् + स्' हुआ । इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०६ अप्—तृन्—तृच्—स्वसृ—नप्तृ—नेष्टृ—त्वष्टृ—क्षत्तृ—होतृ—पोतृ—प्रशास्तॄणाम् ।६।४।११॥

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् , क्रोष्टॄन् ।

अर्थ —सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप् , तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को दीर्घ हो ।

व्याख्या—अप्—तृन् ... प्रशास्तॄणाम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] समास —आपश्च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च क्षत्ता च होता च पोता च प्रशास्ता च=अप्—तृन्तृच् ... प्रशास्तारः , तेषाम्=अप्तृन् ... प्रशास्तॄणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । तृन् और तृच् प्रत्यय हैं अतः प्रत्ययग्रहणपरिभाषा द्वारा तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ —(अप्—तृन् ... प्रशास्तॄणाम्) अप् , तृन्प्रत्ययान्त तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ नप्तृ नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ शब्दों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर । अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासंज्ञक होता है—यह पीछे (१७६) सूत्र पर कहा गया है ।

इस सूत्र पर विशेष विचार स्वयं ग्रन्थकार आगे अदन्त प्रकरण में करेंगे अतः हम भी उस की वहीं व्याख्या करेंगे।

क्रोष्टन्+स' यहां एकदेशविकृतमनन्यवत् के अनुसार क्रोष्टन् शब्द तृजन्त है। इस की उपधा नकार से पूर्व टकारोत्तर अकार है। सम्बुद्धिभिन्न सुँ=सर्वनामस्थान परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से उपधा को दीर्घ हो गया। क्रोष्टान्+स् इस स्थिति में हल्ङ्याब्भ्यः (१७१) से सकार लोप हो न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का भी लोप हो गया तो—'क्रोष्टा' प्रयोग सिद्ध हुआ।

सूचना—यद्यपि सुँ में सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा भी उपधादीर्घ सिद्ध हो सकता है तथापि औ जस् आदियों में नान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं हो सकता। अतः प्रकृतसूत्र की रचना आवश्यक है। तब यह सुँ में न्यायवशात् प्रवृत्त हो जाता है।

क्रोष्टु+औ=क्रोष्टृ+औ यहां सुँ परे न होने से अनङ् आदेश नहीं होता। ऋतो ङि ' (२०४) सूत्र से गुण हो अप्तृन् (२०६) से उपधादीर्घ हो जाता है—क्रोष्टारौ।

क्रोष्टु+अस (जस्)=क्रोष्टृ+अस्। यहां भी पूर्ववत् गुण और उपधादीर्घ करने पर क्रोष्टारः सिद्ध होता है।

क्रोष्टु+अम्=क्रोष्टृ+अम्। गुण और उपधादीर्घ हो कर क्रोष्टारम्' सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि यह गुण, पूर्वसवर्णदीर्घ तथा अमि पूर्वः' (१६५) आदि प्राप्त कार्यों का अपवाद है।

क्रोष्टु + अस् (शस्)' यहां सर्वनामस्थान न होने से तृज्वद्भाव नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार का नकार करने से 'क्रोष्टून्' सिद्ध होता है।

क्रोष्टु + आ (टा)' यहां वैकल्पिक तृज्वद्भाव करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०७ विभाषा तृतीयादिष्वचि ।७।१।९७॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

अर्थ—अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने पर क्रोष्टु' शब्द विकल्प से तृज्वत् हो।

व्याख्या—क्रोष्टुः ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। [तृज्वत्क्रोष्टुः ' से] विभाषा इत्यव्ययपदम्। तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।१। 'अचि' पद तृतीयादिषु' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर अजादिषु' बन जायगा। अर्थः—(अचि) अच् जिस के आदि

में है ऐसी (तृतीयादिषु) तृतीया आदि विभक्ति परे हो तो (क्रोष्टु) क्रोष्टुशब्द (विभाषा) विकल्प कर के (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है।

तृतीयादि विभक्तियों में अजादि विभक्तियां आठ हैं। १ टा (आ) २ ङे (ए), ३ ङसि (अस), ४ ङस् (अस्) ५ ओस् ६ आम् ७ ङि, ८ ओस्।

जिस पक्ष में क्रोष्टृ आदेश न होगा वहां सर्वत्र घिसञ्ज्ञा हो कर 'शम्भु' शब्द के समान प्रक्रिया होगी।

तृतीया के एकवचन में 'क्रोष्टु+आ' इस स्थिति में अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने से विकल्प से तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में 'क्रोष्टृ+आ' इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर 'क्रोष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध हुआ। तृज्वत् के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर टा को ना आदेश करने पर 'क्रोष्टुना' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् तृतीयादि होने पर भी हलादि हैं अतः इन में तृज्वद्भाव न होगा।

चतुर्थी के एकवचन में 'क्रोष्टु+ए' इस दशा में विकल्प कर के तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में यण् हो— 'क्रोष्ट्रे' रूप सिद्ध हुआ। तदभावपक्ष में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण हो अव् आदेश करने पर— 'क्रोष्टवे' रूप सिद्ध होता है।

तृज्वद्भाव पक्ष में पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'क्रोष्टृ+अस्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०८ ऋत उत् ।६।१।१०८॥

ऋतो ङसि-ङसोरति उद् एकादेशः । रपरः ।

अर्थः—ऋत् से ङसिँ अथवा ङस् का अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर उत् एकादेश हो। 'उरण् रपरः' (२९) से रपर भी हो जायगा।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। ङसि-ङसोः ।६।२। ['ङसि-ङसोश्च' से] अति ।७।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है'] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एक पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है'] उत् ।१।१। अर्थः—(ऋतः) ह्रस्व ऋकार से (ङसि-ङसोः) ङसि अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है। 'उरण् रपरः' (२९) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जायगा।

प्रश्न—प्रत्यय अर्थात् विधीयमान अण् अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं होता— यह पीछे 'अणुदित्०' (११) सूत्र में कहा गया है। इस नियमानुसार 'ऋत उत्' यहां विधीयमान उकार से सवर्णों का ग्रहण न होगा। इस से दीर्घ ऊकार आदि के एकादेश

होने की आशङ्का नहीं की जा सकती। तो पुनः 'ऋत उत्' में उकार का तपर करने का क्या प्रयोजन है ?।

उत्तर—यहां उकार का तपर करने से आचार्य यह जनाना चाहते हैं कि—"भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित् सवर्णान् गृह्णाति" अर्थात् कहीं २ विधीयमान भी अण् अपने सवर्णों का ग्राहक हुआ करता है। अतएव—'यवलपरे यवला वा (वा १२) वार्त्तिक द्वारा अनुनासिक यकार आदियों का विधान हो जाता है। इसी प्रकार— अदसो ऽसे— (३५६) सूत्र में प्राचीन वैयाकरणों ने उकार से ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के उकारों का ग्रहण किया है। यहां का विशेष विवेचन हमारी 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखें।

'क्रोष्टृ + अस्' यहां ऋत् से परे ङसि व ङस का अत् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व (ऋ) और पर (अ) के स्थान पर उर् एकादेश हो— क्रोष्ट उर स' हुआ। अब अग्रिम नियम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२०६ रात् सस्य ।८।२।२४॥

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः। क्रोष्टुः। क्रोष्टोः।

अर्थ—रेफ से पर यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो, अन्य का न हो।

व्याख्या—रात् ।५।१। संयोगान्तस्य ।६।१। सस्य ।६।१। लोपः ।१।१। [संयोगान्तस्य लोपः से] रेफ से परे संयोगान्त सकार का लोप संयोगान्तस्य लोपः से ही सिद्ध हो जाता है पुनः इसका कथन 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है। अतः एव पद प्राप्त हो जाता है। अर्थ—(रात्) रेफ से पर (संयोगान्तस्य) संयोग के अन्त में वर्त्तमान (सस्य) सकार का (एव) ही (लोपः) लोप होता है अन्य किसी वर्ण का नहीं।

उदाहरण यथा— ऊर्क्'। ऊर्ज शब्द से सुँ का लुक् होने पर संयोगान्तस्य लोपः (२०) द्वारा जकार का लोप प्राप्त होता है, वह अब इस नियम के कारण नहीं होता।

नोट—ध्यान रहे कि नियमसूत्रों के उदाहरण वही होते हैं जो लोक में प्रत्युदाहरण समझे जाते हैं। नियमसूत्रों की चरितार्थता भी इसी में है। 'पतिः समास एव' (१८९) का उदाहरण वस्तुतः 'पत्ये' ही है 'भूपतये' नहीं इसी प्रकार 'रात्सस्य' (२०६) का उदाहरण 'ऊर्क्' ही है 'क्रोष्टुः' नहीं। बालकों के बोध के लिये ही 'भूपतये' आदि रूपों में नियमसूत्रों की प्रवृत्ति दर्शाई गई है।

'क्रोष्ट् उर् स' यहां पर 'रात्सस्य' (२०६) की सहायता से संयोगान्तस्य लोपः

(२०) से मकार का लोप हो कर अवसान में 'खरवसानयोः' (९३) से रेफ का विसर्ग करने से 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है। तृज्वद्भाव के अभाव में घिसञ्ज्ञा होकर 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण तथा 'ङसि-ङसोश्च' (१७९) से पूर्वरूप होकर 'क्रोष्टोः' प्रयोग बनता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'क्रोष्टु + ओस्' इस दशा में तृज्वद्भाव हो कर यण् करने से 'क्रोष्ट्रोः' रूप हुआ। तदभाव पक्ष में भी उकार को वकार होकर— 'क्रोष्ट्वोः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के बहुवचन में 'क्रोष्टु + आम्' इस दशा में तृज्वद्भाव तथा 'ह्रस्वनद्यापः' (१४८) से नुट् युगपत् प्राप्त होते हैं। इस पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर होने के कारण तृज्वद्भाव ही प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१६ नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

अर्थः—नुम्, अच् परे होने पर रेफादेश ('अचि र ऋतः') और तृज्वद्भाव—इन से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुट् हो जाता है।

व्याख्या—तुल्य बल वाले दो कार्यों का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा अष्टाध्यायीक्रमानुसार परकार्य विधान किया जाता है। इस से—मनोरथः, वृक्षाभ्याम् आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु ऐसा करने में व्याकरण में कहीं २ दोष भी आ जाते हैं। क्योंकि वहां परकार्य करना इष्ट नहीं हुआ करता पूर्वकार्य इष्ट होता है। तो उन दोषों की निवृत्ति के लिये 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र को 'विप्रतिषेधेऽपरं कार्यम्' इस प्रकार पढ़ 'अपर' अर्थात् पूर्वकार्य का विप्रतिषेध में विधान कर इष्ट सिद्ध किया जाता है। परन्तु कहां २ 'अपरम् कार्यम्' छेद करें—इसके लिये भगवान् कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में उन २ स्थानों का परिगणन कर दिया है। यह वार्त्तिक उन में एक है। इन परिगणित स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र परकार्य और इन में पूर्वकार्य होगा।

भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि 'पर' शब्द को इष्टवाची मान कर दोष निवृत्त कर लेते हैं। यथा— 'अस्तीष्टवाची परशब्दः, तद्यथा— परं धाम गत' इष्टं धाम गत इति गम्यते। तद् य इष्टवाची परशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्। विप्रतिषेधे परं यद् इष्टं तद् भवतीति'।

नुम् ['इकोऽचि विभक्तौ'] अच् परे होने पर रेफादेश ['अचि र ऋतः'] और तृज्वद्भाव ['तृज्वत्क्रोष्टुः', 'विभाषा तृतीयादिष्वचि']—इन तीन कार्यों के साथ यदि नुट् ['ह्रस्वनद्यापो नुट्'] का विप्रतिषेध हो तो नुट् ही होता है। ये तीनों यद्यपि अष्टाध्यायी में सूत्रक्रम से पर हैं और इन की अपेक्षा नुट् पूर्व है तथापि नुट् हो जाता है। नुम् का

उदाहरण तिसृ' शब्द पर आगे मूल म ही स्पष्ट हो जायगा। यहा तृज्वद्भाव का उदाहरण दिया जाता है--

'क्रोष्टु + आम्' यहा नुट् का तृज्वद्भाव के साथ विप्रतिषेध है अत प्रकृतवार्त्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट हो 'नामि (१४१) से दीर्घ करने पर क्रोष्टूनाम्' रूप सिद्ध हुआ।

क्रोष्टु + इ' (ङि) यहा 'इ' यह अजादि तृतीयादि विभक्ति परे है अत विकल्प से तृज्वद्भाव हो गया। तृज्वद्भाव पक्ष में 'ऋतो ङि ' (२०४) से अर गुण हो कर क्रोष्टरि' रूप बना। तदभाव पक्ष मे औच्च घे' (१७४) से ङि को औ तथा उकार को अकार कर वृद्धि करने से क्रोष्टौ' हुआ।

हे क्रोष्टु + स्' यहा सम्बुद्धि में तृज्वद्भाव के निषेध के कारण तृज्वत्क्रोष्टु' प्रवृत्त न हुआ। ह्रस्वस्य गुण' (१६१) से गुण हो एङ्ह्रस्वात् ' (१९४) द्वारा सम्बुद्धि के सकार का लोप करने पर हे क्रोष्टो! रूप बना। हे क्रोष्ट' लिखने वाल सावधान रहें।

प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टार
द्वितीया	क्रोष्टारम्	,,	क्रोष्टून्
तृतीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभि
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे क्रोष्टवे	,,	क्रोष्टुभ्य
पञ्चमी	क्रोष्टु, क्रोष्टो	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	क्रोष्ट्रो क्रोष्ट्वो	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	,, ,,	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टो!	हे क्रोष्टारौ!	हे क्रोष्टार!

अभ्यास (३०)

(१) ऋत उत्' म तपर करने का क्या प्रयोजन है? सविस्तर पूर्वपक्ष का प्रतिपादन कर उत्तरपक्ष का निर्देश करें।

(२) पूर्वविप्रतिषेध और परविप्रतिषेध किसे कहते हैं? इन दोनों का 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस एक ही सूत्र कैसे प्रतिपादन किया जाता है?

(३) रायस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट करो कि नियमसूत्रों के प्रत्युदाहरण ही वस्तुत उदाहरण होते हैं।

(४) किस आन्तर्य के कारण क्रोष्टु शब्द के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश होता है?

(५) हे क्रोष्ट! प्रयोग के शुद्धाशुद्ध होने का विवेचन करें।

(६) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें—

१ क्रोष्टु । २ क्रोष्टू । ३ क्रोष्टूनाम् । ४ क्रोष्टारौ । ५ भानो । ६ क्रोष्ट्रा । ७ शम्भव । ८ शम्भो । ९ क्रोष्टा । १० क्रोष्टरि ।

(यहां ह्रस्व उकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—॥ ० ॥—

अब ऊकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है ।

[लघु०] हूहू, हूहौ, हूहः । हूहून् इत्यादि ।

व्याख्या— हूहू अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है । इस का अर्थ 'गन्धर्व' है । इस की रूपमाला यथा—

प्र० हूहू	हूहौ †	हूहः †	प० हूहः *	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
द्वि० हूहूम् ×		हूहून् ‡	ष० *	हूह्वोः *	हूह्वाम् *
तृ० हूह्वा *	हूहूभ्याम्	हूहूभिः	स० हूह्वि *	*	हूहूषु
च० हूह्वे *	,,	हूहूभ्यः	सं० हे हूहूः !	हे हूहौ !	हे हूहः !

† 'दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

× यहां 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप हो जाता है ।

‡ पूर्वसवर्ण दीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' से नत्व हो जाता है ।

* सर्वत्र 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

[लघु०] 'अतिचमू' शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु ! । अतिचम्वै । अतिचम्वाः । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् ।

व्याख्या— 'चमू' शब्द ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है । इस का अर्थ है—सेना । चमूम् अतिक्रान्तः=अतिचमूः 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । जो सेना का अतिक्रमण कर गया हो उसे 'अतिचमू' कहते हैं । 'अतिचमू' शब्द की 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) सूत्र द्वारा नदीसंज्ञा हो जाती है । अतः नदी कार्य अर्थात् सम्बुद्धि में ह्रस्व, ङितों में आट् का आगम, आम् को नुट् आगम और ङि को आम् आदेश ये छः कार्य हो जाते हैं । रूपमाला यथा—

प्रथमा	अतिचमूः †	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
द्वितीया	अतिचमूम्	,,	अतिचमून्
तृतीया	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
चतुर्थी	अतिचम्वै ‡	,,	अतिचमूभ्यः
पञ्चमी	अतिचम्वाः ‡	,,	,,
षष्ठी	,, ‡	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम् ×
सप्तमी	अतिचम्वाम् ✠	,,	अतिचमूषु
सम्बोधन	हे अतिचमु ! *	हे अतिचम्वौ !	हे अतिचम्वः !

† ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ आण्नद्याः आटश्च, इको यणचि।

× ह्रस्वनद्यापो नुट्।

✠ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः आण्नद्याः, आटश्च, इको यणचि।

* अम्बार्थनद्योः, एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः।

[लघु०] खलपूः।

व्याख्या—खलं पुनातीति खलपूः। खल कर्मोपपद 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'खलपू' शब्द निष्पन्न होता है। झाड़ू द्वारा स्थान को शुद्ध करने वाले नौकर को खलपू कहते हैं। 'खलपू' शब्द में ऊकार धातु का अवयव है।

खलपू+स्' यहां ङ्यन्तादि न होने से सुँलोप नहीं होता। रुँत्व विसर्ग हो कर—'खलपूः' बनता है।

'खलपू'+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर दीर्घाज्जसि च (१६२) से इस का निषेध हो जाता है। अब 'इको यणचि (१५) से यण् प्राप्त होने पर 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' के अनुसार धातु होने से उस का बाध कर 'अचि श्नु धातु (१९९) से उवँङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१० ओः सुँपि।६।४।८३॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अचि सुँपि। खलप्वौ, खलप्वः।

अर्थ—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं जिस उवर्ण के, वह उवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिस के ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग उस को यण् हो अजादि सुप् परे होने पर।

व्याख्या—ओः।६।१। अनेकाचः।६।१। असंयोगपूर्वस्य।६।१। [एरनेकाचोऽसंयोग

पूर्वस्य मे] धातो । ६।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नु धातु ' से] सुपि ।७।१। यण् ।१।१। ['इको यण् से] 'ओ' पद 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है— उवर्णस्य । 'धातो' पद की आवृत्ति की जाती है। एक 'धातो' पद 'ओ' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'ओ' से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है। दूसरा 'धातो' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के 'संयोग' अंश के साथ सम्बद्ध होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का 'ओधातो' (उवर्णान्तस्य धातो) यह विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर— उवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ हो जाता है। 'अनेकाच' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। 'असंयोगपूर्वस्य' का 'ए' के साथ सामानाधिकरण्य है। अर्थ —(धातो असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (ओ) जो उवर्ण तदन्त (धातो) जो धातु तदन्त (अनेकाचः) अनेक अचों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो (अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे होने पर। तात्पर्य—अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते उस अनेकाच् अङ्ग का यण् आदेश होता है जिस के अन्त में उवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो।

'एरनेकाच '(२००) सूत्र का विषय इवर्णान्त है और इस का विषय उवर्णान्त धातु है। वह प्रत्येक प्रकार के अजादि प्रत्ययों में यण् करता है और यह केवल अजादि सुप में। शेष सब बातें दोनों में समान हैं। दोनों 'अचि श्नु-- (१९९) के अपवाद हैं।

खलपू + औ यहां 'पू' उवर्णान्त धातु है, इस के उवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। अनेकाच् अङ्ग 'खलपू' है इस से परे 'औ' यह अजादि सुप वर्त्तमान है ही। अतः अलोऽन्त्यपरिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र द्वारा ऊकार का यण्=वकार हो कर— खलप्वौ रूप बना।

स्त्रीलिङ्ग न होने के कारण खलपू शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अतः आट् आदि नदीकार्य नहीं होते। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र० खलपूः	खलप्वौ	खलप्वः	प० खलप्वः	खलपूभ्याम्	खलपूभ्यः
द्वि० खलप्वम्‡	,,	,, ‡	ष० ,,	खलप्वोः	खलप्वाम्
तृ० खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभिः	स० खलप्वि	,,	खलपूषु
च० खलप्वे	,,	खलपूभ्यः	सं० हे खलपूः !	हे खलप्वौ !	हे खलप्वः !

‡ अम् और शस् में परत्व के कारण यण् होजाता है।

[लघु०] एवं सुल्वादयः ।

व्याख्या—'खलपू' शब्द के समान ही 'सुलू' 'उल्लू' आदि शब्दों के रूप होते हैं। सुष्ठु लुनातीति सुलूः (अच्छी प्रकार से काटने वाला)। उत्कृष्टं लुनातीति उल्लूः (उत्कृष्ट रीति से काटने वाला)। 'लूञ् छेदने' (क्र्या० उ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से इन की निष्पत्ति होती है। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। ध्यान रहे कि 'उल्लू' में संयोग धातु का अवयव नहीं उपसर्ग के तकार का मिला कर बना है अतः यण् करने में कोई बाधा नहीं होती। इन दोनों की रूपमाला यथा—

	सुलू				उल्लू	
प्र० सुलूः	सुल्वौ	सुल्वः		प्र० उल्लूः	उल्ल्वौ	उल्ल्वः
द्वि० सुल्वम्	„	„		द्वि० उल्ल्वम्	„	
तृ० सुल्वा	सुलूभ्याम्	सुलूभिः		तृ० उल्ल्वा	उल्लूभ्याम्	उल्लूभिः
च० सुल्वे	„	सुलूभ्यः		च० उल्ल्वे		उल्लूभ्यः
पं० सुल्वः		„		पं० उल्ल्वः		„
ष० „	सुल्वोः	सुल्वाम्		ष० „	उल्ल्वोः	उल्ल्वाम्
स० सुल्वि		सुलूषु		स० उल्ल्वि	„	उल्लूषु
सं० हे सुलूः !	हे सुल्वौ !	हे सुल्वः !		सं० हे उल्लूः !	हे उल्ल्वौ !	हे उल्ल्वः !

[लघु०] स्वभूः । स्वभुवौ । स्वभुवः ।

व्याख्या—स्वस्माद्भवतीति स्वभूः । 'स्व'पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'स्वभू' शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मा को 'स्वभू' कहते हैं।

स्वभू+सुँ=स्वभूः । ङ्यन्तादि न होने से सुँ का लोप नहीं होता।

स्वभू+औ इस दशा में प्रथम 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त है। उस का बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१ २) से निषेध हो गया। पुनः इको यणचि से यण् प्राप्ति, उस का बाध कर 'अचि श्नु' (१९९) से उवँङ् आदेश की प्राप्ति, उस को बाध कर 'ओः सुपि' (२१०) से यण् प्राप्त होता है। इस यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। तब उवँङ् आदेश हो कर 'स्वभुवौ' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार आगे अजादि विभक्तियों में सर्वत्र उवँङ् कर लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र० स्वभूः	स्वभुवौ	स्वभुवः		पं० स्वभुवः	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्यः
द्वि० स्वभुवम्				ष०	स्वभुवोः	स्वभुवाम्
तृ० स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूभिः		स० स्वभुवि		स्वभूषु
च० स्वभुवे		स्वभूभ्यः		सं० हे स्वभूः !	हे स्वभुवौ !	हे स्वभुवः !

इसी प्रकार—स्वयम्भू (ब्रह्मा) आत्मभू (कामदेव) प्रतिभू (जामिन) शब्द होंगे।

[लघु०] वर्षाभू ।

व्याख्या—वर्षासु भवतीति वर्षाभूः (दर्दुर, मेंढक)। वर्षा पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर वर्षाभू शब्द निष्पन्न होता है। यहां अजादियों में 'ओः सुपि' (२१०) द्वारा प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। पर अग्रिमसूत्र से पुनः यण् करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२११ वर्षाभ्वश्च ।६।४।८४॥

अस्य यण् वा स्याद् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि।

अर्थ—अजादि सुप् प्रत्यय पर होने पर वर्षाभू शब्द का यण् हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि श्नु' से] सुपि ।७।१। ['ओः सुपि' से] वर्षाभ्वः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] अर्थ—(अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे रहते (वर्षाभ्वः) वर्षाभू शब्द के स्थान पर (यण्) यण् हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् ऊकार को यण् होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	,,
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वे		वर्षाभूभ्यः
पं०	वर्षाभ्वः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
ष०	"	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
स०	वर्षाभ्वि	,,	वर्षाभूषु
सं०	हे वर्षाभूः!	हे वर्षाभ्वौ!	हे वर्षाभ्वः!

ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि कार्य न होंगे।

[लघु०] दृन्भू ।

व्याख्या—दृन् अव्यय के उपपद होने पर 'भू' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर दृन्भू शब्द निष्पन्न होता है। दृन्=हिंसां भवते=प्राप्नोतीति दृन्भूः। वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृत साहित्य में इस के प्रयोगों के उपलब्ध न होने से इस के अर्थ में बड़ा विवाद है। कई इस का अर्थ सर्पविशेष व वज्र करते हैं, कोई इसे वानर व सूर्यवाची मानते हैं।

अजादि विभक्तियों में 'ओः सुपि' (२१०) से प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। तब अग्रिमवार्त्तिक से पुनः यण् हो जाता है—

[लघु०] वा०—२० दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॥

दृन्भ्वौ। एवं करभूः।

अर्थः—अजादि सुप् परे होने पर दृन् कर और पुनर् पूर्व वाले 'भू' शब्द के स्थान पर यण् आदेश करना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक वर्षाभ्वश्च (२११) सूत्र पर महाभाष्य मे पढ़ा गया है। दृन्भू करभू और पुनर्भू शब्दों के ऊकार को यण् हो अजादि सुप् परे हो तो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

दृन्भू शब्द को इस वार्त्तिक से यथास्थान यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	दृन्भू	दृन्भ्वौ	दृन्भ्वः	पं०	दृन्भ्वः	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभ्यः
द्वि०	दृन्भ्वम्			ष०		दृन्भ्वोः	दृन्भ्वाम्
तृ०	दृन्भ्वा	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभिः	स०	दृन्भ्वि	,,	दृन्भूषु
च०	दृन्भ्वे	,,	दृन्भूभ्यः	सं०	हे दृन्भूः !	हे दृन्भ्वौ !	हे दृन्भ्वः

इसी प्रकार करभू और पुनर्भू शब्दों के रूप बनते हैं। करे भवतीति करभूः (नख= नाखून) पुनर्भवतीति पुनर्भूः (पुनः पैदा होने वाला)। कर और पुनर् के उपपद रहते भू सत्तायाम् (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर करभू और पुनर्भू शब्द निष्पन्न होते हैं। अजादि विभक्तियों में पूर्वोक्त वार्त्तिक से यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

करभू				पुनर्भू			
प्र०	करभूः	करभ्वौ	करभ्वः	प्र०	पुनर्भूः	पुनर्भ्वौ	पुनर्भ्वः
द्वि०	करभ्वम्			द्वि०	पुनर्भ्वम्	,,	,,
तृ०	करभ्वा	करभूभ्याम्	करभूभिः	तृ०	पुनर्भ्वा	पुनर्भूभ्याम्	पुनर्भूभिः
च०	करभ्वे		करभूभ्यः	च०	पुनर्भ्वे		पुनर्भूभ्यः
पं०	करभ्वः		,,	पं०	पुनर्भ्वः	,,	,,
ष०	,,	करभ्वोः	करभ्वाम्	ष०		पुनर्भ्वोः	पुनर्भ्वाम्
स०	करभ्वि		करभूषु	स०	पुनर्भ्वि		पुनर्भूषु
सं०	हे करभूः !	हे करभ्वौ !	हे करभ्वः !	सं०	हे पुनर्भूः !	हे पुनर्भ्वौ !	हे पुनर्भ्वः !

सूचना—पुनः ब्याही हुई स्त्री इस अर्थ में 'पुनर्भू' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है पुंल्लिङ्ग नहीं। स्त्रीलिङ्ग में इस का उच्चारण 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखना चाहिये।

अभ्यास (३१)

(१) 'लुलू+अतुस्=लुलुवतुः पुपू+अतुस्=पुपुवतुः' इत्यादियों में 'ओः सुपि' से यण् क्यों न हो?

(२) खलप्वौ खलप्वः' आदि में 'एरनेकाचः' से यण् क्यों नहीं होता? क्या 'पू' धातु नहीं है?

(३) स्वभू, वर्षाभू, आत्मभू, करभू, खलपू, आलचमू और हूहू शब्दों के द्वितीया तथा सप्तमी के एकवचन में रूप सिद्ध करो।

(४) उवँङ् आदेश 'ओ: सुपि' के यण् का बाधक है या इको यणचि के यण् का? सप्रमाण स्पष्ट करें।

(५) एरनेकाचः सूत्र की अपेक्षा ओ: सुपि सूत्र में क्या विशेषता है?

(६) 'ओ: सुपि' सूत्र का सोदाहरण विवेचन करें।

[यहां दीर्घ ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं]

— ❀ —

अब ऋकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धाता। हे धातः!। धातारौ। धातारः।

व्याख्या— डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उ०) धातु से कर्त्ता में तृन् व तृच् प्रत्यय करने पर 'धातृ' शब्द निष्पन्न होता है। दधातीति धाता धारण पोषण करने के कारण परमात्मा का नाम धातृ है।

'धातृ' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों में क्रोष्टु शब्द के समान रूप बनते हैं।

सुँ में ऋदन्त होने से 'ऋदुशनस्' सूत्र से अनङ् आदेश, अप्तृन्तृच् से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यः से अपृक्त सकार का लोप और न लोप (१८०) से नकार का लोप हो कर 'धाता' रूप बना।

सम्बुद्धि में 'हे धातृ + स्' इस दशा में अनङ् आदेश नहीं होता। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (२०४) से गुण = अर् हो सुँलोप और रेफ को विसर्ग करने से—हे धातः! रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि सम्बुद्धि में निषेध के कारण उपधादीर्घ नहीं होगा।

[लघु०] वा०—२१ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्।

धातॄणाम्।

अर्थ—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में ऋवर्ण से परे भी नकार को णकार आदेश कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक सम्पूर्ण णत्वविधायक सूत्रों का शेष समझना चाहिये अतः प्रत्येक णत्वविधायक सूत्र में इस की प्रवृत्ति होती है। इस से जिस २ व्यवधान या नियम के अधीन रेफ व षकार से परे णत्व करना कहा गया है वहां २ सर्वत्र ऋवर्ण का भी सङ्ग्रह कर लेना चाहिये—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

धातृ + नाम् यहां ऋवर्ण से परे इस वार्त्तिक की सहायता से 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) सूत्र द्वारा नकार को णकार हो कर 'धातॄणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ऋतो ङि०' (२०४) से गुण हो कर 'धातरि' रूप बना।

सुप् में 'आदेश—' (१५०) से षत्व हो 'धातृषु' रूप सिद्ध होता है।

'धातृ' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धाता	धातारौ	धातारः	प०	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
द्वि०	धातारम्	,,	धातॄन्	ष०	,,	धात्रोः	धातॄणाम्
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	स०	धातरि	,,	धातृषु
च०	धात्रे		धातृभ्यः	सं०	हे धातः !	हे धातारौ !	हे धातारः !

निम्न लिखित शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अध्येतृ	पढ़ने वाला	पठितृ	पढ़ने वाला
कथयितृ	कहने वाला	२० पातृ	रक्षक व पीने वाला
कर्त्तृ	करने वाला	पूजयितृ	पूजने वाला
क्षत्तृ	सारथि व द्वारपाल	पोतृ	ऋत्विज विशेष
५ गणयितृ	गिनने वाला	प्रशास्तृ	ऋत्विज व राजा
गन्तृ	जाने वाला	प्रष्टृ	पूछने वाला
छेत्तृ	काटने वाला	२५ बोद्धृ	जानने वाला
जेतृ	जीतने वाला	भर्त्तृ	स्वामी व पति
ज्ञातृ	जानने वाला	भेत्तृ	तोड़ने वाला
१० तरितृ	तैरने वाला	भोक्तृ	खाने वाला
त्वष्टृ	विश्वकर्मा	योद्धृ	युद्ध करने वाला
दातृ	देने वाला	३० रक्षितृ	रक्षा करने वाला
द्रष्टृ	देखने वाला	रचयितृ	रचने वाला
धर्त्तृ	धारण करने वाला	वक्तृ	बोलने वाला
१५ ध्यातृ	ध्यान करने वाला	वसितृ	पहनने वाला
नप्तृ	पोता व दोहता	वस्तृ	रहने वाला
नेतृ	नेता व सञ्चालक	३५ वेत्तृ	जानने वाला
नेष्टृ	सोमयज्ञ कराने वाला ऋत्विज्	वोढृ	उठाने वाला
		शङ्कितृ	शङ्का करने वाला

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शमयितृ	शान्त करने वाला	स्तोतृ	स्तुति करने वाला
शयितृ	सोने वाला	स्थातृ	ठहरने वाला
४० शासितृ	शासन करने वाला	स्नातृ	स्नान करने वाला
श्रोतृ	सुनने वाला	स्मर्तृ	स्मरण करने वाला
सवितृ	सूर्य व प्रेरक	५० स्रष्टृ	पैदा करने वाला
सान्त्वयितृ	तसल्ली देने वाला	हर्तृ	हरने वाला
सोढृ	सहन करने वाला	होतृ ‡	यज्ञ करने वाला
४५ स्खलितृ	स्खलित होने वाला		

[लघु०] एवं नप्त्रादयः ।

व्याख्या—नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों के रूप भी धातृ शब्द के समान होंगे। सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान में अप्तृन्— (२०६) सूत्र से इन की उपधा को दीर्घ हो जायगा।

नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्द औणादिक तृन्नन्त व तृजन्त हैं। उणादियों में तीन सूत्रों द्वारा प्रायः बीस शब्द तृन्नन्त व तृजन्त सिद्ध किये गये हैं। यथा—

१ शस् + तृच् =शस्तृ । [यह ऋत्विज् या भाट की सञ्ज्ञा है ।]
२ शास + तृन्* =शास्तृ । [यह ऋत्विज् या भगवान् बुद्ध की सञ्ज्ञा है ।]
३ क्षद् + तृच्† =क्षत्तृ । [सारथि, द्वारपाल, वैश्या से शूद्र से उत्पन्न अथवा दासीपुत्र जैसे विदुर ।]
४ क्षुद् + तृच् =क्षोत्तृ । [मुसल]
५ प्रशास + तृच् =प्रशास्तृ । [ऋत्विज् व राजा ।]
६ उद् नी + तृच् =उन्नेतृ । [ऋत्विज्]
७ प्रति हृ + तृच् =प्रतिहर्तृ [ऋत्विज्]
८ उद् गा + तृच् =उद्गातृ [यज्ञ में साम का गान करने वाला]

(तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (उणा० २५१))

———०※०———

‡ ध्यान रहे आम् में सब ऋदन्तों को णत्व हो जाता है। अतः चिह्न नहीं लगाया।

* तत्त्वबोधिनीकारा श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनोऽन्ये च उज्ज्वलदत्तप्रभृतयो वृत्तिकृतोऽत्र तृन्प्रत्ययमेवाहुः परं भाष्यमर्मविन्नागेशस्त्वत्र तृचमेवाभिदधाति। दृश्यतामत्रत्यः शेखरः। प्रक्रियाकौमुदीप्रसादटीकाकारः श्रीविट्ठलाचार्योऽप्यत्रानुकूलः।

† क्षदि सौत्रो धातुः। शकलीकरणे भक्षणे चायमिति दीक्षिताः। संवृतावेवेति उज्ज्वलदत्तः।

९ हन् + तृच् = हन्तृ । [चोर व डाकू]
१० मन् + तृच् = मन्तृ । [विद्वान्]

[बहुलम् न्यत्रापि । [उ० २५२]]

—— ० ❀ ० ——

११ नप्तृ [पौत्र दौहित्र । तृन्नन्त व तृजन्त निपातित है ।]
१२ नेष्टृ [ऋत्विग्विशेष । " " " "]
१३ त्वष्टृ [विश्वकर्मा । " " "]
१४ होतृ [ऋत्विज् । " " "]
१५ पोतृ [ऋत्विग्विशेष । " " "]
१६ भ्रातृ [भाई । " " " "]
१७ जामातृ [दामाद । " " " "]
१८ मातृ [माता । " " "]
१९ पितृ [पिता । " " " " "]
२० दुहितृ [लडकी । " " " "]

[नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ (उणा० २५३)]

—— ❀ ० ——

इस प्रकरण में प्रतिप्रस्थातृ, प्रस्तोतृ दस्तृ † शस्तृ और अप्तृ ‡ इतने शब्द अधिक अन्यत्र देखे जाते हैं। उपदेष्टृ और धातृ शब्द का भी यहां उज्ज्वलदत्त ने न जाने किस लिये गिन रखा है। और न जाने श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उस का किस लिये अपनी उणादिवृत्ति में अनुसरण किया है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार धारेश्वर महाराज भोज, दण्डनारायण प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के रचयिता श्रीविट्ठलाचार्य और दुर्गसिंह प्रभृति इन का उल्लेख नहीं करते। यद्यपि ये संज्ञा शब्द हैं तथापि गण में इन के पाठ की कल्पना करना निष्प्रयोजन लोकविरुद्ध और प्रमाण शून्य है।

सूचना—स्वसृ यातृ देवृ ननान्दृ, नृ और सव्येष्टृ ये छः शब्द भी यद्यपि औणादिक हैं तथापि ये ऋप्रत्ययान्त हैं, तृन्नन्त व तृजन्त नहीं। अतः इन के दीर्घ या दीर्घाभाव

---

† दस्ता दयकृत् इति प्रक्रियासर्वस्वे नारायणभट्टः । न क्वाप्यन्यत्राय शब्दोऽवलोक्यते।

‡ महाराज भोजदेव ने आप् ह्रस्वश्च इस प्रकार सूत्र बना कर अप्तृ शब्द सिद्ध किया है। दण्डनारायण ने अपनी वृत्ति में 'अप्तृ का अर्थ यज्ञ किया है। वर्तमान उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में इस का पता नहीं चलता। परन्तु अप्तोर्याम अप्तर्यामन्' आदि शब्दों के देखने से प्रतीत होता है कि यज्ञ अर्थ में इस का कहीं प्रयोग अवश्य हुआ होगा। इसी प्रकार चोर आदि अर्थों में हन्तृ शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

का यहां प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इन में से स्वसृ शब्द का ही सूत्र में ग्रहण है अत उसे ही दीर्घ होगा अन्य किसी शब्द को न होगा।

प्रश्न—यदि नप्तृ नेष्टृ आदि सातों शब्द पूर्वोक्तरीत्या तृन्नन्त व तृजन्त हैं तो इन की उपधा को दीर्घ 'अप् तृन् तृच् स्वसृ' इतने से ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि सूत्र में तृन् और तृच् को दीर्घ कहा ही है। पुन सूत्र में इन के पृथक उल्लेख का क्या कारण है?

उत्तर—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्र में इन के पुन ग्रहण का एक महान् प्रयोजन है। ग्रन्थकार के शब्दों में ही देखिये—

[लघु०] नप्त्रादीनां ग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्। शेष धातृवत्। एवं जामात्रादयः।

अर्थ—नप्तृ आदि तृन्नन्त व तृजन्त शब्दों का ग्रहण व्युत्पत्तिपक्ष में नियम के लिये है। अर्थात् यदि व्युत्पत्तिपक्ष में औणादिक शब्दों को तृन्नन्त व तृजन्त समझा जाय तो नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ क्षत्तृ होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ इन सात शब्दों की उपधा को ही 'अप्तृन्तृच्—' सूत्र से दीर्घ हो अन्य किसी औणादिक तृजन्त तृन्नन्त को दीर्घ न हो।*

व्याख्या—कुछ लोग औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न और कुछ अव्युत्पन्न मानते हैं। अव्युत्पन्न मानने वालों के पक्ष में नप्तृ आदि शब्दों में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है। अत उन के मत में 'अप् तृन् तृच् स्वसृ' इतने सूत्रमात्र से काम नहीं चलता। उन के मत में नप्तृ नेष्टृ आदि शब्दों का दीर्घ विधानार्थ ग्रहण करना आवश्यक है ही।

अब रहे व्युत्पत्तिपक्ष वाले ये लोग औणादिक शब्दों में प्रकृति प्रत्यय, आगम विकार और आदेश आदि सब यथावत् मानते हैं। नप्तृ आदि शब्दों को ये लोग तृन्नन्त व तृजन्त मानते हैं। अत इन के मत में 'अप्तृन्तृच्स्वसृ' इतने मात्र से ही दीर्घ सिद्ध हो सकता है। इस लिये इन के मत में इन शब्दों का सूत्र में ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। इस पर ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि इन का ग्रहण नियम के लिये है। जैसे—

आप ने अपने नौकर को कहा कि—तुम बाज़ार से फल और बेर लाओ। इस से क्या विदित हुआ? यही न, कि आप की दृष्टि में बेर फल नहीं हैं, क्योंकि यदि होते तो आप बेरों को पुन लाने के लिये न कहते।

---

* 'उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां दीर्घश्चेद्? नप्त्रादीनामेव, न तु पित्रादीनाम्'' इति नियमोऽत्र बोध्य।

इन ब्राह्मणों को दक्षिणा दो और वसिष्ठ को भी दे देना । इस से क्या आया ? यही न कि आप की दृष्टि में वसिष्ठ ब्राह्मण नहीं यदि होता तो आप पृथक् निर्देश न करते ।

इन हिन्दुओं को दो २ आने दो और बलदेवसिंह को भी दे देना । इस से क्या आया ? यही न कि आप की दृष्टि में सिख हिन्दु नहीं तभी तो आप बलदेवसिंह का पृथक् निर्देश करते हैं ।

इसी प्रकार पाणिनि जी के— 'तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को दीर्घ हो तथा नप्तृ आदि शब्दों को भी दीर्घ हो' इस वचन से क्या आया ? यही न कि वे यहां तृन्नन्त तृजन्त शब्दों में औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण नहीं मानते अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को ही यहां 'तृन् तृच्' में ग्रहण करते हैं तभी तो औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के दीर्घ के लिये उन्होंने इन का पृथक् उल्लेख किया है ।

तात्पर्य यह है कि नप्तृ नेष्टृ आदि सात औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्द की उपधा को दीर्घ न होगा । सूत्रगत 'तृन् तृच्' से अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण हो कर केवल उन की उपधा को ही दीर्घ होगा ।

ऋकारान्त औणादिक शब्द

उपधादीर्घ हो जाता है ।	उपधादीर्घ नहीं होता ।
१ नप्तृ । २ नेष्टृ । ३ त्वष्टृ । ४ क्षत्तृ । ५ होतृ । ६ पोतृ । ७ प्रशास्तृ । ८ उद्गातृ । ९ स्वसृ । [यद्यपि सूत्र में उद्गातृ का उल्लेख नहीं तथापि भाष्यकार के उद्गातारः (२.१.१पर) प्रयोग से इस को भी दीर्घ हो जाता है ।]	१ शमितृ । २ शास्तृ । ३ ज्ञातृ । ४ उन्नेतृ । ५ प्रतिहर्तृ । ६ हर्तृ । ७ मन्तृ । ८ प्रतिस्थातृ । ९ प्रस्तोतृ । १० [illegible] । ११ शस्तृ । १२ अध्वर्तृ । १३ भ्रातृ । १४ जामातृ । १५ मातृ* । १६ पितृ । १७ दुहितृ । १८ नृ । १९ यातृ । २० [illegible] । २१ ननान्दृ । २२ सव्येष्टृ ।

पितृ (पिता) शब्द का उच्चारण यथा—

* यदि इन शब्दों में कहीं अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त व तृजन्त मानेंगे तो तब दीर्घ हो जायगा । ये अर्थ केवल औणादिकों के लिये ही हैं । यथा—माता (मापने वाला) मातारौ मातारः । हन्ता (मारने वाला) हन्तारौ हन्तारः । मन्ता (मनन करने वाला) मन्तारौ मन्तारः ।

प्र०	पिता	पितरौ	पितर	प	पितु	पितृभ्याम्	पितृभ्य
द्वि०	पितरम्	,,	पितॄन्	ष		पित्रा	पितृणाम्
त०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभि	स	पितरि	,,	पितृषु
च०	पित्र		पितृभ्य	स०	हे पित !	हे पितरौ !	हे पितर !

इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया धातृ शब्द के समान होती है। केवल सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ का अभाव होता है। सु में सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधा दीर्घ हो जाता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त शस्तृ आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं। निदर्शनार्थ भ्रातृ' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	भ्राता	भ्रातरौ	भ्रातर	प०	भ्रातु	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभ्य
द्वि	भ्रातरम्	,	भ्रातॄन्	ष		भ्रात्रा	भ्रातृणाम्
त०	भ्रात्रा	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभि	स	भ्रातरि	,	भ्रातृषु
च०	भ्रात्रे	,,	भ्रातृभ्य	स०	हे भ्रात !	हे भ्रातरौ !	हे भ्रातर !

पूर्वोक्त उपधादीर्घाभाव वाले औणादिक शब्दों में मातृ दुहितृ ननान्दृ और यातृ ये चार शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं अत इन का विवेचन आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में किया जायगा।

अब नृ (मनुष्य) शब्द का वर्णन करते हैं। नृशब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पितृ शब्द के समान होती है। सर्वनामस्थान में इसे उपधादीर्घ नहीं हुआ करता। षष्ठी के बहुवचन में यहां केवल अन्तर हुआ करता है—

'नृ + आम्' इस दशा में ह्रस्व का नुट् का आगम हो कर नृ + नाम्। अब नामि' (१४६) से नित्य दीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र विकल्प करता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१२ नृ च ।६।४।६॥

अस्य नामि वा दीर्घ'। नृणाम्। नॄणाम्।

अर्थ—नाम् परे हो तो नृ' शब्द के ऋकार को विकल्प कर के दीर्घ हो।

व्याख्या—नृ ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये] च इत्यव्ययपदम्। उभयथा इत्यव्ययपदम्। [छन्दस्युभयथा' से] दीर्घ ।१।१। [ढ्लोपे—' से] नामि ।७।१। ['नामि' से] अर्थ—(नामि) नाम् परे होने पर (नृ) नृशब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (दीर्घ) दीर्घ आदेश हो जाता है। अचश्च' (१२२८) परिभाषा द्वारा ऋवर्ण को दीर्घ होगा।

नृ+नाम् यहां प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक दीर्घ हो कर दोनों पक्षों में ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा २१) वार्त्तिक की सहायता से रषाभ्यां नो णः समानपदे (२६७) सूत्र से णत्व हो कर 'नॄणाम्' और 'नृणाम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। नृशब्द की रूपमाला यथा—

णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ) इत्यस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उणा० २४८) इति ऋप्रत्यये, डित्वाट्टेर्लोपे नृशब्दः सिध्यति। नयति कार्याणीति ना=पुरुषो नेता वा।

प्र०	ना	नरौ	नरः	पं०	नुः	नृभ्याम्	नृभ्यः
द्वि०	नरम्	,,	नॄन्	ष०	,,	त्रोः	नॄणाम् नृणाम्
तृ०	त्रा	नृभ्याम्	नृभिः	स०	नरि		नृषु
च०	त्रे	,,	नृभ्यः	सं०	हे नः!	हे नरौ!	हे नरः!

नोट— 'नरो गच्छन्ति' इत्यादि वाक्यों में अकारान्त 'नर' शब्द का प्रयोग नहीं, इसी नृशब्द के प्रथमा के बहुवचन का प्रयोग है अतः वाक्य शुद्ध है।

सूचना—इस शब्द पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

लक्ष्म्या वै जायते भानुः सरस्वत्यापि जायते।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः॥
(भा=कान्तिः, नुः=पुरुषस्य)

अभ्यास (३२)

(१) (क) 'नॄन्' में नकार को णकार क्यों नहीं होता?

(ख) ऋ और लृ शब्दों का उच्चारण लिखो।

(ग) 'धातर्देहि पितरत्र, नगच्छ' इत्यादि में उत्व क्यों न हो?

(घ) 'नुः च' यहां 'नुः' में कौन सी विभक्ति है?

(ङ) औणादिक तृजन्त होने पर भी 'उद्गातृ' को क्यों दीर्घ हो जाता है?

(२) निम्नलिखित शब्दों में कहां २ उपधादीर्घ करना चाहिये और कहां २ नहीं? कारण निर्देश पूर्वक लिखो—

१ श्रोतृ। २ पोतृ। ३ दातृ। ४ नेतृ। ५ प्रशास्तृ। ६ हन्तृ। ७ उद्गातृ। ८ भ्रातृ। ९ सवितृ। १० जामातृ। ११ स्तोतृ। १२ त्वष्टृ। १३ अध्येतृ। १४ ध्यातृ। १५ नृ।

(३) 'नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्' इस पङ्क्ति का भाव स्पष्ट करते हुए यह लिखो कि इस का रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(४) मातृशब्द यदि औणादिक न मान कर अष्टाध्यायी के तृच प्रत्यय से निष्पन्न मान तो क्या अन्तर होगा ?

(५) क्या "प्रवर्धन में भी ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्" वार्त्तिक से णत्व हो जायगा ?

(६) शतृशब्द के सुँ ङस् ङि का क्या रूप बनेगा ?

[यहां ऋदन्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

———

संस्कृतसाहित्य में ॠदन्त ऌदन्त और एदन्त ऐसा कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं जिस का बालकों के लिये वर्णन करना उपयोगी हो अतः ग्रन्थकार ओकारान्त पुल्ँलिङ्ग गो शब्द का वर्णन करते हैं ।

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—२१३ गोतो णित् ।७।१।९०॥

ओकाराद् विहित सर्वनामस्थानं णिद्वत् । गौः, गावौ, गावः ।

अर्थः—ओकारान्त शब्द से विधान किया हुआ सर्वनामस्थान णिद्वत् हो ।

व्याख्या—गोतः ।५।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। [इतोऽत् सर्वनामस्थाने से विभक्तिविपरिणाम कर के] णित् ।१।१। यह अतिदेशसूत्र है, अतः णित् का तात्पर्य होगा—णिद्वत् । अर्थात् जो २ कार्य णित् के होने से होते हैं वे सब सर्वनामस्थान के पर होने से भी हो जाएंगे ।

१ यहां पर कात्यायनजी ने दो वार्त्तिक लिखे हैं । (१) ओतो णिद् इति वाच्यम् । (२) विहितविशेषणञ्च । इन का अभिप्राय यह है कि—यदि केवल गोशब्द से परे ही सर्वनामस्थान णित् हो तो सुद्यो शब्द के—सुद्यौः सुद्यावौ सुद्यावः ये रूप सिद्ध न हो सकेंगे । अतः सूत्र में 'गोतः' पद को हटा उस के स्थान पर 'ओतः' यह सामान्य निर्देश करना ही उचित है । परन्तु केवल उस 'ओतः' से भी पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि तब 'हे भानो + स्' 'हे वायो + स्' इत्यादि स्थानों पर भी णिद्वत् हो कर वृद्धि आदि अनिष्ट प्रसक्त होगा । अतः यहां 'विहितम्' यह भी 'सर्वनामस्थानम्' का विशेषण कर देना चाहिये । 'हे वायो+स्, हे भानो+स्' आदि प्रयोगों में सर्वनामस्थान, ओकारान्त से विधान नहीं किया गया अपितु भानु वायु आदि उकारान्त शब्दों से विधान किया गया है । अतः णिद्वद्भाव न होने से कोई दोष नहीं आता । अर्थः—(गोतः = ओतः) ओकारान्त से (विहितम्, सर्वनामस्थानम्) विधान किया हुआ सर्वनामस्थान (णित्) णिद्वत् होता है ।

'गो+स्' (सुँ) यहां ओकारान्त शब्द 'गो' है इस से विहित सर्वनामस्थान सुँ है । अतः प्रकृतसूत्र से सर्वनामस्थान णिद्वत् हुआ । णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति

(१८२) सूत्र से गो के अन्त्य ओकार को औकार वृद्धि हो कर रुँत्व विसर्ग करने से गौः प्रयोग सिद्ध हुआ।

प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में गो + औ इस दशा में प्रकृतसूत्र से णिद्वत् अचो ञ्णिति (१८२) से औकार वृद्धि और औकार का 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो कर गावौ प्रयोग सिद्ध हुआ।

जस् में भी इसी तरह णिद्वत् वृद्धि और आव् आदेश हो कर 'गावः' रूप बना।

'गो+अम्' यहां पर अमि पूर्वः (१३४) को बाध कर गोतो णित् (२१३) से णिद्वद्भाव प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१४ औतोऽम्शसोः ।६।१।९१॥

औतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः २ इत्यादि।

अर्थः—ओकार से अम् व शस् का अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर आकार एकादेश हो।

व्याख्या—आ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हो जाता है] ओतः ।५।१। अम्शसोः ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। [एकः पूर्वपरयोः यह अधिकृत है।] अर्थः—(ओतः) ओकार से (अम्शसोः) अम् व शस् का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्वपर के स्थान पर (आ) आकार (एकः) एकादेश हो।

'गो + अम्' यहां ओकार से परे अम् का अच् वर्त्तमान है अतः प्रकृतसूत्र से ओकार और अकार के स्थान पर आकार एकादेश हो कर 'गाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'गो+अस्' (शस्) यहां भी प्रकृतसूत्र से आकार एकादेश हो रुँत्व विसर्ग करने से 'गाः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि आकार पूर्वसवर्णदीर्घघटित नहीं अतः 'तस्माच्छसः' (१३७) से सकार को नकार न होगा।

तृतीया और चतुर्थी के एकवचन में एचोऽयवायावः (२२) से अव् आदेश हो कर क्रमशः 'गवा' और 'गवे' बना।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में ङसिङसोश्च (१७३) से पूर्वरूप हो कर गोः सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि पदान्त न होने से पूर्वरूप आदि कार्य नहीं होते। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

गो=बैल (गमेर्डो)

प्र०	गौ	गावौ	गाव	पं०	गो	गाभ्याम्	गोभ्य
द्वि०	गाम्	,	गा	ष०	,	गवो	गवाम्
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभि	स०	गवि	,	गासु
च०	गवे	,	गोभ्य	सं०	हे गौ !	हे गावौ !	हे गाव !

(यहां ओकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

अब ऐकारान्त पुल्ँलिङ्ग रै शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१५ रायो हलि ।७।२।८५॥

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ । रा, रायौ, राय राभ्यामित्यादि ।

अर्थ—हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द के एकार को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—राय ।६।१। आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। हलि पद विभक्तौ' पद का विशेषण है अत तदन्तविधि हो कर हलादौ विभक्तौ' बन जायगा । अर्थ—(हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (राय) रै शब्द के स्थान पर (आ) आकार आदेश होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से ऐकार को आकार होगा ।

रा दाने (अदा० प) धातु से रातेर्डैः (उणा० २२४) सूत्र द्वारा डै प्रत्यय कर टिलोप करने से रै' शब्द निष्पन्न होता है । राति=ददाति श्रेयोऽर्थं वा पात्रेभ्य इति रा । रायते=दीयत इति रा इति वा । धन सूर्य या सुवर्ण को रै कहते हैं ।

सुँ भ्याम् ३ भिस्, भ्यस् २ सुप्—ये आठ हलादि विभक्तियां हैं । इन मे प्रकृतसूत्र से रै को आकार आदेश हो जायगा । अन्यत्र अजादियों में एचोऽयवायाव (२२) से आय आदेश होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	रा	रायौ	राय	पं	राय	राभ्याम्	राभ्य
द्वि०	रायम्			ष०	,,	रायो	रायाम्
तृ०	राया	राभ्याम्	राभि	स०	रायि	,	रासु
च०	राये	,	राभ्य	सं०	हे रा !	हे रायौ !	हे राय !

(यहां ऐकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

[लघु०] ग्लौ । ग्लावौ । ग्लाव । ग्लौभ्याम् इत्यादि ।

व्याख्या—'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प०) धातु से ग्लानुदिभ्या डौ' (उणा० २२३) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय कर टिलोप करने से 'ग्लौ' शब्द निष्पन्न होता है । ग्लायति=कमलस्य हर्षक्षय करोति (अन्तर्भावितण्यर्थं) इति ग्लौ=चन्द्र ।

'ग्लौ' शब्द के औकार को सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो जाता है। हलादि विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। सुप् में केवल षत्व विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र० ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः	प० ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
द्वि० ग्लावम्	,,	,,	ष० ,,	ग्लावोः	ग्लावाम्
तृ० ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः	स० ग्लावि	,,	ग्लौषु
च० ग्लावे	,,	ग्लौभ्यः	सं० हे ग्लौः !	हे ग्लावौ !	हे ग्लावः !

इसी प्रकार 'जनौ' प्रभृति शब्दों के रूप होंगे।

[लघु०] इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां 'अजन्तपुँल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

व्याख्या—'अजन्त' शब्द में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये कुत्व नहीं किया गया। यहां 'अजन्त पुँल्लिङ्ग प्रकरण' समाप्त होता है। इस के अनन्तर 'अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण' आरम्भ किया जायगा।

अभ्यास (३३)

(१) 'गोतो णित्' सूत्र में दोषों की उद्भावना कर के भगवान् कात्यायन के वचनों के अनुसार उन का समाधान करो।

(२) क्या कारण है कि ग्रन्थकार ने ऋदन्त शब्दों के आगे ओदन्त शब्द लिखे हैं?

(३) 'रायो हलि' सूत्र में 'हलि' पद का ग्रहण न करें तो क्या दोष उत्पन्न होगा?

(४) 'औतोऽम्शसोः' सूत्र का पदच्छेद कर यह बताएं कि यह सूत्र ग्लौ शब्द में क्यों प्रवृत्त (?) होता है?

(५) 'गो+अस्' (ङसि व ङस्) यहां 'एचोऽयवायावः' और 'एङः पदान्तादति' सूत्रों में कौन प्रवृत्त (?) होगा? कारण साथ लिखो।

(६) गो, रै और ग्लौ शब्दों का उच्चारण लिखते हुए गाः, गौः, राभ्याम् और ग्लावि प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

(७) 'अजन्ताः' यहां कुत्व क्यों नहीं होता?

(यहां औकारान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

———०❀०———

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणं
पूर्तिमगात्।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१६ औङ आपः ।७।१।१८॥

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः सञ्ज्ञा । रमे । रमाः ।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे औङ को शी आदेश हो । औङ् यह 'औ'कार विभक्ति—औ और औट् की सञ्ज्ञा है ।

व्याख्या—आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का विभक्ति विपरिणाम हो जाता है ।] औङः ।६।१। शी ।१।१। [जसः शी' से] 'आपः' यह 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर आबन्तात् अङ्गात् बन जाता है । अर्थः—(आपः) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (औङः) औङ के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

पाणिनिजी से पूर्ववर्ती आचार्य प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन को 'औङ्' कहते थे । महामुनि पाणिनि ने भी उसी सञ्ज्ञा का अपने शास्त्र में व्यवहार किया है ।

रमा + औ' यहां आबन्त अङ्ग रमा से परे औङ् को शी आदेश हुआ । अब स्थानिवद्भाव से शी में प्रत्ययत्व ला कर प्रत्यय के आदि शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो—रमा+ई । पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'रमे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

रमा+अस्' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है । अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'रमाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

हे रमा + स' यहां सम्बुद्धि में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१७ सम्बुद्धौ च ।७।३।१०६॥

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । 'एङ्ह्रस्वाद्—' इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे !, हे रमे !, हे रमाः ! । रमाम् । रमे । रमाः ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर 'आप' को ए आदेश हो ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । आपः ।६।१। ['आङि चापः' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] एत् ।१।१। ['बहुवचने झल्येत्' से] 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'आपः' से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायगा । अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (आपः=आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के

स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार को एकार आदेश होगा।

हे रमा + स् यहां 'स्' यह सम्बुद्धि परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से आकार को एकार हो गया। तब 'हे रमे + स' इस स्थिति में एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से हे रमे !' रूप सिद्ध हुआ।

सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा के समान प्रक्रिया होती है—हे रमे !, हे रमाः !।

ध्यान रहे कि सम्बोधन के एकवचन और द्विवचन में एक समान रूप बनने पर भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है।

रमा + अम्' इस अवस्था में अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर रमाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् रमे रूप बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में रमा + अस' (शस्)। इस स्थिति में दीर्घ से परे जस् व इच् वर्तमान न होने से 'नादिचि' (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध न हुआ। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'रमाः' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) सूत्र पुंल्लिङ्ग में ही शस् के सकार को नकार आदेश करता है अन्यत्र नहीं अतः एव यहां स्त्रीलिङ्ग में उस की प्रवृत्ति न होगी। एवम् आगे भी इस प्रकरण में सर्वत्र जान लेना चाहिये।

रमा + आ (टा) यहां सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१८ आङि चापः ।७।३।१०५॥

आङि ओसि चाप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

अर्थः—आङ् अथवा ओस् परे हो तो 'आप' को 'ए' आदेश हो।

व्याख्या—आङि ।७।१। ओसि ।७।१। ['ओसि च' से] च इत्यव्ययपदम्। आपः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] एत् ।१।१। [बहुवचने झल्येत्' से] आपः' यह 'अङ्गस्य' पद का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायगा। अर्थः— (आङि) आङ (च) अथवा (ओसि) ओस् परे होने पर (आपः =आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार के स्थान पर ही एकार आदेश होगा।

'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्य 'आङ्' कहते हैं—यह पीछे (१७१ सूत्र पर) स्पष्ट हो चुका है।

'रमा + आ' इस दशा में आङ् परे रहने पर आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार हुआ। तब 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र से एकार को अय् हो कर 'रमया' रूप सिद्ध हुआ।

'रमा + भ्याम्'=रमाभ्याम्। 'रमा + भिस्=रमाभिः'। यहां ह्रस्व अकार से परे न होने के कारण 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हुआ।

'रमा + ए' (ङे) यहां वृद्धि एकादेश के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१६ याडापः ।७।३।११३॥

आपो ङितो याट्। वृद्धिः—रमायै। रमाभ्याम् २। रमाभ्यः २। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचनों को 'याट्' आगम हो।

व्याख्या—याट् ।१।१। आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से] **अर्थः**—(आपः=आबन्तात्) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङिद्वचन का अवयव (याट्) याट् हो। याट् में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः उस का लोप हो जाता है। टित् होने से याट् ङिद्वचनों का आद्यवयव होता है।

रमा + ए इस अवस्था में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' आगम हुआ। तब 'रमा+या ए' इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'रमायै' रूप सिद्ध हुआ।*

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'रमा+अस्' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से याट् आगम हो 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'रमायाः' रूप बनता है।

षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में 'रमा + ओस्' इस दशा में 'आङि चापः' (२१८) सूत्र से मकारोत्तर आकार को एकार हो अय् आदेश करने से 'रमयोः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'रमा + आम्' इस अवस्था में आबन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् आगम तथा 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से नकार को णकार हो कर 'रमाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।‡

---

* ध्यान रहे कि यहां आगम 'याट्' है आट् नहीं, अतः 'आटश्च' (१९७) प्रवृत्त न होगा। 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः'।

‡ रमा+नाम् इत्यत्र 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते' इति परिभाषया णत्वस्यापि दोष इति कश्चिदाह। वस्तुतस्तु नैतादृशेषु मुधा सूत्रप्रवृत्तिः। अत्र निरतरभियाऽस्माभिर्नैतन् प्रपञ्च्यते। सिद्धान्तकौमुदी-व्याख्यावसरे स्फुटीकरिष्यते।

सप्तमी के एकवचन में 'रमा+ङि' इस अवस्था में ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (१६८) सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश हो आम् में स्थानिवद्भाव से ङित्व ला कर 'याडापः' (२१६) से याट् का आगम हो जाता है। तब 'रमा+या आम्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने से रमायाम् प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'रमा+सु' इस दशा में इण् व कवर्ग न होने से षत्व नहीं होता—रमासु। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	रमा	रमे	रमाः	पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	,,	,,	ष०	,,	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	,,	रमासु
च०	रमायै	,,	रमाभ्यः	सं०	हे रमे!	हे रमे!	हे रमाः!

[लघु०] एवं दुर्गाम्बिकादयः।

अर्थः—इसी प्रकार सभी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—दुर्गा, अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—हम बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। इन का उच्चारण रमावत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले स्थानों में णत्वविधि जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अङ्गना	स्त्री	अर्चा	पूजा, मूर्त्ति	आशा	दिशा, उम्मेद
अचला	पृथ्वी	अवस्था	हालत	आस्था	पूज्यबुद्धि
अजा	बकरी	अविद्या	अज्ञान	इच्छा	चाह
अट्टालिका	अटारी	असूया	परगुणों में दोष लगाना	२५ इज्या	यज्ञ
५ अधित्यका	पर्वत के ऊपर की भूमि			इन्दिरा*	लक्ष्मी
		१५ अहिंसा	हिंसा न करना	ईप्सा	पाने की इच्छा
अनामिका	कनिष्ठा के साथ वाली अङ्गुली	आकाङ्क्षा*	इच्छा	ईर्ष्या*	डाह
		आख्या	नाम	ईहा	इच्छा, चेष्टा
अनित्यता	नश्वरता	आज्ञा	हुक्म	३० उग्रता	भयानकता
अनुज्ञा	आज्ञा	आत्मजा	पुत्री	उत्कण्ठा	प्रबल इच्छा
अमावस्या	अमावस	२ आपगा	नदी	उपकार्या*	तम्बू
१ अयोध्या	प्रसिद्ध नगर	आशङ्का	शक	उपमा	सादृश्य

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
उपत्यका	पर्वत के समीप	६०क्षुधा	भूख	छाया	छाया
	की भूमि	खेला	खेल	छिक्का	छींक
३५उपेक्षा*	लापरवाही	गङ्गा	प्रसिद्ध नदी	छुरिका*	छुरी
उमा	पार्वती	गदा	गदा	९०जटा	जटा
उर्वरा*	उपजाऊ भूमि	गवेषणा	खोज तलाश	जडता	मूर्खता
उषा*	प्रभात	६५गुञ्जा	रत्ती	जनता	पबलिक
एला	इलायची	गुटिका	गोली	जलौका	जोंक
४० कथा	कहानी	गुडाका	निद्रा	जाया	स्त्री
कनीनिका	नेत्र पुतली	गुहा	गुफा	९५जिज्ञासा	ज्ञान की इच्छा
कन्था	गोदड़ी	गोशाला	गौओं का स्थान	जिह्वा	जीभ
कन्या	क्वारी लड़की	७०ग्रीवा*	गर्दन	जीविका	गुज़ारा
कपर्दिका	कौड़ी	घटा	मेघों व हाथियों	जुगुप्सा	निन्दा
४५कला	चन्द्रकला आदि		का समूह	ज्या	धनुष डोरी
कल्पना	रचना	घण्टिका	छोटी घण्टी	१००झञ्झा	तूफ़ान
कशा	चाबुक	घृणा	दया अरुचि	तन्द्रा*	ऊंघना
कस्तूरिका*	कस्तूरी	घोषणा	ढिंढोरा	तनया	पुत्री
कान्ता	मनोहरा	७५चन्द्रिका*	चान्दनी	तपस्या	तपस्या
५० काष्ठा	दिशा, चरम	चपला	विद्युत्	तमिस्रा*	अन्धेरी रात
	सीमा	चर्चा	लेप विचार	१०५तारा	बाली की पत्नी
कुत्सा	निन्दा	चर्या*	चालचलन	तितिक्षा*	सहनशीलता
कुलटा	व्यभिचारिणी	चिकित्सा	इलाज	तुला	तराजू
कुल्या	नहर	८०चिकीर्षा*	करने की इच्छा	त्रिपथगा	गङ्गा
कृपा*	दया	चिता	चिता	त्रियामा*	रात्रि
५५केका	मयूर-वाणी	चिन्ता	फ़िकर	११०त्रेता	त्रेतायुग
कौशल्या	राममाता	चूडा	चोटी	दक्षिणा‡	यज्ञान्त में दान
क्षपा*	रात्रि	चेतना	समझ, ज्ञान	दया	रहम
क्षमा*	माफ़ी	८५चेष्टा	हरकत	दशा	हालत
क्षमा*	पृथ्वी	छटा	चमक	दंष्ट्रा*	दाढ़

‡ दिशावाची दक्षिणा शब्द का उच्चारण तो सर्वा शब्दवत् होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
११५दारा*	स्त्री†	निष्ठा	स्थिति विश्वास	प्रतिभा	प्रत्युत्पन्न बुद्धि
दीर्घिका*	बावली	नौका	किश्ती	प्रतिमा	मूर्त्ति, सदृशता
दुर्गा*	पार्वती	पताका	झण्डा	प्रतिष्ठा	इज्जत
दूषिका*	नेत्रों का मल	पतिव्रता	पतिव्रता	१५०प्रभा*	दीप्ति
देवता	इन्द्र आदि	१३५पद्मा	लक्ष्मी	प्रसन्नता	खुशी
१२०दोला	पालकी पींग	परम्परा*	सिलसिला	प्रसूता	प्रसूत हुई
धरा*	पृथ्वी	परिचर्या*	सेवा	प्रहेलिका	पहेली
धारणा	विचार	परीक्षा*	जांच	बाधा	रुकावट
धारा*	धार	पाठशाला	विद्यालय	१५५भाषा*	बोली
ध्वजा‡	ध्वजवती सेना	१४० पिङ्गला	एक नाडी	भुजा+	बाहु
१२५नवोढा	नवविवाहिता	पिपासा	प्यास	भ्रातृजाया	भाई की पत्नी
नासा	नासिका	पिपीलिका	च्योंटी	मज्जा	हड्डियों का सार
नित्यता	सदा होना	पीडा	दुःख	मञ्जूषा*	पेटी सन्दूक
निद्रा*	नींद	पूर्णिमा	पूर्णमासी	१६०मथुरा*	प्रसिद्ध नगरी
निन्दा	शिकायत	१४५प्रतिज्ञा	प्रण	मदिरा*	शराब
१३ निशा	रात्रि हल्दी	प्रतिपदा	परवा तिथि	मन्दुरा*	अश्वशाला

† संस्कृतसाहित्य में स्त्रीवाची दार शब्द ही बहुधा प्रयुक्त होता है। तब यह अदन्त पुल्लिङ्ग तथा नित्यबहुवचनान्त ही हुआ करता है। यथा—

'आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥
[महाभारत १।१५६।२७।]

दशरथदारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः। [उत्तररामचरित ४ अङ्क]

'एते वयममी दाराः।' [कुमार ६।६३।]

परन्तु यह कहीं २ आबन्त भी मिलता है। तब यह बहुवचनान्त नहीं होता। यथा—

'क्रोडा हारा तथा दारा आप एते यथाक्रमम्। क्रोडे हारे च दारेषु शब्दाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥'

श्रीमद्भागवत ७.१४.११ में एकवचनान्त दार शब्द प्रयुक्त भी हुआ है। यथा—

"अप्येकाम् आत्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यथा।

श्रीहेमचन्द्राचार्य 'दार' शब्द को भी एकवचनान्त मानते हैं। उन्हों ने किसी ग्रन्थ का प्रयोग भी उद्धृत किया है। यथा—

"धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यं कुर्वीत" इति।

‡ पताका अर्थ में 'ध्वज' शब्द अदन्त होता है और तब वह प्रायः पुल्लिङ्ग होता है।

+ यह शब्द प्रायः अदन्त पुल्लिङ्ग ही प्रयुक्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
मरुमरीचिका	मृगतृष्णा	१९०लालसा	अभिलाषा	शकुन्तला	दुष्यन्त पत्नी
माया	प्रकृति, छल	लाला	लार	२२०शङ्का	शक
१६५माला	माला	लिप्सा	लाभेच्छा	शय्या	शयनस्थान
मुद्रा*	मोहर	लीला	क्रीडा	शर्करा*	शक्कर
मूषा*	कुठाली	लेखा	रेखा	शलाका	सलाई
मृत्सा	अच्छी मट्टी	१९५वडवा	घोडी	शाखा	टहनी
मृत्स्ना	अच्छी मट्टी	वनिता	स्त्री	२२५शारदा	सरस्वती
१७०मृद्वीका	द्राक्षा	वन्ध्या	बान्झ	शाला	घर
मेखला	कमरबन्द	वरटा	हस का मादा	शिक्षा*	उपदेश
मेना	हिमाचल पत्नी	वर्त्तिका	बटेर	शिखा	चोटी
यवनिका	पर्दा	२००वसा	चरबी	शिञ्जा	भूषणों का शब्द
यातना	तीव्र वेदना	वसुधा	पृथ्वी	२३०शिला	पत्थर
१७५यात्रा*	प्रस्थान	वाटिका	फुलबगिया	शिवा	दुर्गा गीदडी
रक्षा*	पालना	वात्या	आंधी	शिबिका	पालकी
रचना	बनाना कृति	वामा	सुन्दरी	शोभा	चमक
रजस्वला	मासिक धर्म	२०५वाराङ्गना	वेश्या	श्रद्धा	विश्वास
	वती स्त्री	वार्त्ता	व्यापार, सवाद	२३५श्लाघा	प्रशसा
रथ्या	गली	वालुका	रेत	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१८०रसना	जीभ	विचिकित्सा	सशय	सञ्ज्ञा	नाम
राका*	पूर्णमासी	विजया	भाग	सटा	सिंह की ग्रीवा
राजिका	राई	२१०विद्या	विद्या		के बाल
राधा	प्रसिद्ध गोपी	विधवा	पतिरहिता	सत्क्रिया*	सत्कार
रुजा	रोग, पीडा	विसूचिका	हैज़ा रोग	२४०सधवा	जीवितभर्तृका
१८५रेखा*	लकीर	विष्ठा	टट्टी मल	सन्ध्या	साञ्झ
रेणुका	परशुराममाता	वीणा	वाद्यविशेष	सपर्या*	सेवा
लक्षणा	शब्द शक्ति	२१५वेदना	दुःख	सभा	सभा
	विशेष	वेश्या	पण्य स्त्री	समज्ञा	यश
लता	बेल	व्यथा	दुःख	२४५समस्या	समस्यापूर्त्यर्थं
लाक्षा*	लाख	व्यवस्था	नियम		श्लोकपाद

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
सरघा*	मधुमक्खी	सुधा	अमृत	२६०स्वतन्त्रता	आज़ादी
सरटा	छिपकली	सुरा*	शराब	हरिद्रा*	हल्दी
सहायता	मदद	२५५सुषमा*	बहुत शोभा	हिक्का	हिचकी
सहिष्णुता	सहनशीलता	सेना	फौज	हिमाद्रिजा	पार्वती
२५ सास्ना	गलकम्बल	सेवा	सेवा	हिमाद्रि	
सीमा †	हद	सोदर्या*	सगी बहिन	तनया	पार्वती
सुता	लड़की	स्पर्धा	बराबरी करना	२६५हेषा*	हिनहिनाहट

२६६—होरा*=एक घण्टा।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग में 'रमा' शब्द की अपेक्षा सर्वनामशब्दों तथा कुछ अन्य शब्दों में थोड़ा अन्तर पड़ता है अब वह बताया जाता है। प्रथम सर्वनामशब्दों का वर्णन करते हैं।

'सर्व' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न होता है। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा × से इस की भी सर्वत्र सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है।

ङित् विभक्तियों और आम् को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में इस का 'रमा' शब्द वत् उच्चारण होता है।

'सर्वा + ए' (ङे)। यहां 'याडापः' (२१९) द्वारा याट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२० सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च।७।३।११४॥

---

† यह शब्द नकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी होता है।

× 'युवा खलति-पलित-वलिन-जरतीभिः' (२।१।६७) इस सूत्र द्वारा युवन् शब्द का 'खलति, पलित, वलिन, जरती' इन समानाधिकरण शब्दों के साथ कर्मधारयसमास बताया गया है। इन शब्दों में 'जरती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'जरती' शब्द का 'युवन्' इस पुंलिङ्ग के साथ तब तक समानाधिकरण नहीं हो सकता जब तक 'युवन्' को 'युवति' न बना दिया जाय। इस प्रकार 'जरती' शब्द के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि महामुनि पाणिनि—युवन् के ग्रहण से 'युवति' आदि स्त्रीलिङ्गों का भी ग्रहण चाहते हैं। अतएव परिभाषा निष्पन्न होती है—

"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्।"

अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण होने पर उस प्रातिपदिक के विशेष लिङ्गों का भी ग्रहण हो जाता है। यथा—'युवन्' के ग्रहण में 'युवति' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार सर्वनामसञ्ज्ञा करते समय सर्वादिगण में सर्वा आदि स्त्रीलिङ्गों का भी समावेश समझ लेना चाहिए। इस परिभाषा का सङ्क्षिप्त नाम लिङ्गविशिष्टपरिभाषा है।

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङित' स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्वः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । सर्वासाम् । सर्वस्याम । शेष रमावत् ।

अर्थ—आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों को स्याट का आगम हो और साथ ही आबन्त अङ्ग के आप् को ह्रस्व भी हो ।

व्याख्या—आप ।५।१। [याडाप ' से] सर्वनाम्न ।५।१। ङित ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्तिविपरिणाम कर के] स्याट् ।१।१। ह्रस्व ।१।१। [सूत्रपाठे तु—'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे झयो होऽन्यतरस्याम्' इति पूर्वसवर्णत्वे च कृते स्याड्ढ्रस्व ' इति प्रयोग प्रयुज्यते ।] च इत्यव्ययपदम् । सर्वनाम्न ' का विशेषण होने से आप से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तात्' बन जाता है । अर्थ करते समय इस की आवृत्ति की जाती है । अर्थ—(आप = आबन्तात्) आब त (सर्वनाम्न) सर्वनाम से परे (ङित) ङित् वचनों का अवयव (स्याट्) 'स्याट्' हो जाता है (च) और साथ ही (आप = आबन्तस्य) आबन्त के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व आदेश हो जाता है ।

ङे ङसि ङस, ङि—ये चार ङित् विभक्तिया हैं इन में याट का आगम प्राप्त था इस सूत्र से स्याट का आगम विधान किया जाता है । अत यह सूत्र याडाप ' (२१६) सूत्र का अपवाद है । स्याट्' में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अत टित् होने से ङित् प्रत्यय का आद्यवयव होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा मे आबन्त के अन्त्य आकार को ह्रस्व होता है ।

सर्वा+ए' (ङे) यहा प्रकृतसूत्र से 'स्याट' का आगम तथा आप को ह्रस्व हो कर 'सर्व + स्या ए हुआ । अब वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर सर्वस्यै प्रयोग सिद्ध होता है ।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में सर्वा + अस् (ङसिँ व ङस) इस अवस्था में स्याट का आगम और आप का ह्रस्व हो जाता है । तब सवर्णदीर्घ करने पर सर्वस्या प्रयोग निष्पन्न होता है ।

षष्ठी के बहुवचन में सर्वा + आम्' इस स्थिति में 'आमि सर्वनाम्न सुट (१५५) से सुट् आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से सर्वासाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ङि' में 'सर्वा + ङि' इस दशा में ङेराम्नद्याम्नीभ्य ' (१६८) से ङि को आम् आदेश और प्रकृतसूत्र से स्याट का आगम और आप को ह्रस्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से सर्वस्याम् रूप बनता है ।

सर्वा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वा	प०	सर्वस्या	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्य
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,	ष०	,,	सर्वयो	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभि	स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्य	सं०	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वा !

[लघु०] एव विश्वादय आबन्ता' ।

अर्थ—इसी प्रकार विश्वा' आदि आबन्त सर्वनामों की प्रक्रिया भी जान लेनी चाहिये।

व्याख्या—निम्नलिखित आबन्त सर्वनामों के रूप 'सर्वा' शब्दवत् होते हैं—

१ विश्वा । २ उभा* । ३ कतरा† । ४ कतमा । ५ यतरा । ६ यतमा । ७ ततरा । ८ ततमा । ९ एकतरा । १० एकतमा । ११ अन्या । १२ अन्यतरा‡ । १३ इतरा । १४ त्वा । १५ नेमा× । १६ समा+ । १७ सिमा । १८ पूर्वा— । १९ परा । २० अवरा ।

---

* उभा' शब्द सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है । अत यहां इस में कोई सर्वनामकार्य नहीं होता । अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' ।

'उभय शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप् प्रत्यय नहीं होता किन्तु गौरादिगण में पाठ होने के कारण अथवा तयप्प्रत्ययान्त होने से 'टिड्ढाणञ्— (१२१७) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो कर 'उभयी शब्द निष्पन्न होता है । इस का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता उच्चारण 'नदी शब्दवत् होता है । ''उभयीं सिद्धिमुभाववापतु ' (रघुवंश ८ २३) ।

† 'कतरा आदि आठ शब्द डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त हैं । इन का पीछे (१५१) सूत्र पर स्पष्टीकरण कर चुके हैं ।

‡ इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिए । 'अन्य शब्द से डतर और डतम प्रत्ययों का विधान नहीं । अन्यतर और अन्यतम शब्द स्वतन्त्र अव्युत्पन्न हैं । इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है, दूसरा नहीं । अत 'अन्यतमा शब्द का रमा शब्दवत् उच्चारण होता है ।

× 'अर्ध अर्थ में ही इस की सर्वनामता इष्ट है, अन्यथा 'रमा शब्दवत् उच्चारण होगा । 'प्रथमचरम—' (१६०) सूत्र का स्त्रीलिङ्ग में कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ।

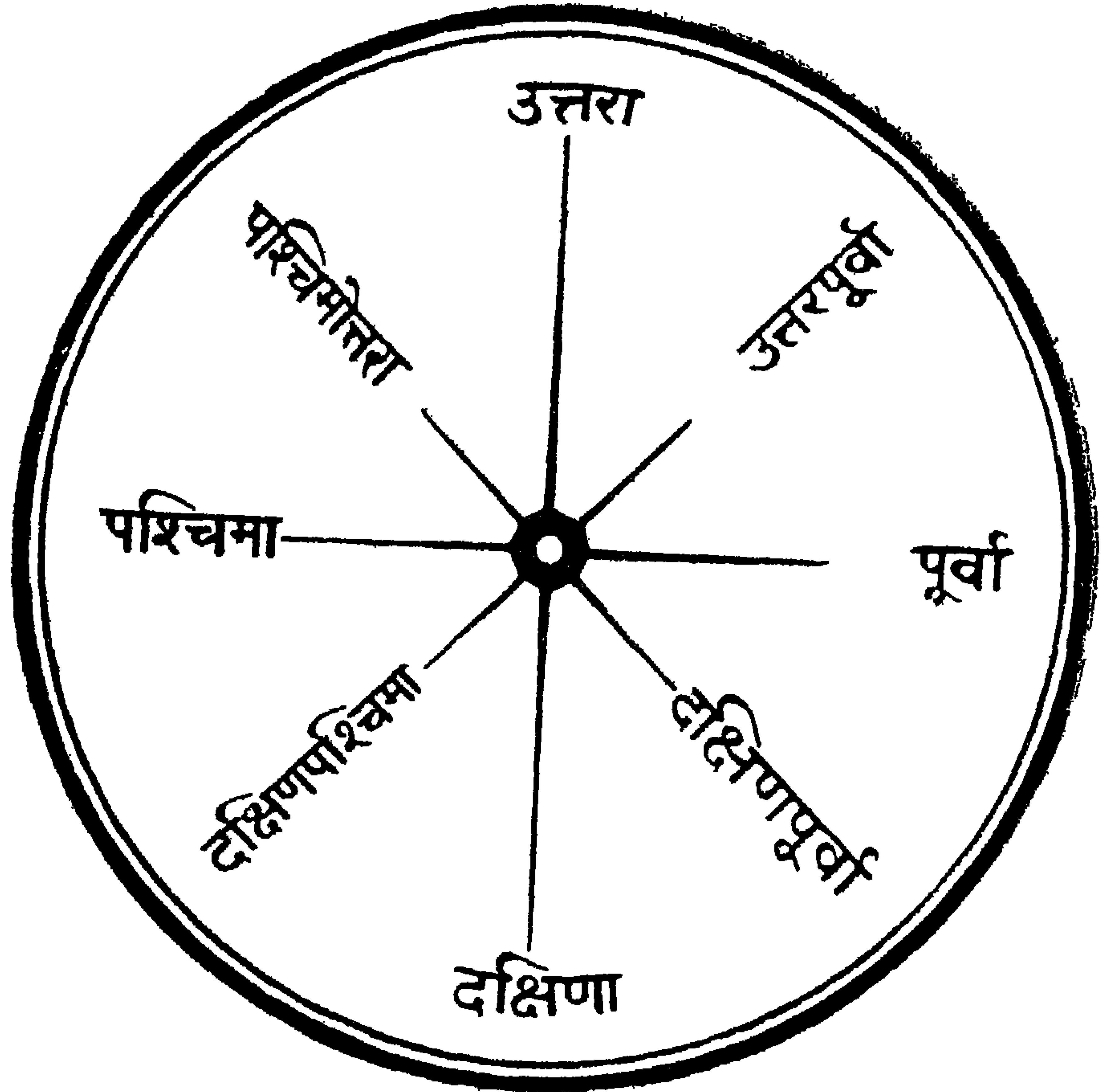
+ सर्व अर्थ में ही सर्वनामता इष्ट है । 'तुल्य' अर्थ में तो 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होगा ।

— 'पूर्वा आदि नौ शब्दों का उच्चारण सर्वावत् ही होता है, कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता । यद्यपि जस् में इन की सर्वनामसञ्ज्ञा १५६, १५७, १५८ सूत्रों से विकल्प कर के होती है, तथापि इस से यहां स्त्रीलिङ्ग में कोई भेद नहीं पड़ता क्योंकि यहां अदन्त न होने से 'जस शी' (१५२) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता । ध्यान रहे कि 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा (१५६) सूत्र ङसि और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं करता किन्तु स्मात् और स्मिन् आदेशों का ही विकल्प करता है । सर्वनामसञ्ज्ञा तो

२१ दक्षिणा। २२ उत्तरा। २३ अपरा। २४ अधरा। २५ स्वा। २६ अन्तरा। २७ एका *।

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर् अन्तराला दिक्=उत्तरपूर्वा‡। 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२.२.२६) इति बहुव्रीहिसमास, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्भाव।

१ पूर्व, २ पश्चिम, ३ उत्तर और ४ दक्षिण ये चार दिशाएं होती हैं। दो दिशाओं के बीच में आने वाला कोना 'उपदिशा' कहलाता है। इस प्रकार उपदिशाएं भी चार हो जाती हैं। यथा—



उत्तर और पूर्व दिशा की मध्यवर्ती उपदिशा 'उत्तरपूर्वा' कहलाती है। 'उत्तरपूर्वा' शब्द की प्रथम तीन विभक्तियों में रमावत् प्रक्रिया होती है।

—इन में भी नित्य बनी रहती है। अतएव 'पूर्वस्यां, पूर्वस्याम्' आदि प्रयोगों में सर्वनामतामूलक स्याट् आदि कार्य करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। पाणिनि की बुद्धिमत्ता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

* सङ्ख्यावाची 'एक' शब्द एकवचनान्त ही प्रयुक्त होगा। अन्य, मुख्य आदि अर्थों में इस का सब वचनों में उच्चारण होगा।

‡ प्रायः सब वैयाकरण यहां 'उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्' इस प्रकार विग्रह करते हैं। परन्तु बालकों के लिए यह विग्रह कुछ कठिन है, क्योंकि वे 'यद् अन्तरालम्' इस नपुंसक का 'उत्तरपूर्वा' इस स्त्रीलिङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं समझ सकते। अतः उन के सौकर्यार्थ उपयुक्त नवीन विग्रह रखा गया है।

चतुर्थी के एकवचन में उत्तरपूर्वा+ए (ङे) इस स्थिति में 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा होने के कारण 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व नित्य प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२२१ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ।१।१।२७।

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै।

अर्थः—दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में सर्वादि विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—दिक्समासे ।७।१। बहुव्रीहौ ।७।१। सर्वादीनि ।१।३। विभाषा ।१।१। सर्वनामानि ।१।३। [सर्वादीनि सर्वनामानि से] समास—दिशां समासः = दिक्समासः षष्ठीतत्पुरुष । अर्थ—(दिक्समासे बहुव्रीहौ) दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में (सर्वादीनि) सर्वादिगणपठित शब्द (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

दिशाओं का बहुव्रीहिसमास 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२ २ २६) सूत्र से विधान किया जाता है। यहां उसी का ग्रहण अभीष्ट है।

'उत्तरपूर्वा' शब्द में दिशाओं का बहुव्रीहिसमास हुआ है अतः प्रकृतसूत्र से इस की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होगी। सर्वनामसञ्ज्ञापक्ष में सर्वावत् स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व आदि कार्य होंगे। सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में रमावत् याट् का आगम आदि कार्य होंगे। आम् में सर्वनामपक्ष में सुट् आगम और तदभावपक्ष में नुट् आगम विशेष होगा। रूपमाला यथा—

प्रथमा	उत्तरपूर्वा	उत्तरपूर्वे	उत्तरपूर्वाः
द्वितीया	उत्तरपूर्वाम्	„	„
तृतीया	उत्तरपूर्वया	उत्तरपूर्वाभ्याम्	उत्तरपूर्वाभिः
चतुर्थी	उत्तरपूर्वस्यै—पूर्वायै	„	उत्तरपूर्वाभ्यः
पञ्चमी	उत्तरपूर्वस्याः—पूर्वायाः	„	„
षष्ठी	„ „	उत्तरपूर्वयोः	उत्तरपूर्वासाम्—पूर्वाणाम्
सप्तमी	उत्तरपूर्वस्याम्—पूर्वायाम्	„	उत्तरपूर्वासु
सम्बोधन	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वाः !

इसी प्रकार—दक्षिणपूर्वा, पूर्वोत्तरा पश्चिमोत्तरा, पश्चिमदक्षिणा, पूर्वदक्षिणा आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं* ।

[लघु०] तीयस्येति वा सञ्ज्ञा । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । एवं तृतीया ।

व्याख्या—'तीयस्य ङित्सु वा' (वा० १९) द्वारा तीयप्रत्ययान्त द्वितीया (दूसरी) और तृतीया (तीसरी) शब्द केवल ङित् वचनों में ही विकल्प से सर्वनाम सञ्ज्ञक होते हैं । अतः 'ङे, ङसि ङस, ङि' इन चार विभक्तियों में दो २ रूप बनते हैं अर्थात् जहां सर्वनामसञ्ज्ञा होती है वहां 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है । सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में 'याडापः' (२१९) से याट् का आगम हो जाता है । इस प्रकार ङिद्वचनों में दो २ रूप बनते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयाम्	,,	,,
तृ०	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
च०	द्वितीयस्यै द्वितीयायै	,,	द्वितीयाभ्यः
पं०	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	,,	,,
ष०	,, ,,	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्याम् द्वितीयायाम्	,,	द्वितीयासु
सं०	हे द्वितीये !	हे द्वितीये !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार तृतीया शब्द का उच्चारण होता है ।

ध्यान रहे कि 'तीयस्य ङित्सु वा' द्वारा आम् में सर्वनामता नहीं होती अतः पक्ष में सुट् का आगम नहीं होता । उत्तरपूर्वा और द्वितीया के उच्चारण में यही अन्तर है ।

[लघु०] 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वः—हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल ! ।

व्याख्या—अम्बा, अक्का अल्ला आदि शब्दों का अर्थ 'माता' पर्याय है । इन की प्रक्रिया रमाशब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि में ही कुछ विशेष है । सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योः—' (१९२) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) से सुलोप हो जाता है । इस प्रकार 'हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल !' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

---

* 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र द्वारा होने वाले बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता । अतएव—"दक्षिणपूर्वा, पूर्वदक्षिणा । पश्चिमदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा उत्तरपश्चिमा । उत्तरपूर्वा, पूर्वोत्तरा । इत्यादि रूप काशिका (२.२.२६) में दिए गये हैं । "नक्षत्रत्रितयं पादमाश्रितं पूर्वदक्षिणम्" इत्यादि मार्कण्डेयपुराण (५८.२०) आदि के वचन भी इस में प्रमाण हैं ।

सूचना—ध्यान रहे कि महाभाष्य में दो अच् वाले अम्बार्थकों को ही ह्रस्व करना बताया है। अम्बाडा अम्बाला, अम्बिका आदि शब्द दो अच वाले नहीं अपितु दो से अधिक अचों वाले हैं अतः अम्बार्थक होने पर भी इन का ह्रस्व न होगा। हे अम्बाडे ! हे अम्बाले ! हे अम्बिके ! इत्यादिप्रकारेण रूप बनेंगे। दृश्यता (७ ३ १०७) सूत्रस्थं महाभाष्यम्— अम्बार्थ द्व्यच इति इति। सिद्धान्तकौमुद्या तु 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न इति वार्त्तिकम्पठितम् तदपि भाष्यानुसारि। पर सरल पन्थास्तु भाष्योक्त एव।

अम्बा शब्द का रूपमाला यथा—

प्र०	अम्बा	अम्बे	अम्बाः	प०	अम्बायाः	अम्बाभ्याम्	अम्बाभ्यः
द्वि०	अम्बाम्			ष०	,,	अम्बयोः	अम्बानाम्
तृ०	अम्बया	अम्बाभ्याम्	अम्बाभिः	स०	अम्बायाम्		अम्बासु
च०	अम्बायै	,,	अम्बाभ्यः	स०	हे अम्ब !	हे अम्बे !	हे अम्बाः !

इसी प्रकार—अक्का, अल्ला आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—'अल्ला' शब्द मुसलमानों ने बेतरह पकड रक्खा है अम्बा अल्ला आदि शब्द दुर्गा (शक्ति) के माने जाते हैं। इसलिये सम्भव है कि मुसलमान शाक्त हिन्दुओं से निकले हों और कालक्रम से आचारादिभिन्नता के कारण हम से पृथक् हो गये हों—इस में आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार ईसाइयों का गिर्जाघर भी शायद 'गिरिजा गृह' ही हो वे भी शाक्तों से निकले हों।

[लघु०] जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्।

व्याख्या—'जृष् वयोहानौ' (दिवा० परस्मै०) धातु से 'स्त्रियाम्' (३ ३ ९४) के अधिकार में 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३ ३ १०४) सूत्र से अङ् प्रत्यय तथा 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७ ४ १६) से अर् गुण हो कर टाप् प्रत्यय करने से 'जरा' शब्द सिद्ध होता है। 'जरा' शब्द का अर्थ 'बुढ़ापा' है।

अजादि विभक्तियों में सवत्र सर्वप्रथम 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र से 'जरा' के स्थान पर जरस् आदेश हो जाता है। जरस् के अभाव में रमावत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	जरा	जरसौ जरे	जरसः, जराः
द्वि०	जरसम् जराम्	,,	,, ,,
तृ०	जरसा जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे जरायै	,,	जराभ्यः

पं०	जरसः जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
ष०	,,	जरसो जरयोः	जरसाम् जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	,, ,,	जरासु
सं०	हे जरे !	हे जरसौ ! हे जरे !	हे जरसः ! हे जराः !

नोट—'जरा + औ' यहां परत्व के कारण शी आदेश से पूर्व जरस् आदेश हो जाता है, यदि प्रथम शी आदेश होता तो 'जरसी' यह अनिष्ट रूप बन जाता। एवम् आगे भी जान लेना चाहिये।

[लघु०] गोपा विश्वपावत्।

व्याख्या—गाः पाति=रक्षतीति गोपाः। 'गो' कर्मोपपदात् 'पा रक्षणे' (अदा० प०) इत्यस्माद्धातो क्विपि लौकिके वा विग्रहे 'गोपा' शब्दो निष्पद्यते। गौओं की रक्षा करने वाली स्त्री 'गोपा' कहाती है।

'गोपा + सुँ'। गोपाशब्द के अन्त में 'पा' धातु है 'आप्' नहीं, अतः 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७६) से सुँलोप नहीं होता। सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'गोपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + औ' यहां भी आबन्त न होने से 'औङ आपः' (२१६) से शी आदेश नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'गोपौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर—'गोपाः' रूप बनता है।

गोपा+अम्=गोपाम्। [अमि पूर्वः (१३५)]

'गोपा+अस्' (शस्) यहां भसञ्ज्ञक आकार का 'आतो धातोः' (१६७) से लोप हो कर 'गोपः' बनता है।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में आकार का लोप होता जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	गोपाः	गोपौ	गोपाः	पं०	गोपः ❀	गोपाभ्याम्	गोपाभ्यः
द्वि०	गोपाम्	,,	गोपः ❀	ष०	,, ❀	गोपोः ❀	गोपाम् ❀
तृ०	गोपा ❀	गोपाभ्याम्	गोपाभिः	स०	गोपि ❀	,, ❀	गोपासु
च०	गोपे ❀	,,	गोपाभ्यः	सं०	हे गोपाः !	हे गोपौ !	हे गोपाः !

❀ इन स्थानों पर भसञ्ज्ञा हो कर आकार का लोप हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'विश्वपा' शब्द के समान होती है।

नोट—'क' प्रत्यय से सिद्ध 'गोप' शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में जातेरस्त्री—' (१२६९) सूत्र से ङीष् प्रत्यय कर 'गोपी' शब्द बनता है। इस का अर्थ है—गोप जाति की स्त्री। इस का उच्चारण आगे आने वाले 'नदी शब्द के समान होता है।

(यहां आकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—•❀•—

अब ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] मतिः । मत्या ।

व्याख्या—'मनँ ज्ञाने (दिवा० आत्मन०) धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर मति' शब्द सिद्ध होता है। मन्यतेऽनयेति मतिः। मननं वा मतिः। बुद्धि और ज्ञान को मति' कहते हैं।

इस का उच्चारण ङिद्वचनों से अन्यत्र प्राय 'हरि' शब्द के समान होता है। तथाहि—

मति + सुँ = मतिः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

मति + औ = मती। प्रथमयो—' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो जाता है।

'मति + अस (जस्) इस स्थिति में 'जसि च' (१६८) से गुण हो कर अय् आदेश करने से मतयः' रूप सिद्ध होता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'मति + अस् (शस) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार का रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं—मतीः। ध्यान रहे कि तस्माच्छस—' (१३७) सूत्र में 'पुंसि' कहने से यहां स्त्रीलिङ्ग में नकार आदेश नहीं होता।

'मति + आ' (टा) यहां घिसञ्ज्ञा रहने पर भी आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता, क्योंकि 'अस्त्रियाम्' कथन के कारण उस की स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्ति नहीं होती। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर मत्या' प्रयोग सिद्ध होता है।

मति + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा होने से 'घेर्ङिति (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। अब अग्रिम सूत्र द्वारा पक्ष में नदीसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—२२२ ङिति ह्रस्वश्च ।१।४।६॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः २, मतेः २।

अर्थः—'स्त्री'शब्द को छोड़ कर इयँङुवँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं। किञ्च—स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द भी ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या— ङिति ।७।१। ह्रस्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। इस सूत्र के दो खण्ड हैं। प्रथम यथा—अस्त्री ।१।१। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। [नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री से] स्त्र्याख्यौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। [यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम्। ['वाऽऽमि' से] समासः—न स्त्री=अस्त्री नञ्तत्पुरुषः। स्त्रीशब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः। इयँङ् च उवँङ् च= इयँङुवँङौ इतरेतरद्वन्द्वः। इयँङुवँङौ स्थान-स्थितिययोस्तौ इयँङुवँङ्स्थानौ बहुव्रीहिसमासः। स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थः। ई च ऊ च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अस्त्री) 'स्त्री शब्द को छोड़ कर (इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईकार ऊकार (ङिति) ङिद्वचनों में (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश हों उस की ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। परन्तु यह नियम स्त्री शब्द पर लागू नहीं होता। उदाहरण यथा— श्री, भ्रू' यहां क्रमशः ईकार ऊकार नित्यस्त्रीलिङ्गी हैं, इन के स्थान पर क्रमशः इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, अतः ङित् विभक्तियों में इन की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा होगी।

सूत्र के इस प्रथम खण्ड का उपयोग आगे इसी प्रकरण में 'श्री आदि शब्दों में किया जाएगा। अब मति' शब्दोपयोगी द्वितीय खण्ड की व्याख्या करते हैं—

स्त्र्याख्यौ ।१।२। ह्रस्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। यू ।१।२। वा इत्यव्ययपदम्। नदी ।१।१। ङिति ।७।१। समासः—स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, स्त्रीलिङ्गावित्यर्थः। अत्र नित्यस्त्रीत्वमविवक्षितम्। ह्रस्व इति 'यू' इत्यनेन सम्बध्यते। इश्च उश्च=यू। ह्रस्वौ इदुतावित्यर्थः। अर्थः—(स्त्र्याख्यौ) स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान (ह्रस्व=ह्रस्वौ) ह्रस्व (यू) इकार उकार (च) भी (ङिति) ङित् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—यदि स्त्रीलिङ्ग में इकारान्त या उकारान्त शब्द आएगा तो ङिद्वचनों में उस की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जायगी। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इकारान्त और उकारान्त शब्द चाहे नित्यस्त्रीलिङ्ग हों या न हों केवल स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान होने से ही उन की नदीसञ्ज्ञा हो जायगी।

इस नियम के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्येक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हो जाता है। नदीत्वपक्ष में आट् आदि नदी कार्य और तदभावपक्ष में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) से घिसञ्ज्ञा हो कर गुण आदि घिकार्य होते हैं।

मति + ए इस दशा में ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द से परे ङित् प्रत्यय के होने से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा हुई। नदीत्वपक्ष में 'आण्नद्याः' (१९६) द्वारा ङित् को आट् आगम 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा इकार का यण करने से 'मत्यै' रूप बनता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो जाती है। और तब 'घेर्ङिति' (१७२) से इकार को एकार गुण हो कर अय् आदेश करने पर 'मतये' रूप बनता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'मति+अस्' इस अवस्था में नदीसञ्ज्ञा आट् आगम, वृद्धि यण् और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'मत्याः' रूप सिद्ध होता है। नदी सञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा गुण और 'ङसिङसोश्च' (१७३) से पूर्वरूप हो कर 'मतेः' रूप निष्पन्न होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'मति + आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापः —' (१४८) से ह्रस्वमूलक नुट् आगम हो कर 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'मतीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

मति + इ' (ङि) यहां नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) से ङि का आम् तथा 'औत्' (१८४) सूत्र द्वारा ङि को औकार युगपत् प्राप्त होते हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार पर कार्य औकार ही उचित प्रतीत होता है। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः आम् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२३ इदुद्भ्याम् ।७।३।११७॥

इदुद्भ्यां नदीसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्।

अर्थः—नदीसञ्ज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि को आम् आदेश हो।

व्याख्या—नद्भ्याम् ।५।२। [ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से वचनविपरिणाम कर के] इदुद्भ्याम् ।५।२। ङेः ।६।१। आम् ।१।१। [ङेराम्—' से] समासः—इच्च उच्च = इदुतौ, ताभ्याम् = इदुद्भ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नदीभ्याम्) नदीसञ्ज्ञक (इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है। यह सूत्र 'औत्' (१८४) सूत्र का अपवाद है।

'मति + इ' यहां प्रकृतसूत्र से ङि को आम् हो कर मति + आम् हुआ। अब आण्नद्याः' (१९६) से आट् आगम और 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से नुट् आगम दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु परत्व के कारण आट् का आगम हो जाता है—मति + आट् आम्। आटश्च' (१९७) से वृद्धि और इकार को यण् करने पर 'मत्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर अच्च घेः (१७४) से ङि को औकार और घि को अकार अन्तादेश हो कर वृद्धि एकादेश करने से 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

हे मति + सुँ। यहां ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से इकार गुण और 'एङ्ह्रस्वात्— (१३४) से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे मते!' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	मतिः	मती	मतयः	प०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०	मतिम्	,,	मतीः	ष०	,,	मत्योः	मतीनाम्
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०	मत्याम्, मतौ	,,	मतिषु
च०	मत्यै, मतये	,,	मतिभ्यः	सं०	हे मते!	हे मती!	हे मतयः!

[लघु०] एवं बुद्ध्यादयः।

अर्थः—इसी प्रकार बुद्धि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानवृद्धि के लिये मतिवत् शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। * इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्व जान लेना चाहिये।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अङ्गुलि	अङ्गुल	आवृत्ति	दुहराना	२०उपलब्धि	प्राप्ति ज्ञान
अपकृति	अपकार	आहति	आघात	ओषधि	दवाई
अवनि	पृथ्वी	आहुति	आहुति	कण्डूति	खुजली
आकृति	आकार	इष्टि	इच्छा	कान्ति	सौन्दर्य
५आकृष्टि	आकर्षण	१५उक्ति	वचन	कृति	कार्य प्रयत्न
आक्रान्ति	आक्रमण	उत्क्रान्ति	बाहर निकलना	२५कृत्ति	चमड़ा
आर्ति	दुःख	उन्नति	उन्नति	कृषि*	खेती
आलि	पङ्क्ति	उपकृति	उपकार	केलि	हंसी ठट्ठा
आवलि	,,	उपपत्ति	तर्क उपपन्नता हेतु	कोटि	धनुष का कोना करोड़ ‡
१० आवसति	वास घर				

‡ करोड़ अर्थ में 'कोटि' शब्द एकवचनान्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
क्रान्ति	आक्रमण	प्रसृति	प्रसार वृद्धि	वमि	वमन
३ ख्याति	प्रसिद्धि	६०प्रहेलि	पहेली	वल्लरि*	मञ्जरी
गति	चाल, गमन	प्राप्ति	मिलन	९०वल्लि	लता
गीति	गान छन्दोभेद	प्लुति	छलाग	वसति	वास, घर
गुप्ति	छिपाना	बुद्धि	अक्ल	वस्ति	मूत्राशय
च्युति	गिरना	भक्ति	श्रद्धा भिन्नता	वान्ति	वमन
३५छर्दि	वमन रोग	६५भणिति	कथन	विकृति	विकार
छवि	कान्ति, चमक	भित्ति	दीवार	९५विगीति	निन्दा
जग्धि	सहभोज	भीति	डर	विच्छित्ति	बिच्छेद, चमत्कार
जनि	उत्पत्ति	भुक्ति	भोजन खाना	विज्ञप्ति	प्रार्थना घोषणा
जाति	मनुष्यत्व आदि	भुशुण्डि	बन्दूक	वित्ति	ज्ञान विवेक
४०तमि	अन्धेरी रात	७०भूति	कल्याण	विधुति	कम्पन
तिथि	तारीख	भूमि	पृथ्वी	१००विनति	नम्रता, प्रार्थना
दृष्टि	नज़र	भृति	मज़दूरी	विपत्ति	आपत्ति
द्युति	चमक, आभा	भेरि*	नगारा	विरति	हटना, समाप्ति
धूलि	धूल	भ्रान्ति	भ्रम	विवृति	टीका, व्याख्या
४५निकृति	छल	७५भ्रुकुटि	भौंह चढ़ाना	विशुद्धि	विशेष शुद्धि
नियति	भाग्य, क़िस्मत	मुक्ति	छुटकारा	१०५विस्मृति	भूलना
निराकृति	खण्डन	मूर्ति	प्रतिमा	विहति	मारना
नीति	नीति, चालाकी	यष्टि	छड़ी	वीचि	तरङ्ग
पङ्क्ति	कतार	युक्ति	उपाय	वृत्ति	जीविका
५०पद्धति	मार्ग	८०युवति	जवान स्त्री	वृष्टि	वर्षा
पर्याप्ति	पूर्णता	योनि	उत्पत्तिस्थान	११०वेणि	केशों की चोटी
प्रतिपत्ति	ज्ञान प्राप्ति	रजनि	रात्रि	व्यक्ति	पृथगात्मक जन
प्रतीति	विश्वास	राजनीति	राजनीति (Politics)	व्याकृति	व्याकरण
प्रत्यासत्ति	समीपता			व्रतति	लता
५५प्रत्युक्ति	उत्तर	रीति	चाल, रिवाज	शक्ति	ताकत
प्रशस्ति	प्रशंसा	८५रुचि	अनुराग	११५शुक्ति	सीपी
प्रसुप्ति	निद्रा	रूढि	प्रसिद्धि	शान्ति	शान्ति
प्रसूति	प्रसव, सन्तान	लिपि	वर्णमाला	शुद्धि	सफ़ाई

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
श्रुति	वेद, सुनना	सूक्ति	सुन्दर वचन	स्फूर्त्ति	फुर्ती
सम्पत्ति	धन दौलत	संवित्ति	ज्ञान	स्मृति	यादाश्त,
१२०सम्भूति	उत्पत्ति	१२५संहति	समूह		धर्मशास्त्र
समष्टि	सम्पूर्णता	स्तुति	प्रशंसा	१३०स्वाति	नक्षत्रविशेष
सिद्धि	सिद्ध होना	स्थिति	ठहरना,मर्यादा		

—०※०—

अब स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' (तीन) शब्द के रूप दिखलाते हैं। त्रिशब्द नित्य बहुवचनान्त —यह पीछे (२६४) पृष्ठ पर स्पष्ट कर चुके हैं।

त्रि + अस् (जस्) इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२४ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ।७।२।६६॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में त्रि शब्द को 'तिसृ' और 'चतुर्' शब्द को 'चतसृ' आदेश होता है।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] त्रिचतुरोः ।६।२। स्त्रियाम् ।७।१। तिसृचतसृ ।१।१। समासः—तिसृ च चतसृ च = तिसृचतसृ, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः— (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (त्रिचतुरोः) त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं।

'त्रि+अस् (जस्)' यहां जस् विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'तिसृ' आदेश हो गया। 'तिसृ+अस्' इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (२०४) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२५ अचि र ऋतः * ।७।२।१००॥

तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः २। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। आमि नुट्।

अर्थः—अच् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों के ऋकार को रेफ आदेश हो जाता है।

---

* अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे 'ऋतः' इति अनुवर्तमानं 'तिसृचतसृ' इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय। अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतसृबाधापत्तेरिति शेखरे नागेशः। वस्तुतस्तु तत्रैव स्वरितत्वं न तत्र। अन्यथा अचि रश्चेत्येव वदेत्। योग्यतयैव तत्कल्पनासिद्ध्या तदर्थमेवेति बोध्यम्।

व्याख्या—अचि ।७।१। र ।१।१। ऋत ।६।१। तिसृचतस्रोः ।६।२। [त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचस से विभक्ति विपरिणाम करके] अर्थ—(अचि) अच् परे होने पर (तिसृचतस्रोः) तिसृ और चतसृ शब्दों के (ऋतः) ऋकार को (र) रेफ आदेश होता है।

प्रश्न—अच् परे होने पर ऋकार को रेफ आदेश तो इको यणचि (१५) से ही सिद्ध है; पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—गुणदीर्घोत्वानाम् अपवादः अर्थात् तिसृ + अस् यहां जस् में ऋतो ङि—' (२०४) से प्राप्त होने वाले गुण का तिसृ + अस् यहां शस् में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्वसवर्णदीर्घ का तथा प्रियचतसृ + अस्' यहां ङसि और ङस् में ऋत उत् (२०८) से प्राप्त होने वाले उत्व को बाधने के लिये इस सूत्र से ऋकार के स्थान पर रेफ आदेश किया गया है। इस प्रकार यह सूत्र गुण, दीर्घ और उत्व का अपवाद है।

तिसृ + अस् यहां गुण को बाध कर रेफ आदेश कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—तिस्रः रूप बना।

त्रि + अस्' (शस्) यहां तिसृ आदेश हो कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है पुनः उसे बाध कर प्रकृत-सूत्र से रेफ आदेश हो जाता है—तिस्रः।

त्रि + भिस् = तिसृ+भिस् = तिसृभिः। तिसृभ्यः।

'त्रि+आम्' यहां त्रेस्त्रयः' (१६२) से प्राप्त त्रय आदेश को बाध कर त्रिचतुरो— (२२४) से तिसृ आदेश हो जाता है। तिसृ+आम्' इस स्थिति में ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) से नुट् आगम और अचि र ऋतः (२२५) से रेफ आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार परकार्य रेफ आदेश होना चाहिये। परन्तु नुम् अचिर तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा० १८) इस कात्यायनवचन से यहां पूर्वविप्रतिषेध मान कर पूर्व कार्य नुट् आगम हो जाता है। अब तिसृ+नाम् इस दशा में नामि' (१४६) से दीर्घ प्राप्त होता है इस पर अग्रिमसूत्र से उसका निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२२६ न तिसृचतसृ ।६।४।४॥

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु।

अर्थ:—नाम् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों का दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। तिसृ चतसृ ।६।१। ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस परिभाषा के बल से यहां 'सुपां सुलुक्—' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् समझना चाहिये।] नामि ।७।१। [नामि से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] अर्थः— (नामि) नाम् परे होने पर (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ शब्दों को (दीर्घ) दीर्घ (न) नहीं होता।

'तिसृ+नाम्' यहां दीर्घ का निषेध हो कर ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा०) इस कात्यायनवचन से नकार को णकार करने पर तिसृणाम् प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	तिस्रः	प०	०	०	तिसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	तिसृणाम्
तृ०	०	०	तिसृभिः	स०	०	०	तिसृषु
च०	०	०	तिसृभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

इसी प्रकार चतुर् (चार) शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप बनते हैं—चतस्रः २, चतसृभिः, चतसृभ्यः २, चतसृणाम्, चतसृषु। इसका वर्णन हलन्तस्त्रीलिङ्ग में यथास्थान ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

[लघु०] द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। अब स्त्रीलिङ्ग में इस की प्रक्रिया दिखलाई जाती है।

द्वि शब्द से प्रथमा के द्विवचन में 'द्वि+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से विभक्ति परे होने के कारण इकार को अकार हुआ। तब 'द्व + औ' इस दशा में स्त्रीत्वविवक्षा में अकारान्त होने के कारण 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) सूत्र से टाप् प्रत्यय हुआ। टाप् के टकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होने से लुप्त हो जाते हैं। 'द्व् आ+औ' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ और 'औङ आपः' (२१६) से औ को शी आदेश और गुण होकर 'द्वे' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम् में त्यदाद्यत्व होने पर अकारान्त हो जाने से टाप्, सवर्णदीर्घ हो कर 'द्वाभ्याम्' प्रयोग बनता है।

ओस् में त्यदाद्यत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, 'आकार को आङि चापः' (२१८) से एकार, अय् आदेश और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'द्वयोः' रूप सिद्ध होता है।*

रूपमाला यथा—

* ध्यान रहे कि पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के 'द्वाभ्याम्' और 'द्वयोः' प्रयोगों में महान् अन्तर है।

प्र०	०	द्वे	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयो	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता।			

(यहां पर ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—— ❀ •——

[लघु०] गौरी। गौर्यौ। गौर्य्यः। हे गौरि!। गौर्य्यै इत्यादि।

व्याख्या—गौर शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (१२५१) सूत्र द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो कर 'गौरी' शब्द निष्पन्न होता है। गौरी का अर्थ 'पार्वती' है। नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है।

प्रथमा के एकवचन में 'गौरी + स' इस अवस्था में ङ्यन्त होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो कर 'गौरी' रूप बनता है।

औ में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है उसका 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो कर 'गौर्यौ' रूप बनता है। ध्यान रहे कि 'गौर्यौ' आदि में 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा यकार यर् को द्वित्व हो कर पक्ष में गौर्य्यौ प्रभृति रूप भी बनते हैं।

जस् में भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर यण्—यकार करने पर 'गौर्यः' रूप बनता है।

'गौरी + अम् = गौरीम्। 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

'गौरी + अस्' यहां शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'गौरीः' रूप बनता है।

टा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'गौर्या' रूप सिद्ध होता है।

'गौरी + ए' (ङे)। यहां 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदीसञ्ज्ञा हो कर 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् आगम, 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि और 'इको यणचि' (१५) से यण् यकार करने से 'गौर्यै' रूप बनता है।

'गौरी+अस्' (ङसि व ङस्) इस दशा में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम, वृद्धि और यण् यकार हो कर 'गौर्याः' रूप सिद्ध होता है।

ओस् में यण् हो कर 'गौर्योः' बनता है।

षष्ठी के बहुवचन आम् में नदीसञ्ज्ञा हो कर नदीमूलक नुट् , अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से गौरीणाम् प्रयोग सिद्ध होता है ।

सप्तमी के एकवचन ङि में गौरी + ङि' इस दशा में ङेराम्—' (१६८) से ङि का आम् आण्नद्याः (१६६) से आट् आगम, आटश्च' (१६७) से वृद्धि तथा इको यणचि (१५) से यकार आदेश करने पर गौर्याम् प्रयोग सिद्ध होता है ।

सम्बुद्धि मे नदीसञ्ज्ञा होने से अम्बार्थ—' (१६५) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्०' (१३४) से सकार का लोप हो जाता है—हे गौरि ! । रूपमाला यथा—

प्र	गौरी	गौर्यौ	गौय	प०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभ्य
द्वि०	गौरीम्		गौरी	ष०	,,	गौर्यो	गौरीणाम्
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभि	स०	गौर्याम्		गौरीषु
च०	गौर्यै	,	गौरीभ्य	स०	हे गौरि !	हे गौर्यौ !	हे गौय !

[लघु०] एव नद्यादय ।

अर्थ—इसी प्रकार नदी (दरिया) आदि ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं ।

व्याख्या—हम बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहाँ द रहे हैं । इन का उच्चारण गौरीवत् होता है । इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले शब्दों में णत्वप्रक्रिया जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अक्षौहिणी	विशेष परिमाण वाली सेना	आनुपूर्वी*	क्रम, सिलसला	एकादशी	एकादशी
		आन्वी		कटी	कमर नितम्ब
अङ्गुली	अङ्गुल	त्रिकी*	तकशास्त्र	कठिनी	खडिया मिट्टी
अटवी	जङ्गल	आमलकी	आँवला	कदली	केले का पेड़
अनीकिनी	सेना	इङ्गुदी	गोंदी	२५कबरी*	गुत्त
५अनुक्रमणी	सूची	१५इन्द्राणी	इन्द्र की स्त्री	कमठी	कछुई
अनुचरी*	दासी	उज्जयिनी	उज्जैन नगर	करिणी	हथिनी
अमरावती	इन्द्र की नगरी	उदीची	उत्तर दिशा	कर्त्तनी	कैंची
अरण्यानी	बड़ा जङ्गल	उवशी	एक अप्सरा	कस्तूरी*	कस्तूरी
अवाची	दक्षिण दिशा	उर्वी*	पृथ्वी	३०काकमाची	मकोय
१०अश्मरी*	पथरी रोग	२०ऋतुमती	रजस्वला	काकली	धीमी मधुर ध्वनि

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
काकिणी	कौडी	६०गुडूची	गिलोय	८५नैनन्दिनी	प्रतिदिन होने
काकी	कौआ की मादा	गुर्वी*	भारी		वाली डायरी
कादम्बरी*	मदिरा	गृध्रसी	एक रोग	दोहदवती	अभिलाषवती
३५कादम्बिनी	मघमाला	गृहिणी	भार्या		गर्भिणी
कामिना	स्त्री	गोष्ठी	सभा मजलिस	द्रौपदी	द्रुपद कन्या
कामुकी	प्रेयाश स्त्री	६५गोस्तनी	द्राक्षा विशेष	धमनी	नाडी शिरा
कालिन्दी	यमुना नदी	घृतचौरी*	कचौरी	धरित्री*	पृथ्वी
काली	देवी विशेष	छागी	बकरी	९०नगरी*	नगर
४०कावेरी*	एक नदी	जगती	पृथ्वी एक छ्न्द	नटी	नट की स्त्री
काशी	बनारस	जननी	माता	नदी	दरिया
किङ्किणी	घु घरू	७०जीवनी	जीवन शक्ति	नन्दिनी	पुत्री, सुरभि की
			देने वाली		लडकी
किवदन्ती	अफ़वाह	ज्यौत्स्नी	चान्दनी रात	नलिनी	कमलिनी
कुटी	झोंपडी	टिप्पणी	नोट	९५नागवल्ली	पान की बेल
४५कुट्टनी	दलाला स्त्री	तटिनी	नदी	नाडी	शिरा
कुटुम्बिनी	भार्या	तपस्विनी	तपस्या करने	नान्दी	नाटक के आरम्भ
कुमारी*	क्वारी लडकी		वाला		का मङ्गल
कुवेणी	मच्छलियों की	७५तमी	अन्धरी रात	नारी*	स्त्री
	टोकरी	तरङ्गिणी	नदी	निशीथिनी	रात्रि
केतकी	केवडा (क्षुप)	तरुणी	जवान स्त्री	१००पञ्चवटी	एक स्थान
५०काकी	चकवी	तामसी	तमोगुणवती	पतिवत्नी	सधवा
कौमुदी	चान्दनी	तिरस्करिणी	परदा घू घट	पत्नी	भार्या
कौमोदकी	विष्णु की गदा	८०त्रयी*	ऋग्यजु साम	पदवी	मार्ग, पद
कौशाम्बी	एक नगर	दासी	नौकरानी	पद्मिनी	कमलों का समूह
क्षत्रियाणी	क्षत्रिय की स्त्री	दूती	सदेश ले जाने	१०५परिपाटी	सिलसला
५५गर्दभी	गधी		वाली	पाञ्चाली	द्रौपदी, एक
गर्भिणी	गर्भवती	देवकी	श्रीकृष्णमाता		शैली
गायत्री*	एक छन्द	देवी	दुर्गा देवपत्नी	पार्वती	दुर्गा
गाली	अपशब्द			पितामही	दादी
गुटी	गोली				

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
पिप्पली	पिपली	मन्त्रिणी	मन्त्री स्त्री	राजधानी	राजधानी
११०पुत्री*	बेटी	मन्दाकिनी	स्वर्गङ्गा	राज्ञी	रानी
पुरन्ध्री*	पति पुत्रवती	मर्कटी	वानरी	१६५रुक्मिणी	कृष्ण की पटरानी
पुरी*	नगरी	१४०मसी	स्याही	रुद्राणी	पार्वती
पुंश्चली	व्यभिचारिणी	महती	बडी	रेवती	बलराम प०नी
पुष्करिणी	हथिनी	महामारी*	प्लग आदि	रोहिणी	एक नक्षत्र
११५पुष्पवती	रजस्वला	महिषी*	भैंस पटरानी	लेखनी	कलम
पृथिवी	भूमि	मही	पृथ्वी	१७०लेखिनी	कलम
पृथ्वी	भूमि	१४५माता		वरूथिनी	सेना
पेषणी	पीसने की शिला	मही	नानी	वसुमती	पृथ्वी
पौर्णमासी	पूर्णिमा	मातुलानी	मामी भाग	वंशी	बासुरी
१२०प्रणाली	तरीका	मातुली	मामी	वाणी	वाणी
प्रतीची	पश्चिम दिशा	मालती	चम्बेली की	१७५वापी	बावडी
प्रतोली	गली		लता	वामी	घाडी
प्रसाधनी	कङ्घी	मुम्बापुरी*	बम्बई नगर	वायसी	कव्वी
प्राची	पूर्व दिशा	१५० मुरली	बासुरी	वाराणसी	बनारस
१२५बदरी*	बेर का वृक्ष	मृडानी	पार्वती	वारुणी	मद्य, पश्चिम
बिसिनी	कमल का पौदा	मेदनी	पृथिवी	१८० वाहिनी	सेना, नदी
भट्टिनी	महारानी	मैत्री*	मित्रता	विदुषी*	पढ़ी लिखी स्त्री
भवती	आप (स्त्री)	मोहमयी	बम्बई मोह	विभावरी*	रात्रि
भवानी	दुर्गा		वाली	विष्णुपदी	गङ्गा
१३० भागीरथी	गङ्गा	१५५मौर्वी*	धनुष की डोरी	वीथी	रास्ता गली
भामिनी	कोपशीला स्त्री	यक्षी*	कुबेर की स्त्री	१८५वैजयन्ती	पताका
भारती	संस्कृत भाषा	यवनानी	यवनों की लिपि	वैतरणी	नरक की नदी
भ्रूकुटी	भौंहों का	याज्ञसेनी	द्रौपदी	वैदेही	सीता
	तिरछा करना	यामिनी	रात्रि	वैयासिकी	व्यास-रचना
भेरी*	बड़ा नगारा	१६०युवती	जवान स्त्री	व्याघ्री*	मादा बाघ
१३५भ्रुकुटी	भ्रुकुटी	रजनी	रात	१९०शतघ्नी	तोप
मञ्जरी*	कोंपल	राक्षसी	राक्षस स्त्री	शतपदी	कानखजूरा

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शफरी*	विशेष मछली	सपत्नी	सौकन	सूरी*	कुन्ती
शमी	जण्डी का वृक्ष	सरस्वती	वाग्देवी	सैरन्ध्री*	दासी
शर्वरी*	रात्रि	सरोजिनी	कमल समूह	सौदामनी	विद्युत्
१६५शाटी	वस्त्र साडी	२०५साध्वी	पतिव्रता	२१५स्रोतस्वती	नदी
शुण्ठी	सोंठ	सामग्री*	सम्पूर्णता द्रव्य	हसन्ती	अंगीठी
शुनी	कुतिया	सिंहवाहिनी	भगवती दुर्गा	हरिणी	हरिन की मादा
शैली	रीति	सिंही	शेरनी	हरीतकी	हरड़
श्रेणी	पंक्ति किसम	सीमन्तिनी	स्त्री	हिमानी	बरफ़ समूह
२००सखी	सहेली	२१०सुन्दरी*	रूपवती	ह्रादिनी	वज्र विद्युत्
संग्रहणी	एक रोग	सूची	सूई नोक	— ❀ —	

[लघु०] लक्ष्मी । शेषं गौरीवत् ।

व्याख्या—'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (चुरा० उ०) धातु से लक्षेर्मुट् च (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय और मुट् का आगम करने से लक्ष्मी शब्द निष्पन्न होता है। लक्ष्मी शब्द ङ्यन्त नहीं अतः इस से परे 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) सूत्र द्वारा सुलोप नहीं होता। शेष सब विभक्तियों में गौरीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः	प०	लक्ष्म्याः❀	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
द्वि०	लक्ष्मीम्		लक्ष्मीः	ष०	❀	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्❀
तृ०	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः	स०	लक्ष्म्याम्❀		लक्ष्मीषु
च०	लक्ष्म्यै❀		लक्ष्मीभ्यः	सं०	हे लक्ष्मि !❀	हे लक्ष्म्यौ !	हे लक्ष्म्यः !

❀इन स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा हो कर आट् आदि नदीकार्य होते हैं।

[लघु०] एवं तरी-तन्त्र्यादयः ।

अर्थः—तरी तन्त्री आदि अन्य औणादिक ईप्रत्ययान्त शब्दों के रूप भी लक्ष्मी शब्द के समान होते हैं।

व्याख्या—'अवि-तॄ-स्तृ-तन्त्रिभ्य ईः' (उणा० ४४८) इस औणादिक सूत्र से "१ अवी (रजस्वला स्त्री) २ तरी (नौका), ३ स्तरी (धूम) ४ तन्त्री (वीणा)" इन चार ईप्रत्ययान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इन का उच्चारण भी लक्ष्मीवत् होता है। ङ्यन्त न होने से इन में भी सुँलोप नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दाना सुलोपो न कदाचन ॥"

परन्तु इन मे स्तरी शब्द नहीं आता अत यह श्लोक इस प्रकार पढ़ना चाहिये—

"अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्म्य, तरी-धी-ह्री-श्रियस्तथा ।
उणादावष्ट निष्पन्ना न सुलोपस्य भागिन ॥"

[लघु०] स्त्री । हे स्त्रि ! ।

व्याख्या—'स्त्यै शब्दसङ्घातयो' (भ्वा प०) धातु से स्त्यायतेड्ट्' (उणा० ६ ५) सूत्र द्वारा ड्रट प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप टिलोप 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से यकारलोप, 'टिड्ढाणञ—' (१२४७) से ङीप प्रत्यय और यस्येति च' (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से स्त्री' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्री शब्द ङ्यन्त है।

'स्त्री + सुँ' यहाँ ङयन्त होने से हल्ङयाब्भ्य —' (१७९) सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो जाता है—स्त्री।

सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र द्वारा स्त्रीशब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। तब 'अम्बार्थ—' (१९५) सूत्र से ह्रस्व और एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सकार लोप हो कर 'हे स्त्रि !' प्रयोग सिद्ध होता है।

'स्त्री + औ' यहां धातु का ईकार न होने से इयँङ् प्राप्त नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है। 'इको यणचि' (१५) से ही केवल यण् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२७ स्त्रियाः ।६।४।७६॥

अस्येयँङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रिय ।

अर्थ—अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्री शब्द के ईकार को इयँङ आदेश हो।

व्याख्या—स्त्रियाः ।६।१। इयँङ ।१।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नुधातु से] 'प्रत्यये' का अध्याहार कर यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो कर अजादौ प्रत्यये' बन जाता है। अर्थ—(अचि = अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (इयँङ्) इयँङ् आदेश हो। अलोऽन्त्य परिभाषा से स्त्रीशब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होगा।

'स्त्री + औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा इयँङ् आदेश हो कर 'स्त्रियौ' बना।

स्त्री + अस' (जस) यहां भी इयँङ हो कर स्त्रियः' बनता है।

स्त्री + अम् यहां अमि पूर्वः (१३५) को बाध कर प्रकृत-सूत्र से नित्य इयँङ् प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२८ वाऽम्शसो ।६।४।८०॥

अमि शसि च स्त्रिया इयँङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः २। परत्वान्नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रीषु।

अर्थ—अम् व शस परे होने पर स्त्रीशब्द को विकल्प कर के इयँङ हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। अम्शसोः।७।२। स्त्रियाः।६।१। ['स्त्रियाः' से] इयँङ्।१।१। [अचि श्नु ' से] अर्थ—(अम्शसोः) अम् और शस् परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (इयँङ) इयँङ होता है।

स्त्री + अम्' यहां प्रकृतसूत्र से ईकार को विकल्प करके इयँङ् हो गया। इयँङपक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर—स्त्रियम्। इयङ् के अभाव में अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर—स्त्रीम्। इस प्रकार अम् में स्त्रियम् स्त्रीम् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'स्त्री + अस् (शस) यहां भी वाऽम्शसोः सूत्र से इयँङ् हो कर—स्त्रियः। पक्ष मे पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर—स्त्रीः। इस प्रकार शस् में स्त्रियः, स्त्रीः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

तृतीया के एकवचन में स्त्री + आ' इस अवस्था में स्त्रियाः (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर स्त्रिया रूप बनता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'स्त्री + ए' इस दशा में यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) सूत्र से नित्य नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि स्त्रीशब्द के स्थान पर इयँङ् होता है, तथापि स्त्रीशब्द का वर्जन होने से ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् प्रत्ययों में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं होता। नदीसञ्ज्ञक होने से आण्नद्याः' (१६६) से आट् का आगम और 'आटश्च (१६७) से वृद्धि होने के अनन्तर स्त्री + ऐ' इस स्थिति में 'स्त्रियाः (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर स्त्रियै प्रयोग निष्पन्न होता है।

'स्त्री+अस्' (ङसिँ व ङस्) यहां भी पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा होने से आट्, वृद्धि और इयँङ् हो कर—'स्त्रियाः' बना।

ओस में स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर स्त्रियोः बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'स्त्री + आम्' इस दशा में इयँङ् और नुट् दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्व के कारण नुट् का आगम हो जाता है। अब 'अट्कुप्वाङ् ' (१३८) से नकार को णकार हो कर स्त्रीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्त्री+ङि' यहां पर नदीसञ्ज्ञा होने से ङेराम्—' (१६८) सूत्र से ङि को आम् आट् का आगम, वृद्धि और 'स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर स्त्रियाम्' प्रयोग बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	"	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	"	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	"	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	"	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि!	हे स्त्रियौ!	हे स्त्रियः!

— ❀ —

नोट—स्त्रीशब्द अपने ढङ्ग का अकेला ही है। इस प्रकार के उच्चारण वाला स्त्रीलिङ्ग में अन्य कोई शब्द नहीं है।

[लघु०] श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

व्याख्या—श्रयति हरिम् इति श्रीः। लक्ष्मी व शोभा को 'श्री' कहते हैं। 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उभ०) धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' (उणा० २१५) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा प्रकृति को दीर्घ करने से 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीशब्द ङ्यन्त नहीं, इस में ईकार धातु का अवयव है। अतः 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७६) से सुँ लोप नहीं होता—श्रीः।

श्री+औ' यहां धातु के अवयव ईकार से पूर्व धातु का अवयव 'श्र्' यह संयोग वर्त्तमान है, अनेकाच् भी नहीं, अतः 'एरनेकाचः—' (२००) से यण् नहीं होता। 'अचि श्नु ' (१९९) से ईकार को इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियौ' प्रयोग बनता है।

श्री + अस् (जस्) = श्रियः। यहां भी 'अचि श्नु ' (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

'हे श्री + स्' यहां सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से नित्यनदीसञ्ज्ञा होने के कारण 'अम्बार्थनद्योः—' (१६५) द्वारा ह्रस्व प्राप्त होता है। परन्तु यह अनिष्ट है, अतः इस के वारण के लिये नदीसञ्ज्ञा का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२२८ नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री।१।४।४॥

इयँङुवँङो स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसञ्ज्ञौ न स्त, न तु स्त्री। हे श्री ! । श्रियै, श्रिये । श्रिया २, श्रिय २ ।

अर्थ—जिन ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ होते हैं उन की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। परन्तु स्त्रीशब्द की तो होती ही है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इयँङुवँङस्थानौ ।१।२। यू ।१।२। नदी । १।१। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] अस्त्री ।१।१। समास—इयँङ च उवँङ च=इयँङुवँङौ इतरेतरद्वन्द्व । इयँङुवँङा स्थान (स्थिति) ययोस्तौ=इयँङुवँङस्थानौ बहुव्रीहिसमास । ई च ऊ च=यू, इतरेतरद्वन्द्व । न स्त्री=अस्त्री नञ्समास । अर्थ—(इयँङुवँङस्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ उवँङ आदेश होते हैं ऐसे (यू) ईकार ऊकार (नदी) नदीसञ्ज्ञक (न) नहीं होते। (अस्त्री) परन्तु स्त्रीशब्द पर यह नियम लागू नहीं होता।

श्रीशब्द के ईकार के स्थान पर अजादि प्रत्ययों में 'अचि श्नु ' (१९९) सूत्र द्वारा इयँङ् आदेश होता है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अजादिप्रत्ययों में तथा अन्यत्र * भी इस में नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जायगा।

हे श्री+स' यहां नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाने से नदीमूलक ह्रस्व नहीं होता। सकार को रुँत्व और रेफ का विसर्ग आदेश करने से— हे श्री !' प्रयोग सिद्ध होता है।

श्री+अम्=श्रियम्। श्री + अस् (शस)=श्रिय । श्री + आ (टा)=श्रिया। सर्वत्र अचि श्नु—' (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

चतुर्थी के एकवचन में श्री + ए' इस दशा में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) सूत्र से प्राप्त नदीसञ्ज्ञा का नेयँङुवँङ्—' (२२१) से निषेध हो जाता है। पुनः 'ङिति ह्रस्वश्च (२२२) सूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में आट् का आगम वृद्धि और इयँङ् हो कर श्रियै बनता है। इस प्रकार ङे में 'श्रियै श्रिये' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में 'श्री+अस्' इस स्थिति में पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता है। नदीपक्ष में आट, वृद्धि और इयँङ् हो कर श्रिया बनता है। नदी के अभाव में केवल इयँङ हो कर 'श्रिय ' सिद्ध होता है। इस प्रकार ङसि और ङस् में श्रिया, श्रिय ' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।

---

* ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का निषेध केवल वहां ही नहीं होता जहां इयँङ् उवँङ होते हैं। किन्तु इयँङुवँङ्स्थानी शब्द में अन्यत्र भी—जहां इयँङ उवँङ नहीं होते—निषेध हो जाता है। यथा—श्री शब्द में इयँङ तो अजादि विभक्तियों में ही होता है परन्तु नदीसञ्ज्ञा का निषेध अजादियों में तथा अन्यत्र सम्बुद्धि में भी हो जाता है।

षष्ठी के बहुवचन में श्री+आम् इस स्थिति में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से प्राप्त नित्यनदीत्व का 'नेयँडुवँङ—' (२२१) से निषेध हो जाता है। आम् के ङित् न होने से 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीत्व का विकल्प नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२३० वाऽऽमि।१।४।५॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसञ्ज्ञौ स्त, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि।

अर्थ—जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् होते हैं ऐसे नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार आम् परे होने पर विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हों। परन्तु यह विकल्प स्त्रीशब्द में प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—इयँङुवँङ्स्थानौ।१।२। ['नेयँङुवँङ—' से] स्त्र्याख्यौ।१।२। यू।१।२। नदी।१।१। [यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम्। आमि।७।१। अर्थ—(इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयङ उवँङ आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्ग (यू) ईकार ऊकार (आमि) आम् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदी सञ्ज्ञक होते हैं।

श्री + आम् यहां इयँङस्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार की आम् परे रहते प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञापक्ष में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से नुट् और 'अट्कुप्वाङ्— (१३८) से नकार को णकार होने से 'श्रीणाम्' और अभावपक्ष में 'अचि श्नु— (१९९) से इयँङ हो कर 'श्रियाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में श्री + इ इस दशा मे 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से नदी सञ्ज्ञा के विकल्प होने से नदीत्वपक्ष में 'ङेराम्— (१९८) सूत्र से ङि को आम् आदेश हो कर आट् का आगम, वृद्धि और इयँङ आदेश करने से 'श्रियाम्' रूप बनता है। नदीत्वाभाव में केवल इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियि' रूप निष्पन्न होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	श्री	श्रियौ	श्रियः
द्वि०	श्रियम्	,,	,,
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रियै श्रिये	,,	श्रीभ्यः
पं०	श्रियाः, श्रियः	,,	,,

ष०	श्रिया श्रिय	श्रियो	श्रीणाम्, श्रियाम्
स०	श्रियाम्, श्रियि	„	श्रीषु
सं०	हे श्री !	हे श्रियौ !	हे श्रियः !

इसी प्रकार धी (बुद्धि) ह्री (लज्जा) भी (डर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

❀ विशेष ध्यातव्य ❀

(१) ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का उपयोग केवल 'ङे, ङसिँ, ङस, ङि आम् और सम्बुद्धि' इन छः स्थानों पर ही होता है।

(२) जिस शब्द में इयँङ उवँङ् आदेश होते हों उस शब्द की प्रथम 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र से सर्वत्र छः स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

(३) नदीत्व के निषेध के बाद ङिद्वचनों तथा आम् में क्रमशः 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) और 'वाऽऽमि' (२३०) से नदीत्व का विकल्प हो जाता है।

(४) शेष सम्बुद्धि ही बच रहती है जिसमें वैस का वैसा नदीत्वनिषेध बना रहता है। इस प्रकार नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र केवल सम्बुद्धि में ही चरितार्थ होता है।

(५) उपर्युक्त किसी नियम से स्त्रीशब्द प्रभावित नहीं होता, क्योंकि सर्वत्र 'अस्त्री' कहा गया है। अतः स्त्रीशब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नित्य ही नदी-सञ्ज्ञा होती है।

(यहां ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०❀—

अब उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' (गाय) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धेनुर्मतिवत्।

व्याख्या— धेनु' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'मति' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
द्वि०	धेनुम्	„	धेनूः
तृ०	धेन्वा †	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धेन्वै, धेनवे ❀	„	धेनुभ्यः
पं०	धेन्वाः, धेनोः ❀	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
ष०	„ „ ❀	धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्, धेनौ ❀	„	धेनुषु
सं०	हे धेनो !	हे धेनू !	हे धेनवः !

† स्त्रीलिङ्ग होने के कारण घिसञ्ज्ञा होने पर भी 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता।

❀ ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता

है। नदीपक्ष में नदीकार्य होते हैं। यथा—ङे में आट् का आगम और वृद्धि हो कर यण् हो जाता है। ङसि और ङस में भी ऐसा ही होता है। ङि में इदुद्भ्याम् (२२३) से ङि को आम् आदेश आट् और वृद्धि होकर यण् हो जाता है। नदीत्वाभाव में ङिद्वचनों की प्रक्रिया 'शम्भु' शब्द के समान होती है।

संस्कृतसाहित्य में उदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द बहुत कम हैं। फिर भी हम बालोपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अचिराशु	बिजली	१०काकु	शोक व भय से विकृतस्वर	रेणु	धूल
अभ्रमु*	ऐरावत हाथी की स्त्री	कुहु	कोकिलालाप	२०वार्त्ताकु	बैंगन
अलाबु	लताविशेष	खर्जु	खुजली	वितद्रु*	एक नदी
इर्वारु*	ककड़ी	गण्डु	तकिया, गांठ	सरयु*	,, ,,
५उडु†	नक्षत्र तारा	चञ्चु‡	चोंच	सिन्धु	,, ,,
कच्छु	रोग विशेष	१५जम्बु	जामुन	स्नायु	नस
कण्डु	खुजली	तनु	शरीर	२५हनु	कपोलों का उपरला भाग
कन्दु‡	कड़ाही	दनु	दैत्यों की माता		
करेणु	हथिनी	रज्जु	रस्सी		

— ० —

उकारान्त स्त्रीलिङ्गों में क्रोष्टु (गीदड़ी) शब्द में अन्तर पड़ता है। अब वह बताया जाता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२३१ स्त्रियाञ्च ।७।१।९६॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते।

अर्थ—स्त्रीवाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त होता है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। क्रोष्टु ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। ['तृज्वत्क्रोष्टुः' से]। तृचा तुल्यम् = तृज्वत्, तृजन्तवदित्यर्थः। अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (च) भी (क्रोष्टु) क्रोष्टु शब्द (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है।

अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश ही होता है।

क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

† अस्य क्लीबत्वमपीष्टम्।

‡ अस्य पुंस्त्वमपीष्टम्।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३२ ऋन्नेभ्यो ङीप् ।४।१।५।।

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री गौरीवत् ।

अर्थ—स्त्रीलिङ्ग में ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से ङीप प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्त्रियाम् । ७ । १ । [यह अधिकृत है ।] प्रातिपदिकेभ्य । ५ । ३ । [ङ्याप्प्रातिपदिकात् से वचनविपरिणाम कर के] ऋन्नेभ्य ।५।३। ङीप् ।१।१। समास — ऋतश्च नाश्च = ऋन्नौ तेभ्य = ऋन्नेभ्य । इतरेतरद्वन्द्व । ऋन्नेभ्य' से तदन्तविधि हो जाने से 'ऋदन्तनान्तेभ्य' बन जाता है । अर्थ —(ऋन्नेभ्य) ऋदन्त और नान्त (प्रातिपदिकेभ्य)प्रातिपदिकों से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीप) ङीप प्रत्यय हो जाता है ।

ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—

कर्तृ + ङीप्=कर्तृ + ई=कर्त्री । हर्तृ + ङीप् = हर्तृ + ई=हर्त्री । नान्त प्रातिपदिकों से यथा—

दण्डिन् + ङीप्=दण्डिन्+ई=दण्डिनी । योगिन्+ङीप्=योगिन् + ई=योगिनी ।

क्रोष्टृ' शब्द ऋदन्त है अतः ङीप प्रत्यय हो गया । 'ङीप्' का 'ई' बच रहता है । ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से और पकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । तब क्रोष्टृ + ई' इस स्थिति में यण् आदेश हो कर 'क्रोष्ट्री' यह ईकारान्त शब्द बन जाता है ।

ङ्यन्त होने से क्रोष्ट्री शब्द के रूप गौरी शब्द के समान होते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्र्य
द्वि०	क्रोष्ट्रीम्		क्रोष्ट्री
तृ०	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभि
च०	क्रोष्ट्र्यै	,	क्रोष्ट्रीभ्य
प०	क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्य
ष०		क्रोष्ट्र्यो	क्रोष्ट्रीणाम्
स०	क्रोष्ट्र्याम्	,	क्रोष्ट्रीषु
सं०	हे क्रोष्ट्रि !	हे क्रोष्ट्र्यौ !	हे क्रोष्ट्र्य !

इसी प्रकार—कर्त्री (करने वाली) धात्री (धारण करने वाली), पात्री (पालन करने वाली) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

(यहां ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

———

[लघु०] भ्रू श्रीवत् ।

व्याख्या— भ्रमु अनवस्थाने' (दिवा० परस्मै) धातु से 'भ्रमेश्च डू'

(उणा० २२६) सूत्र द्वारा डू प्रत्यय कर टिलोप करने से भ्रू (भौं) शब्द निष्पन्न होता है। भ्रू शब्द के रूप श्री शब्द के समान बनेंगे। इस में 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्—' (१९९) से उवँङ् आदेश होता है। अत उवँङ की स्थिति इस में होने से 'नेयँडुवँङ्—' (२२६) स नदीसञ्ज्ञा का निषेध और ङिद्वचनों में ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से तथा आम् में वाऽऽमि' (२३) से विकल्प श्री' शब्द के समान ही होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	भ्रू	भ्रुवौ	भ्रुव
द्वि०	भ्रुवम्	,	,,
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभि
च०	भ्रुवै, भ्रुवे	,	भ्रूभ्य
प०	भ्रुवा , भ्रुव	,,	,
ष	,, ,,	भ्रुवो	भ्रूणाम भ्रुवाम्
स०	भ्रुवाम्, भ्रुवि	,,	भ्रूषु
स०	हे भ्रू !	हे भ्रुवौ !	हे भ्रुव !

इसी प्रकार भू (पृथ्वी) शब्द के रूप होते हैं।

[लघु०] स्वयम्भू' पु वत्।

अर्थः—स्वयम्भू शब्द का उच्चारण पु लिङ्गप्रोक्त स्वयम्भू' शब्द के समान होता है।

व्याख्या—स्वयम्भू शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं किन्तु विशेष्यलिङ्ग के आश्रित है। अत इस की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। 'ओ सुपि (२१०) से प्राप्त होने वाले यण् का न भूसुधियो' (२०२) से निषेध हो जाता है। पुन 'अचि श्नु—' (१९९) से उवँङ हो जाता है।

स्वयम्भू (दैवी, आदि शक्ति) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वयम्भू	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुव
द्वि०	स्वयम्भुवम्	,,	,,
तृ	स्वयम्भुवा	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभि
च०	स्वयम्भुवे	,,	स्वयम्भूभ्य
प०	स्वयम्भुव	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभ्य
ष०	,,	स्वयम्भुवो	स्वयम्भुवाम्
स०	स्वयम्भुवि	,,	स्वयम्भूषु
स०	हे स्वयम्भू !	हे स्वयम्भुवौ !	हे स्वयम्भुव

नोट—वधू, जम्बू, चमू, गुग्गुलू, श्वश्रू कमण्डलू, सहितोरू वामोरू, शफोरू, कद्रू आदि शब्दों के रूप गौरी शब्दवत् होते हैं। केवल ङ्यन्त न होने स सुलोप नहीं होता। निदर्शनार्थ वधू' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः	प०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
द्वि०	वधूम्		वधूः	ष०	,,	वध्वोः	वधूनाम्
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः	स०	वध्वाम्	,,	वधूषु
च०	वध्वै		वधूभ्यः	सं०	हे वधु !	हे वध्वौ !	हे वध्वः !

(यहां ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—●❀●—

अब ऋदन्त स्त्रीलिङ्गों का वर्णन करते हैं। स्वसृ (बहिन) आदि ऋदन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ऋन्नेभ्यो ङीप् (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है। इस का अग्रिम सूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२३१ न षट्-स्वस्रादिभ्यः ।४।१।१०॥

ङीप्टापौ न स्तः ।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

स्वसा । स्वसारौ ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वसृ आदियों से परे ङीप् और टाप् नहीं हुआ करते।

स्वसृ आदियों का कारिका मे परिगणन करते हैं—१ स्वसृ (बहिन) २ तिसृ (त्रि को स्त्रीलिङ्ग मे हुआ आदेश), ३ चतसृ (चतुर् का स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश) ४ ननान्दृ (पति की बहिन, ननन्द), ५ दुहितृ (लड़की) ६ यातृ (पति के भाई की पत्नी), ७ मातृ (माता)। ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। षट्स्वस्रादिभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। ['ऋन्नेभ्यो ङीप्' से] टाप् ।१।१। ['अजाद्यतष्टाप्' से] समासः—षट् च स्वस्रादयश्च=षट्स्वस्रादयः, तेभ्यः =षट्स्वस्रादिभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः— (षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वस्रादि शब्दों से परे (ङीप्) ङीप् और (टाप्) टाप् (न) नहीं होते।

स्वस्रादिगण मूल में श्लोकबद्ध दे दिया गया है। षट्सञ्ज्ञा पीछे (१८७) सूत्र द्वारा षष्, पञ्चन्, सप्तन् आदि शब्दों की कही गई है।

'स्वसृ' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तगत 'भ्रातृ' शब्द के समान होती है। केवल शस् में ही सकार का नकार न हो कर 'स्वसृः' बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	स्वसा❀	स्वसारौ†	स्वसारः†	पं०	स्वसुः‡	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
द्वि०	स्वसारम्†	†	स्वसॄः	ष०	,, ‡	स्वस्रोः	स्वसॄणाम्
तृ०	स्वस्रा	स्वसृभ्याम्	स्वसृभिः	स०	स्वसरि×	,,	स्वसृषु
च०	स्वस्रे	,,	स्वसृभ्यः	सं०	हे स्वसः !*	हे स्वसारौ !	हे स्वसारः !

❀ 'ऋदुशनस— (२०२) अप्तृन्तृच— (२०६), हल्ङ्याब्भ्यः — (१७९), नलोपः — (१८)'।

† 'ऋतो ङि—(२०४) अप्तृन्—(२०६)'।

‡ 'ऋत उत् (२०८), रात्सस्य (२०९)'।

× "ऋतो ङि— (२०४)"।

* 'ऋतो ङि—(२०४) हल्ङ्याब्भ्यः —(१७९)'।

[लघु०] माता पितृवत् । शसि—मातॄः ।

व्याख्या—मातृ (माता) शब्द की प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गप्रोक्त 'पितृ' शब्दवत् होती है। केवल शस् में नत्व न होने से 'मातॄः' यह विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र०	माता	मातरौ	मातरः	पं०	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
द्वि०	मातरम्	,,	मातॄः	ष०	,,	मात्रोः	मातॄणाम्
तृ०	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः	स०	मातरि	,,	मातृषु
च०	मात्रे	,,	मातृभ्यः	सं०	हे मातः !	हे मातरौ !	हे मातरः !

इसी प्रकार—ननान्दृ, दुहितृ और यातृ शब्दों के उच्चारण होते हैं।

(यहां ऋदन्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०❀—

[लघु०] द्यौर्गोवत् ।

व्याख्या—'द्यो' शब्द का अर्थ आकाश वा स्वर्ग है। 'द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः' इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरयः। द्युत दीप्तौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु से बहुल के कारण औणादिक 'डो' प्रत्यय करने से 'द्यो' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'गो' (पृष्ठ २११) शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र	द्यौ †	द्यावौ†	द्याव †	प०	द्यो *	द्याभ्याम्	द्योभ्य
द्वि०	द्याम् ‡		द्या ‡	ष०	*	द्यवा	द्यवाम्
तृ	द्यवा	द्याभ्याम्	द्याभि	स०	द्यवि		द्यासु
च०	द्यवे		द्याभ्य	स०	हे द्यौ !	हे द्यावौ !	हे द्याव !

† ओतो णिदिति वाच्यम् अचो ञ्णिति (१८१)।

‡ औतोऽम्शसो (२१४)।

* ङसि ङसाश्च (१७३)।

इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग गो (गाय) शब्द का उच्चारण होता है।

(यहाँ ओकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०※—

[लघु०] रा पुवत।

व्याख्या — रै शब्द पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग ऐसा प्रकार का होता है। स्त्रीलिङ्ग में भी उच्चारण पुलिङ्ग के समान होता है किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्र	रा	रायौ	राय	प	राय	राभ्याम्	राभ्य
द्वि०	रायम्	,	,	ष०	,,	रायो	रायाम्
त०	राया	राभ्याम्	राभि	स०	रायि	,,	रासु
च०	राये		राभ्य	स०	हे रा !	हे रायौ !	हे राय

हलादि विभक्तियों में रायो हलि' (२१५) से आकार आदेश तथा अजादि विभक्तियों में आय् आदेश हो जाता है।

[लघु०] नौग्लौवत्।

व्याख्या— णुद प्रेरणे' (तुदा० प०) धातु से ग्लानुदिभ्या डौ' (उणा० २२२) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से 'नौ' (नौका) शब्द निष्पन्न होता है। इस की समग्र प्रक्रिया अजन्तपुलिङ्गान्तर्गत ग्लौ' (पृ ३१३) शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	नौ	नावौ	नाव	प०	नाव	नौभ्याम्	नौभ्य
द्वि०	नावम्		,,	ष०	,	नावो	नावाम्
त०	नावा	नौभ्याम्	नौभि	स०	नावि		नौषु
च	नावे		नौभ्य	स०	हे नौ !	हे नावौ !	हे नाव !

सर्वत्र अजादि विभक्तियों में एचोऽयवायावः (२२) से औकार का आव् आदेश हो जाता है।

[लघु०] इत्यजन्ता स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थ —यहां अजन्तस्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त हैं।

अभ्यास (३४)

(१) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) क्या कारण है कि इयङ्स्थानी होने पर भी 'स्त्री' शब्द में नदीसञ्ज्ञा का निषेध नहीं होता?

(ख) 'रमायै' में आटश्च सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता?

(ग) क्या कारण है कि अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में ह्रस्व अकारान्त शब्दों का वर्णन नहीं किया गया?

(घ) 'औङ्' किसे कहते हैं और उस का किस सूत्र में व्यवहार किया गया है?

(२) लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का सोदाहरण विवेचन करें।

(३) 'गुणाद्दीर्घोत्त्वानामपवादः' का तात्पर्य उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक व्यक्त करें।

(४) निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करते हुए यथासम्भव वैकल्पिक रूपों का भी प्रदर्शन करें।

१ तिस्रः। २ मातॄः। ३ द्यौः। ४ अक्क!। ५ रमया। ६ स्त्रियम्। ७ श्रीणाम्। ८ मतौ। ९ ह्रे। १० स्त्रि!। ११ मत्यै। १२ उत्तरपूर्वायाम्। १३ श्री!। १४ रमायाम्। १५ स्त्रियौ।

(५) 'हे श्री!' यहां इयङ् आदेश न होने पर भी कैसे 'नेयँङुवँङ—' सूत्र प्रवृत्त हो जाता है?।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्याम्
अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणं
समाप्तम्।



अथाजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त अजन्तनपुंसक शब्दों का विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम अदन्त शब्दों का नम्बर आता है।

ज्ञा अवबोधन (क्र्या० परस्मै) धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'ज्ञान' शब्द सिद्ध होता है।

ज्ञान + स (सुँ)। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३४ अतोऽम् ।७।१।२४॥

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्व—ज्ञानम्।
'एङ्ह्रस्वाद्' इति हल्लोपः—हे ज्ञान!।

अर्थ—अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सुँ और अम् का अम् आदेश हो ‡।

व्याख्या—अतः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य इस अधिकृति का वचन विपरिणाम हो जाता है।] नपुंसकात् ।५।१। स्वमोः ।६।२। ['स्वमोर्नपुंसकात्' से] अम् ।१।१। समास—सुश्च अम् च=स्वमौ तयोः=स्वमोः इतरेतरद्वन्द्वः। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् अङ्गात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (स्वमोः) सुँ और अम् के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो। अनेकाल् होने से अम् आदेश सर्वादेश होगा।

---

‡ कई लोग 'अतोम्' सूत्र का 'अतः ।६।१। म् ।१।१।' इस प्रकार पदच्छेद करते हुए—'अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे सु और अम् को म् आदेश हो' ऐसा अर्थ करते हैं। इस प्रकार सु में सकार को म् आदेश हो कर—'ज्ञानम्' प्रयोग ठीक सिद्ध हो जाता है। अम् के विषय में 'आदेः परस्य' परिभाषा द्वारा अम् के आदि अकार को मकार आदेश हो कर 'संयोगान्त' लोप करने से 'ज्ञानम्' भी सिद्ध हो जाता है। किन्तु सम्बुद्धि में प्रक्रिया अतीव सरल हो जाती है अर्थात् ज्योंही सम्बुद्धि के सकार को मकार करते हैं त्योंही 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से उस का लोप हो जाता है, अतः 'अदेङ्गुणः' से पूर्वरूप करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

शेखरकार आदियों ने इस मत की खूब आलोचना की है। उन का कथन है कि 'म्' आदेश मानने पर 'ज्ञानम्' आदियों में 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। किञ्च 'एङ्ह्रस्वात्—' के भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार अम् आदेश ही मानते हैं म् आदेश नहीं।

स्वनार्नपु सकात' (२४४) सूत्र मे सुँ और अम् का लुक् प्राप्त था ह्रस्व अकारान्त शब्दों में यह सूत्र उस का बाध करता है। अम् को अम् इसीलिए विधान किया गया है। 'द्विबद्ध सुबद्ध भवति ।

ज्ञान + स्' यहा प्रकृतसूत्र से सुँ का अम् आदेश हो कर अमि पूव (१३५) से पूवरूप करने पर ज्ञान् अम् = ज्ञानम्' प्रयाग सिद्ध हाता है।

ध्यान रहे कि 'सुँ' विभक्तिसञ्ज्ञक है अत इस के स्थान पर आदश होने वाला अम् भी विभक्तिसञ्ज्ञक होगा। अत एव हलन्यम्' (१) द्वारा प्राप्त अम के मकार की इत्सञ्ज्ञा का न विभक्तौ तुस्मा (१३१ , से निषेध हो जायगा।

सम्बुद्धि में हे ज्ञान+स् इस स्थिति में परत्व के कारण सम्बुद्धिलोप का बा ध कर प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदश हो कर अमि पूव (१३५) स पूवरूप करने पर ज्ञानम् हुआ। पुन एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धे ' (१३४) से सम्बुद्धि के हल्—मकार का लोप करने पर 'हे ज्ञान प्रयाग सिद्ध हाता है*।

प्रथमा के द्विवचन में ज्ञान + औ इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३५ नपु सकाच्च ।७।१।१९॥

क्लीबाद् औङः शी स्यात्। भसञ्ज्ञायाम्—

अर्थ —नपु सकलिङ्ग अङ्ग से परे 'औ' को शी आदेश हो जाता है। भसञ्ज्ञा करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता है।)

व्याख्या—नपु सकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है।] औङ ।६।१। [औङ आप ' से] शी ।१।१। [जस शी मे] अर्थ —(नपु सकात्) नपु सक (अङ्गात) अङ्ग से परे (औङ) औङ के स्थान पर (शी) शी आदेश हो। प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन की औङ सञ्ज्ञा है— यह पीछे 'औङ आप ' (२१६) सूत्र पर लिख चुके हैं।

ज्ञान + औ यहा शी आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से ज्ञान+ई हुआ। अब ई' यह 'औ' के स्थान पर आदेश हाने के कारण स्थानिवत्त्वेन स्वादि है। 'सुडनपु सकस्य' (१६३) में नपु सक का वजन होने से सवनामस्थान भी नहीं। किञ्च यह अजादि भी है अत इस के परे होने पर यचि भम्' (१६५) से ज्ञानशब्द की भसञ्ज्ञा हो जाती है। भसञ्ज्ञा होने से अग्रिमसूत्र द्वारा नकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है। तथाहि—

* हे ज्ञान+स्=हे ज्ञान+अम्=हे ज्ञान+म यहा पूवरूप अकार को 'अन्तादिवच्च से पूव का अन्त मान लेने से ज्ञान यह ह्रस्वान्त अङ्ग हो जाता है। तब इससे परे सम्बुद्धि हल=मकार का लोप हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३६ यस्येति च ।६।४।१४८॥
ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः । इत्यलोपे प्राप्ते—

अर्थ—ईकार या तद्धित परे होने पर भसञ्ज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो जाता है।

व्याख्या—यस्य ।६।१। भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] इति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तद्धिते ।७।१। [नस्तद्धिते से] लोपः ।१।१। [अल्लोपोऽनः' से] समास—इश्च अश्च=यम् तस्य=यस्य, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—(ईति) ईकार (च) अथवा (तद्धित) तद्धित परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (यस्य) इवर्ण अवर्ण का (लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण आगे यथास्थान बहुत आएंगे।

ज्ञान+ई यहां ईकार परे है अतः भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है, पर यह अनिष्ट है। अतः इस के निषेध के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२२) औङः श्यां प्रतिषेधः ।
ज्ञाने ।

अर्थ०—औङ् के स्थान पर आदेश हुए शी के परे होने पर यस्येति च' सूत्र का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'यस्येति च' सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः इस से उसी का निषेध होता है। औङः ।६।१। श्याम् ।७।१। प्रतिषेधः ।१।१। अर्थ—(औङः) औङ् के स्थान पर हुए (श्याम्) शी के परे होने पर (प्रतिषेधः) यस्येति च सूत्र का निषेध हो जाता है।

ज्ञान+ई' यहां प्रकृत वार्त्तिक से यस्येति च' (२३६) द्वारा प्राप्त अकारलोप का निषेध हो जाता है। अब आद् गुणः' (२७) से एकार गुण हो कर ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में ज्ञान+जस्' इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३७ जश्शसोः शिः ।७।१।२०॥
क्लीबाद् अनयोः शिः स्यात्।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से परे जस् और शस् को शि' आदेश हो।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। [स्वमोर्नपुंसकात् से] जश्शसोः ।६।२। शिः ।१।१। समास—जश्च शश्च=जश्शसौ तयोः=जश्शसोः, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(नपुंसकात्) नपुंसकलिङ्ग से परे (जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) शि आदेश हो।

जस् और शस् प्रत्यय हैं अतः स्थानिवद्भाव से शि भी प्रत्यय है। प्रत्यय होने से इस के शकार की लशक्वतद्धिते (१३६) से इत्संज्ञा हो जाती है। शेष 'इ' ही बच रहता है।

ज्ञान+शि=ज्ञान+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—२३८ शि सर्वनामस्थानम् ।१।४।४१॥

'शि' इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—'शि' यह सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—शि ।१।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। अर्थः—(शि) शि (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

नपुंसकलिङ्ग में जस् की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती—यह पीछे 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र पर बताया जा चुका है। और शस् की तो सुट् न होने से किसी भी लिङ्ग में सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती। तो यहां नपुंसक में जस् और शस् के स्थान पर होने वाला 'शि' आदेश स्थानिवद्भाव से किसी भी प्रकार सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक नहीं हो सकता, परन्तु इस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा करनी इष्ट है। अतः इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

'ज्ञान+इ' यहां शि की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो गई। अब इस का उपयोग दिखलाते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—२३९ नपुंसकस्य झलचः ।७।१।७२॥

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर झलन्त और अजन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—नपुंसकस्य ।६।१। झलचः ।६।१। नुम् ।१।१। [इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थाने—' से] समासः—झल् च अच् च=झलच्, समासान्तविधेरनित्यत्वाद् 'द्वन्द्वाच्चुद—' इति न टच्। तस्य=झलचः, समाहारद्वन्द्वः। 'नपुंसकस्य' का विशेषण होने से 'झलचः' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (झलचः) झलन्त और अजन्त* (नपुंसकस्य) नपुंसकलिङ्ग का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ‡।

---

* 'अचः परस्मैव झलो नुम्विधानम्' इस भाष्य के नियम से मांसि (मांस+जस्), गवाञ्चि (पूजार्थक) आदि में नुम् न होगा।

‡ यहां हम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४) परिभाषा का किञ्चित् आश्रय ले कर ही अर्थ कर रहे हैं। 'नपुंसकस्य' में अवयवषष्ठी है—इस का निर्णय परिभाषा से ही होता है।

'ज्ञान + इ' यहां 'ज्ञान' यह अजन्तनपुंसक है, इस से परे 'इ' यह सर्वनामस्थान विद्यमान है। अतः 'नपुंसकस्य झलचः' से 'ज्ञान' को नुम् का आगम प्राप्त होता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह नुम् आगम नपुंसक का कौन सा अवयव हो? क्या आद्य अवयव हो या अन्त अवयव? अथवा और ही कुछ हो?। इस की अग्रिम परिभाषा से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२४० मिदचोऽन्त्यात् परः ।१।१।४६॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः—ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पूर्ववत्।

अर्थः—समुदाय के अचों में जो अन्त्य अच् उस से परे मित् का आगम होता है। किञ्च वह उस समुदाय का अन्तावयव माना जाता है।

व्याख्या—मित् ।१।१। अचः ।६।३। अन्त्यात् ।५।१। परः ।१।१। अन्तः ।१।१। [आद्यन्तौ टकितौ से] समासः—म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिसमासः। अचः इति निर्धारणे षष्ठी, सौत्रमेकवचनं जात्यभिप्रायेण। यस्य समुदायस्य मिद् विहितः तस्य समुदायस्य अचाम्मध्ये इत्यर्थः। अर्थः—(मित्) मित् आगम (अचः) जिस समुदाय को विधान किया गया हो उस समुदाय के अचों के मध्य में (अन्त्यात्) जो अन्त्य अच् उस से (परः) पर होता है। किञ्च वह उसी समुदाय का (अन्तः) अन्त अवयव समझा जाता है ×।

भावः—जिस समुदाय को मित् (म् इत् वाला—नुम् आदि) कहा जाय उस समुदाय में जितने अच् हों, उन में से अन्तिम अच् से परे मित् रखा जाना चाहिये, तथा उस मित् को उस समुदाय का अन्तिम अवयव समझना चाहिये।

× यदि मित् समुदायभक्त=समुदाय का अवयव न माना जाय तो 'वहंलिह' आदि प्रयोगों में पदमूलक अनुस्वार न हो सकेगा। तथाहि—वहं लेढीति वहंलिहः। 'वह' कर्म उपपद रहते 'लिह्' धातु से 'वहाभ्रे लिहः' (३.२.३२) से खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वहलिह' होता है। अब 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (७९७) से 'वह' को मुम् का आगम हो कर 'वहम्+लिह' बनता है। 'वह' पदसञ्ज्ञक था अब यदि मुम् को उसका अवयव नहीं मानते तो 'वहम्' यह मान्त पद नहीं हो सकता—जो अनिष्ट है। अब मित् के अन्तावयव स्वीकृत होने से मान्त पद हो जाता है और इस प्रकार अनुस्वार सिद्ध हो जाता है।

ध्यान रहे कि सूत्र का यह अंश जहां उपयोगी होगा वहीं प्रवृत्त होगा प्रयोजनाभाव में इस का उपयोग न होगा। [देखो शेखर और सिद्धान्तमाला]

ज्ञान+इ यहां ज्ञान इस समुदाय को मित्-नुम् विधान किया गया है। 'ज्ञान' में दो अच् हैं, एक अकारोत्तर आकार और दूसरा नकारोत्तर अकार। तो अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार से परे 'नुम्' रखा जायगा और यह ज्ञानशब्द का अन्तावयव समझा जायगा।

ज्ञाननुम्+इ यहां नुम् के उम् का लोप हो कर ज्ञानन्+इ' हुआ। नुम् करने से पूर्व 'ज्ञान' अङ्ग था, परन्तु अब नुम् के अन्तावयव हो जाने से ज्ञानन् यह नान्त अङ्ग हो गया है। नान्त हो जाने पर सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उस की उपधा का दीर्घ हो कर ज्ञानान् + इ = 'ज्ञानानि प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के एकवचन में 'ज्ञान + अम्' इस स्थिति में 'अतोऽम् (२३४) से अम् को अम् आदेश हो जाता है। इस का लाभ स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से अम् का लुक् नहीं होता। पुनः 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में ज्ञान + औ' (औट्) इस स्थिति में पूर्ववत् नपुंसकाच्च (२३५) से औ को शी आदेश हो कर अनुबन्ध लोप और गुण करने से 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् भसञ्ज्ञा, भसञ्ज्ञक अकार के लोप की प्राप्ति तथा उस का वारण कर लेना चाहिये।

द्वितीया के बहुवचन में ज्ञान + शस्' इस स्थिति में पूर्ववत् जश्शसोः शिः (२३७) से शि आदेश, अनुबन्धलोप शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम तथा नान्त अङ्ग की उपधा का दीर्घ हो कर 'ज्ञानानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—नपुंसकलिङ्ग में प्रायः प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप तथा उन की प्रक्रिया एक समान हुआ करती है। हम आगे प्रथमा विभक्ति की ही सिद्धि करेंगे उस से द्वितीया की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

नपुंसक में प्रायः तृतीयादि विभक्तियों के रूप पुंलिङ्ग के समान होते हैं अतः यहां उन की भी सिद्धि नहीं करेंगे। हां जहां कुछ विशेष होगा वहां पूरी २ प्रक्रिया लिखेंगे। ज्ञान शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	,,	ज्ञानेभ्यः
प०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	,,	ज्ञानेषु
सं०	हे ज्ञान !	हे ज्ञाने !	हे ज्ञानानि !

[लघु०] एवं धन-वन फलादयः ।

अर्थ — इसी तरह धन वन फल आदि ह्रस्व अकारान्त नपुंसक शब्दों के रूप बनते हैं।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानविवृद्धि के लिये ज्ञानवत् शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। '*' इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्वप्रक्रिया जान लेना चाहिये। अनुवाद के जिज्ञासु छात्रों को क्रियाशब्द विशेष देखने चाहियें।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अक्षर*	अकारादि वर्ण	आर्द्रक	अदरक	क्षेत्र*	खेत
अगार*	गृह	आसन	आसन	गवेषण	खोज
अग्निकोण	दक्षिणपूर्वीकोना	२५ आस्तिक्य	परलोक स्वीकार	४५ गौरव*	गुरुत्व प्रतिष्ठा
अग्निहोत्र*	होम		करना	चन्दन	चन्दन
५ अघ	पाप	आस्य	मुख	चरण	(पु० न०) पैर
अङ्ग	काय का अवयव	उदर*	पेट	चरित	चालचलन
अञ्जन	सुरमा	ऋत	मानसिक सत्य	चाञ्चल्य	चञ्चलता
अनृत	झूठ	ऐक्य	एकता	५० चातुर्य*	निपुणता
अन्तरिक्ष	आकाश	३० ओदन	भात	चामीकर*	सुवर्ण
१० अन्तःपुर*	रनवास	औत्सुक्य	उत्कण्ठा	चिबुक	ठोडी
अभ्र*	बादल	कङ्कण	कंगन	चिह्न	निशान
अभ्रक*	अभ्रक	कज्जल	काजल	चौर्य*	चोरी
अमृत	जल अमृत	कनक	सुवर्ण धत्तूरा	५५ जठर*	पेट
अम्भोज	पद्म	३५ कमल	कमल	जल	पानी
१५ अम्ल	छाछ, खट्टा	कव्य	पितरों के लिये	जाड्य	मूर्खता
अरविन्द	पद्म		दिया गया अन्न	जातिफल	जयफल
अवसान	विराम, समाप्ति	काञ्चन	सुवर्ण	जाम्बूनद	सोना
अस्त्र*	फेंकने योग्य	कार्य*	काम	६० टङ्कण	सुहागा
	बाण आदि	कुण्ड	हाण्डी	तत्त्व	यथार्थ रूप
अहिफेन	अफ़ीम	४० कुमुद	रात में खिलने	तथ्य	सत्य
२० अंशुक	महीन वस्त्र		वाला श्वेतकमल	तन्त्र*	शास्त्रविशेष
आधिक्य	ज्यादती	कौटिल्य	कुटिलता	तर्पण	देवता ऋषि और
आर्जव	सिधाई	क्षीर*	दूध		पितरों को जलदान

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
६५ताम्बूल	पान	बाल्य	लड़कपन	लवित्र*	दराती चाकू
तारुण्य	जवानी	बीज	कारण	लशुन	लहसुन
तिमिर*	अन्धकार	९५भय	डर	लाङ्गल	हल
तुत्थ	नीला थोथा	भुवन	लोक	लाङ्गूल	पूंछ
तृण	तिनका	भोजन	खुराक	१२५लाघव	हलकापन,
७०तैल	तेल	मनोमालिन्य	रंजीदगी		तन्दुरुस्ती
तोक	सन्तान	मार्दव	कोमलता	लालन	लाड करना
तोय	पानी	१००मित्र*	दोस्त	लालित्य	सौन्दर्य
दाक्षिण्य	चतुरता	मुख	मुँह	लेख्य	दस्तावेज
दास्य	दासता	मूल्य	दाम, कीमत	वक्त्र*	मुख
७५दुःख	दुःख	मौन	चुप्पी	१३०वङ्ग	रांगा कली
दुर्भिक्ष*	अकाल	यन्त्र*	कल व औज़ार	वचन	कथन
दैव	भाग्य	१०५यवस	घास तृण	वज्र*	इन्द्र का अस्त्र
द्वार*	दरवाज़ा	युद्ध	लड़ाई		हीरा
धन	धन	योजन	चार कोस	वन	जंगल
८०नयन	आंख	यौतक	दहेज़ का धन	वसन	वस्त्र
नवनीत	मक्खन	यौतुक	दहेज़ का धन	१३५वाक्य	वाक्य
नास्तिक्य	परलोक स्वीकार	११०यौवन	जवानी	वाङ्मय	शास्त्र
	न करना	रत्न	मणि	वाद्य	बाजा
नेत्र*	आंख	रसायन	जरा व्याधि	वार्त्त	तन्दुरुस्ती
नैपुण्य	निपुणता		नाशक औषध	वार्धक्य	बुढ़ापा
८५पङ्कज	कमल	रहस्य	पोशीदा	१४०वासर*	(पु० न०) दिन
पत्र*	पत्ता	राज्य	राज	वाहन	सवारी
पाण्डित्य	विद्वत्ता	११५रामठ	हींग	वितुन्नक	धनिया
पार्थक्य	जुदाई	लक्षण	भेददर्शक चिह्न	विवर*	छिद्र बिल
पुष्प*	फूल	ललाट	माथा	विश्वभेषज	सोंठ
९०पैशुन्य	चुगलखोरी	ललाम	प्रधान, सुन्दर	१४५विष*	जहर
फल	फल	लवङ्ग	लौंग	वीर्य*	बल पराक्रम
फेन	झाग	१२०लवण	नमक	वृत्त	सदाचार

शब्द	अर्थ
वृन्त	जिस से फल बन्धे रहते हैं
वृन्द	समूह
१५०वेतन	तनख़्वाह
वैचित्र्य*	विचित्रता
वैद्यक	हिकमत
वैधव्य	विधवापन
वैर*	दुश्मनी
१५५व्यलीक	अपकार अप्रिय
व्यसन	विपत्ति, कामज व क्रोधज दोष
व्रण	(पु० न०) क्षत घाव
शस्त्र*	हथियार
शास्त्र*	धर्मग्रन्थ
१६ शूल	दर्द, एक अस्त्र
शैथिल्य	शिथिलता
शैशव	लड़कपन
सख्य	मित्रता
सङ्गीत	नाचना गाना, बजाना तीनों
१६५सत्य	सच
सत्र*	यज्ञ
सदन	घर
सरसिज	कमल
सरसिरुह*	कमल, पद्म
१७०साक्ष्य*	गवाही
सादृश्य	सदृशता
साधन	उपकरण

शब्द	अर्थ
साध्वस	डर
सान्त्वन	दिलासा देना
१७५सामर्थ्य	ताकत
साहस	ज़बरदस्ती
साहाय्य	सहयोग सहायता
सिक्थ	मोम
सिन्दूर*	सिन्दूर
१८०सिंहासन	राजा का तख़्त
सुकृत	पुण्य
सुख	सुख
सुदर्शन	विष्णु का चक्र
सुवर्ण	सोना
१८५सोपान	सीढ़ी
सौकर्य*	आसानी
सौभाग्य	खुशनसीबी
स्तेय	चोरी
स्तोत्र*	स्तुतिग्रन्थ
१९०स्थण्डिल	यज्ञार्थ संस्कृत भूमि
स्थान	जगह
स्थाविर*	बुढ़ापा
स्थैर्य*	स्थिरता
स्फुलिङ्ग	(त्रि०) अग्निकण
१९५स्यन्दन	रथ
स्वस्तिक	गणेशचिह्न
हरिताल	हड़ताल
हर्म्य*	धनियों का घर, महल
हल	हल

शब्द	अर्थ
२००हवन	होम
हव्य	देवयोग्य अन्न
हाटक	सुवर्ण
हालाहल	विषविशेष
हास्तिक	हाथियों का टोला
२०५हास्य	हँसी
हित	भलाई
हिम	बरफ़
हिरण्य	सुवर्ण
हृदय	दिल
२१०हैयङ्गवीन	माखन

— ❀ —

अथ क्रिया-शब्दाः ।

१अन्वेषण	ढूंढना
अपक्षेपण	नीचे फेंकना
अर्चन	पूजना
अवरोहण	उतरना
५आक्रमण	हमला करना
आचमन	आचमन करना
आदान	लेना
आनयन	लाना
आरोहण	चढ़ना
१०आवरण	ढापना
आश्रयण	आश्रय करना
उत्क्षेपण	ऊपर फेंकना
उत्थान	उठना
उद्घाटन	खोलना
१५उन्मज्जन	जल से निकलना
उपवेशन	बैठना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
उपार्जन	कमाना	४५चिन्तन	चिन्ता करना	निरीक्षण	देख भाल करना
कथन	कहना	चुम्बन	चूमना	७५निवसन	निवास करना
कम्पन	कांपना	चूर्णन	चूर्ण करना	निष्कासन	निकालना
करण	करना	चारण	चुराना	निष्पीडन	निचोडना
कर्त्तन	काटना	छेदन	छेदन करना	पचन	पकाना
क्रन्दन	रोना पीटना	५०जपन	जप करना	पठन	पढना
क्रयण	खरीदना	जल्पन	बकवाद करना	८०पतन	गिरना
क्रीडन	खेलना	जागरण	जागना	पलायन	भागना
२५क्षरण	झरना	जीवन	जीना	पान	पीना
खण्डन	तोडना, निषेध	ज्ञान	जानना	पालन	पालना
	करना	५५ज्वलन	जलना	पिधान	ढापना
खादन	खाना	डयन	उडना	८५पूजन	पूजना
खलन	खेलना	तपन	तपना	पेषण	पीसना
गणन	गिनना	तरण	तैरना	पोषण	पालना, पोसना
३०गन्धन	सूचना, सूचन	ताडन	ताडना करना	प्रक्षालन	धोना
गमन	जाना	६० तोलन	तोलना	प्रक्षेपण	फेंकना
गर्जन	गरजना	तोषण	खुश होना	९० प्रशमन	प्रशंसा करना
गर्हण	निन्दा करना	त्यजन	छोडना	प्रसारण	फैलाना
गवेषण	ढूंढना	त्रोटन	तोडना	प्रेषण	भेजना
३५गान	गाना	दहन	जलाना	प्रोञ्छन	पोंछना
गुञ्जन	गूंजना	६५दर्शन	देखना	बन्धन	बान्धना
ग्रसन	ग्रसना	दान	देना	९५बोधन	जानना
ग्रहण	ग्रहण करना	दोहन	दोहना	भक्षण	खाना
घर्षण	घिसना	ध्यान	चिन्तन करना	भरण	पालना
४०घोषण	घोषणा करना	नमन	झुकना	भर्जन	भूनना
चयन	चुनना	७०नर्त्तन	नाचना	भर्त्सन	झिड़कना
चरण	खाना, घूमना	निगरण	निगलना	१०० भाषण	बोलना
चवण	चबाना	निन्दन	निन्दा करना	भिक्षण	भीख मांगना
चलन	चलना	निमज्जन	डुबकी लगाना	भेदन	तोड़ना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
भ्रमण	घूमना	लेखन	लिखना	शयन	सोना
मण्डन	सजाना पुष्ट	१२०लेपन	लीपना	शिक्षण	शिक्षा देना
	करना	लेहन	चाटना	१४०श्रवण	सुनना, कान
१०५मथन	मथना	वञ्चन	ठगना	ष्ठीवन	थूकना
मरण	मरना	वन्दन	नमस्कार करना	सङ्ग्रहण	सङ्ग्रह करना
मान	मापना	वपन	बोना मूंडना	सयोजन	जोड़ना
मार्गण	ढूंढना	१२५वमन	वमन करना	सान्त्वन	दिलासा देना
मिश्रण	मिलाना	वयन	बुनना	१४५सीवन	सीना
११०मेलन	मिलना	वरण	वरना	सूचन	सूचित करना
मोचन	छोड़ना	वर्षण	बरसना	सेवन	सेवा करना व
यजन	यज्ञ करना	वादन	बजाना		इस्तमाल करना
याचन	मांगना	१३०विक्रयण	बेचना	स्तवन	स्तुति करना
रक्षण	रक्षा करना	विक्षेपण	बिखेरना	स्पर्शन	छूना
११५रचन	रचना, बनाना	विखनन	गाड़ना	१५०स्मरण	याद करना
रञ्जन	रंगना, प्रसन्न	विलेखन	खरोचना	स्वीकरण	स्वीकार करना
	करना	विसर्जन	छोड़ना	हनन	मारना
रोदन	रोना	१३५विस्मरण	भूलना	हरण	हरना
लङ्घन	लाङ्घना, उपवास	वेष्टन	घेरना	हसन	हँसना
	करना	व्रजन	जाना	१५५हिंसन	हिंसा करना

कतर (दो में कौन) शब्द अजन्तपुंलिङ्ग में डतरप्रत्ययान्त बताया जा चुका है। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। यहां नपुंसक में इस की प्रक्रिया दिखाते हैं—

कतर + स् (सुँ)। यहां 'अतोऽम्' (२३४) से अम् आदेश प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४१ अद्ड्* डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७।१।२५॥

* 'अद्ड् डतरादिभ्यः०' यहां 'झलां जश् झशि' (६४) से दकार को डकार हो कर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्तलोप करने पर 'अड् डतरादिभ्यः' हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इस का कारण यह है कि वैसा करने से 'अड्' आदेश है या 'अद्ड्' इस का पता नहीं चल सकता था। अतः स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए मुनि ने सन्धि नहीं की है।

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड् आदेशः स्यात् ।

अर्थ—डतर आदि पाञ्च नपुंसक शब्दों से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश हो ।

व्याख्या—डतरादिभ्यः ।५।३। पञ्चभ्यः ।५।३। नपुंसकभ्यः ।५।३। ['स्वमोर्नपुंसकात्' से वचनविपरिणाम कर के] स्वमोः ।६।२। अद्ड् ।१।१। समास—डतर आदिर्येषां ते डतरादयः तेभ्यः=डतरादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास । डतरादि पाञ्च शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते हैं । १ डतर, २ डतम, ३ अन्य, ४ अन्यतर ५ इतर—ये पाञ्च डतरादि कहाते हैं । इन में डतर और डतम प्रत्यय हैं, अतः प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होगा । अर्थ—(डतरादिभ्यः) डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर (पञ्चभ्यः) इन पाञ्च (नपुंसकभ्यः) नपुंसक शब्दों से परे (स्वमोः) सुँ और अम् को (अद्ड्) अद्ड् आदेश हो ।

यह सूत्र 'अतोऽम्' (२३४) का अपवाद है ।

कतर + स यहां सकार को अद्ड् आदेश हो कर— कतर + अद्ड् । 'हलन्त्यम्' (१) से अन्त्य हल्=डकार की इत्सञ्ज्ञा होने से लोप हो कर—'कतर + अद्' । अब यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु यह अनिष्ट है, टिलोप ही इष्ट है । अतः इस का अग्रिमसूत्र से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४२ टेः ।६।४।१४३॥

डिति भस्य टेर्लोपः । कतरत्, कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत् । अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव ।

अर्थः—डित् परे होने पर भसञ्ज्ञक टि का लोप हो ।

व्याख्या—डिति ।७।१। ('तिविंशतेर्डिति' से) भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) टेः ।६।१। लोपः ।१।१। ('अल्लोपोऽनः' से) अर्थ—(डिति) डित् परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (टेः) टि का (लोपः) लोप होता है ।

'कतर + अद्' यहां स्थानिवद्भाव से 'अद्' स्वादि है । तथा अजादि और असर्वनामस्थान भी है, अतः इस के परे होने से 'यचि भम्' (१६५) द्वारा पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है । भसञ्ज्ञा होने से 'अद्ड्' इस डित् के परे होने पर भसञ्ज्ञक टि=अकार का

प्रकृतसूत्र से लोप हो—कतर+अद्=कतरद् । तब वाऽवसाने (१४९) से दकार को विकल्प करके चर्=तकार हो कर—'१ कतरत् २ कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

कतर+औ यहां नपुंसकाच्च (२३) से औ को शी आदेश अनुबन्ध लोप और गुण करने से कतरे प्रयोग सिद्ध होता है ।

कतर+अस् (जस्) यहां जश्शसोः शिः (३७) से जस को शि आदेश हो कर 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से इसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो जाती है । पुनः नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् का आगम हो सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (१७७) से दीर्घ कर नकार को णकार करने से— कतराणि प्रयोग सिद्ध होता है ।

हे कतर+स (सु) यहां भी पूर्ववत् सकार को अद्ड् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक टि का लोप कर चर्त्व करने से— हे कतरत् हे कतरद् ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि यहां एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (१३४) से तकार का लोप नहीं होता क्योंकि कतर यह ह्रस्वान्त अङ्ग नहीं अन्त का अकार तो प्रत्यय का अवयव है प्रकृति का नहीं ।

प्रश्न— अद्ड् आदेश को डित् न करके केवल अद् आदेश का ही विधान क्यों न किया जाय ? ।

उत्तर— यदि केवल 'अद्' आदेश का विधान करते तो 'अम्' में तो कुछ अन्तर न होता क्योंकि अम् के स्थान पर हुए 'अद्' को स्थानिवत् मानने से अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'कतरत्' सिद्ध हो जाता । परन्तु सु में अद् आदेश होने पर अतो गुणे (२७४) को बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर हे कतरात् ! हे कतराद् ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अतः इसे डित् करना ही युक्त है ।

प्रश्न—यदि पूर्वसवर्णदीर्घ का निवारण ही अभीष्ट है तो केवल 'द्' या 'त्' आदेश का ही विधान क्यों नहीं करते ? ।

उत्तर—यदि केवल दकार व तकार आदेश ही विधान करते हैं तो प्रथमा और द्वितीया में तो कोई दोष नहीं आता किन्तु सम्बुद्धि में एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (१३४) से उसका लोप हो कर 'हे कतर' यह अनिष्ट रूप बन जाता है । अतः 'अद्ड्' आदेश ही ठीक है ।

> डित्त्वाभावेऽमि सिद्धेऽपि सावनिष्टं प्रसज्यते ।
> दाऽऽदेशे तु कृते शुद्धे सम्बुद्धौ तत्स्थितिः कुतः ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमा विभक्तिवत् प्रक्रिया होती है । तृतीयादि विभक्तियों में पुल्लिङ्गवत् प्रक्रिया जाननी चाहिए । रूपमाला यथा—

प्र०	कतरत्-द्	कतरे	कतराणि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
च०	कतरस्मै ×	,,	कतरेभ्यः
पं०	कतरस्मात्*	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्†
स०	कतरस्मिन्*	,,	कतरेषु
सं०	हे कतरत्-द्!	हे कतरे!	हे कतराणि!

× सर्वनाम्नः स्मै (१५३)।

* ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५) बहुवचने झल्येत् (१५२)।

इसी प्रकार—१ यतर (दो में जो), २ ततर (दो में वह), ३ कतम (बहुतों में कौन), ४ ततम (बहुतों में वह) ६ एकतम (बहुतों में एक) ७ अन्य (दूसरा), ८ अन्यतर (दो में एक), ९ इतर (भिन्न) शब्दों के उच्चारण होते हैं। ध्यान रहे कि ये सब शब्द त्रिलिङ्गी हैं विशेष्यलिङ्ग के आश्रित रहते हैं। इनका विशेष्य नपुंसक होगा तो ये नपुंसक में प्रयुक्त होंगे।

नोट—अन्यतर और अन्यतम ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं डतरान्त व डतमान्त नहीं। इनमें प्रथम तो सर्वादिगण में पढ़ा गया है और डतरादि पाञ्चों में भी आता है अतः इसका उच्चारण कतरवत् होता है। परन्तु अन्यतम शब्द सर्वादिगण में नहीं आता अतः इसका उच्चारण ज्ञानवत् होता है। अद्ड् आदेश नहीं होता। तथा स्मै, स्मात्, सुट् और स्मिन् भी नहीं होते।

एकतर (दो में एक) शब्द डतर प्रत्ययान्त है, अतः इसकी प्रक्रिया 'कतर' शब्दवत् प्राप्त होती है, परन्तु यह अनिष्ट है। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में ज्ञानवत् रूप ही इष्ट हैं, अतः अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२३) एकतरात् प्रतिषेधः।

एकतरम्।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग में एकतर शब्द से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

व्याख्या—एकतरात् ।५।१। प्रतिषेधः ।१।१। यह वार्त्तिक भाष्य में अद्ड् आदेश के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः यह उसी का निषेध करता है। अर्थ—(एकतरात्) एकतर शब्द से परे (प्रतिषेधः) सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

अद्ड् आदेश न होने से 'ज्ञान' शब्दवत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	एकतरम्	एकतरे	एकतराणि	प०	एकतरस्मात्* एकतराभ्याम्	एकतरेभ्य
द्वि	,,	,,	,,	ष०	एकतरस्य एकतरयो	एकतरेषाम्*
तृ०	एकतरेण	एकतराभ्याम्	एकतरैः	स०	एकतरस्मिन्* ,,	एकतरेषु
च	एकतरस्मै*	,,	एकतरेभ्य	सं०	हे एकतर ! हे एकतरे !	हे एकतराणि !

ध्यान रहे कि * इन स्थानों पर सर्वनामकार्य निर्बाध हो जाते हैं।

अभ्यास (३५)

(१) नपुंसकलिङ्ग में अम् को पुनः अम् विधान करने का क्या प्रयोजन है ?

(२) यदि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा न होती तो क्या २ दोष उत्पन्न हो जाते— सोदाहरण विवेचन करें।

(३) अद्ड्' आदेश को डित करने का क्या प्रयोजन है ?

(४) क्या एकतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है यदि है तो किस सूत्र (?) से अदड आदेश किया जाता है ?

(५) क्या अन्यतम शब्द का उच्चारण कतम' शब्द की तरह होता है ? यदि नहीं तो क्यों ? क्या यह डतमप्रत्ययान्त नहीं ?

(६) ज्ञाने आदि प्रयोगों में औङ्स्थानिक शी को दीर्घ करने का क्या प्रयोजन है ?

(७) शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा क्यों विधान की गई है ? क्या जस्स्थानिक होने से उस की वह सञ्ज्ञा स्वतः ही प्राप्त नहीं हो सकती थी ?

(८) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१ कतरत् । २ अन्यतमम् । ३ ज्ञानानि । ४ ज्ञान । ५ एकतरम् । ६ अन्यतमात् ।

(९) 'अतोऽम्' सूत्र में अम् का छेद करें या म् का ? अपने विचार प्रकट करें।

(यहां ह्रस्व अकारान्त नपुंसक समाप्त होते हैं।)

—०*०—

श्रियम्पातीति = श्रीपम् (कुलम्)। जो कुल आदि लक्ष्मी की रक्षा करे उसे श्रीपा' कहते हैं। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में इसका उच्चारण 'विश्वपा' शब्दवत् होता है। नपुंसकलिङ्ग में इसके उच्चारण में कुछ विशेष है—यह अग्रिम सूत्र द्वारा दर्शाया जाता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४३ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य।

१।२।४७॥

अजन्तस्यत्येव । श्रीपम् । ज्ञानवत् ।

अर्थ — नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्व ।१।१। नपुंसके ।७।१। प्रातिपदिकस्य । ।१। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सदा अच् के स्थान पर ही हुआ करते हैं । जहां इनका विधान होता है वहां 'अच्' (अच् के स्थान पर) यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । [यह 'अचश्च' परिभाषा का तात्पर्य है ।] यहां भी 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण बन जायगा । तब येन विधिस्तदन्तस्य द्वारा इससे तदन्तविधि हो कर—'अजन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जायगा । अर्थ —(नपुंसक) नपुंसकलिङ्ग में (अचः) अजन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अच् के स्थान पर ही ह्रस्व होता है ।

श्रीपा यहां अन्त्य आकार को ह्रस्व हो कर श्रीप शब्द बन जाता है । अब इस से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया ज्ञान शब्दवत् होती चली जाती है । रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि	प०	श्रीपात्	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्यः
द्वि०			,,	ष०	श्रीपस्य	श्रीपयोः	श्रीपाणाम्
तृ०	श्रीपेण	श्रीपाभ्याम्	श्रीपैः	स०	श्रीपे		श्रीपेषु
च०	श्रीपाय		श्रीपेभ्यः	सं०	हे श्रीप !	हे श्रीपे !	हे श्रीपाणि !

नोट—'श्रीपाणि' आदि प्रयोगों में एकाजुत्तरपदे णः (२८६) से ही णत्व होता है । भिन्न २ पद होने के कारण 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार विशेष्य के नपुंसक होने पर—विश्वपा, गोपा, कीलालपा, सोमपा आदि धात्वन्त आकारान्त शब्दों के उच्चारण होते हैं ।

(यहां आकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं)

—०ॐ०—

[लघु०] द्वे २ ।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द त्रिलिङ्गी है । विशेष्य के नपुंसक होने पर यह भी नपुंसक हो जाता है ।

'द्वि+औ' यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) से इकार को अकार, 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्धलोप तथा आद् गुणः (२७) से गुण एकादेश करने से 'द्वे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'द्वि + भ्याम्' । त्यदाद्यत्व हो कर 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ करने पर द्वाभ्याम् रूप सिद्ध होता है ।

द्वि+ओस् । त्यदाद्यत्व 'ओसि च' (१४७) से अकार को एकार तथा एचोऽयवायाव (२२) से अय् आदेश करने पर सकार का रुँ त्व और रेफ को विसर्ग हो कर द्वयो प्रयोग सिद्ध होता है । सम्पूर्ण रूपमाला यथा —

प्र	०	द्वे	०	पं०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि	०	,	०	ष०		द्वयो	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०		०
च	०		०	सम्बोधन नहीं होता ।			

नोट—ध्यान रहे कि यद्यपि स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में 'द्वि' शब्द के एक समान रूप होते हैं । तथापि इन दोनों में प्रक्रिया का महान् अन्तर है ।

[लघु०] त्रीणि २ ।

व्याख्या—त्रि (तीन) शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी होता है । यह सदा बहुवचनान्त होता है । नपुंसकलिङ्ग में इस की प्रक्रिया यथा—

त्रि + अस् (जस व शस) इस स्थिति में शि आदेश सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम और सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ हो कर अट्कुप्वाङ्— (१३८) से नकार को णकार आदेश करने से 'त्रीणि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

त्रि + भिस् = त्रिभि । त्रि + भ्यस् = त्रिभ्य ।

षष्ठी के बहुवचन में त्रि + आम् इस दशा में त्रेस्त्रय (१६२) से त्रय आदेश ह्रस्वमूलक नुट् आगम तथा नामि (१४६) से दीर्घ कर नकार का णकार करने से त्रयाणाम् प्रयोग सिद्ध होता है ।

त्रि + सु (सुप) = त्रिषु । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	त्रीणि	पं०	०	०	त्रिभ्य
द्वि०	०	०	,	ष०	०	०	त्रयाणाम
तृ०	०	०	त्रिभि	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्य	सम्बोधन नहीं होता ।			

'वृञ् वरणे' (स्वा० उभ०) धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय करने से 'वारि' शब्द सिद्ध होता है । यद्यपि सरस्वती अर्थ में 'वारि' शब्द स्त्रीलिङ्ग भी होता है यथा—

'वारिस्तु सरस्वत्यां स्त्रियां मता' (इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरिमहोदया), तथापि 'जल' अर्थ में नित्यनपुंसक ही हुआ करता है ।

वारि + स (सुँ) । यहां अदन्त न होने से 'अतोऽम्' (२३४) द्वारा सकार को अम् आदेश नहीं होता । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४४ स्वमोर्नपुंसकात् ।७।१।२३॥

लुक् स्यात् । वारि ।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से परे सुँ और अम् का लुक् हो ।

व्याख्या—स्वमोः ।६।२। नपुंसकात् ।५।१। ['षड्भ्यो लुक्' से] समास—सुश्च अम् च = स्वमौ, तयोः = स्वमोः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक से परे (स्वमोः) सुँ और अम् का लुक् हो जाता है ।

यह उत्सर्गसूत्र है । इसका अपवाद 'अतोऽम्' (२३४) सूत्र और उस का भी 'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (२४१) सूत्र पीछे लिख चुके हैं । यह लुक् सुँ और अम् के सम्पूर्ण स्थान पर प्रवृत्त होता है ।

प्रश्न—'आदेः परस्य' (७२) द्वारा यह लुक् अम् के आदि अकार के स्थान पर क्यों न हो जाय ?

उत्तर—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८९) सूत्र में बताया जा चुका है कि लुक् प्रत्यय के अदर्शन को कहते हैं । यहां अम् का लुक् करना है । अम् का अकार या मकार प्रत्यय नहीं किन्तु सम्पूर्ण समुदाय अम् ही प्रत्यय है । अतः यदि सम्पूर्ण अम् का अदर्शन करेंगे तो तभी लुक् सार्थक होगा अन्यथा नहीं । इस से सम्पूर्ण अम् का लुक् होता है, केवल आदि अकार का नहीं ।

वारि + स । यहां प्रकृतसूत्र से सकार का लुक् हो कर 'वारि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रथमा के द्विवचन में 'वारि + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वारि + ई' हुआ । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४५ इकोऽचि विभक्तौ* ।७।१।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि ।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे होने पर इगन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो ।

* 'इकोऽचि सुपि' इत्येव सुवचम् इति नागेशो मन्यते ।

व्याख्या—इकः ।६।१। नपुंसकस्य ।६।१। [नपुंसकस्य झलचः से] नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। नपुंसकस्य का विशेषण होने से इकः से तदन्तविधि हो कर 'इगन्तस्य नपुंसकस्य' बन जाता है। 'अचि' से तदादि विधि हो कर अजादौ विभक्तौ बन जाता है। अर्थः—(अचि= अजादौ) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। मित् होने से यह नुम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

वारि + ई । यहां 'वारि' यह इगन्त नपुंसक है। इस से परे 'ई' यह अजादि विभक्ति वर्त्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इगन्त का नुम् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'वारिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में वारि + अस् (जस्)। इस स्थिति में पूर्ववत् शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम, अनुबन्धलोप, उपधादीर्घ तथा नकार को णकार आदेश हो कर 'वारीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

हे वारि + स् । यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२२४) से सुँ का लुक् हो कर 'हे वारि !' हुआ। अब यहां 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९) से सम्बुद्धि का निमित्त मान कर 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं हो सकता। हमें यहां पाक्षिक गुण करना अभीष्ट है। अतः 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) की अनित्यता सिद्ध करते हैं—

[लघु०] 'न लुमता—' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः— हे वारे। हे वारि ! । आङो ना—वारिणा। 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—'न लुमताङ्गस्य' (१९१) यह निषेध अनित्य है। अतः पक्ष में ह्रस्वस्य गुणः (१६६) से सम्बुद्धिनिमित्तक गुण भी हो जाता है। गुणपक्ष में—हे वारे ! और गुणाभाव में—हे वारि !।

व्याख्या—'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र अनित्य है। इस में ज्ञापक 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण है। हम इसे समझाने के लिये पक्षात्मक ढंग से विचार करते हैं। तथाहि—

पूर्वपक्षी—'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र में 'अचि' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरपक्षी—वारि + भ्याम् इत्यादि रूपों में भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में नुम् न हो जाय इसलिये सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण किया गया है।

पूर्वपक्षी—वारिभ्याम् आदि रूपों में यदि नुम् हो भी जाय तो भी उस का 'न लोप—' (१८) द्वारा लोप हो जाने से कोई दोष नहीं आएगा। अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—तो 'हे वारि' यहां लुक् हुए सम्बुद्धि को निमित्त मान कर नुम् न हो जाय, इसलिये 'अचि' पद का ग्रहण किया है।

पूर्वपक्षी—सम्बुद्धि में भी 'न लोप—' से नकार का लोप हो जायगा।

उत्तरपक्षी—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सम्बुद्धि में 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र नकार का लोप नहीं करने देता। अतः 'हे वारिन्!' आदि अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति के लिये 'अचि' पद का ग्रहण करना आवश्यक है।

पूर्वपक्षी—ओहो! सम्बुद्धि में तो नुम् प्राप्त ही नहीं हो सकता क्योंकि विभक्ति का लुक् होने से 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है। अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—आप का कथन सत्य है। इस प्रकार 'अचि' पद के बिना भी 'वारिभ्याम्, हे वारि' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर आचार्य के पुनः 'अचि' पद के ग्रहण से 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र की अनित्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी—'अचि' पद के ग्रहण से भला आप कैसे 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र की अनित्यता का अनुमान करते हैं?

उत्तरपक्षी—यदि 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) निषेध नित्य होता, तो सम्बुद्धि में उस का आश्रय कर के नुम् ही प्राप्त न हो सकता। पुनः उस के निषेध के लिये 'अचि' पद की कोई आवश्यकता ही न होती। परन्तु आचार्य का उस के निषेध के लिये यत्न करना सिद्ध करता है कि आचार्य 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) निषेध को नित्य नहीं मानते।

'हे वारि' यहां सम्बुद्धि में 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) निषेध के अनित्य होने से अनित्यपक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (१२९) से गुण हो कर—'हे वारे!' और नित्यपक्ष में गुण न होने से—'हे वारि!' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं*।

---

* यद्यपि 'इकोऽचि विभक्तौ' के भाष्य में 'हे त्रपो!' और 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' के भाष्य में 'हे त्रपु!' ऐसे दो प्रयोग पाये जाते हैं तथापि हमारा मत प्रत्येक इगन्त नपुंसक के सम्बुद्धि में दो दो

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

तृतीया के एकवचन में 'वारि+आ (टा) इस स्थिति में इकोऽचि—' (७ १ ७३) की अपेक्षा पर होने के कारण 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७ ३ १२०) से टा को ना आदेश हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

वारि + भ्याम् = वारिभ्याम्। वारि+भिस् = वारिभिः।

चतुर्थी के एकवचन में 'वारि + ए' इस अवस्था में घिसञ्ज्ञा हो कर नुम् की अपेक्षा पर होने के कारण 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। परन्तु यहां नुम् करना ही अभीष्ट है। अतः अग्रिम वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(२४) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥ वारिणे। वारिणः २। वारिणोः २। 'नुमचिर—' (वा० १६) इति नुट्—वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

अर्थः—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण इन के साथ विप्रतिषेध होने पर, पूर्व भी नुम् प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या— 'अचो ञ्णिति' (७ २ ११५) से प्राप्त वृद्धि, 'अच्च घेः' (७ ३ ११९) से प्राप्त औत्व, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७ १ ९५) और 'विभाषा तृतीया—' (७ १ ९७) से प्राप्त तृज्वद्भाव तथा 'घेर्ङिति' (७ ३ १११) से प्राप्त गुण यद्यपि नुम् (७ १ ७३) से पर हैं और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार इन की ही प्रवृत्ति उचित है तथापि नुम् की प्रवृत्ति पूर्वविप्रतिषेध से हो जाती है। अर्थात् इन के साथ नुम् का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) का दूसरा अर्थ—'अपरं कार्यम्' मान कर नुम् की प्रवृत्ति हो जाती है।*

—रूप बनाना स्वीकार नहीं करता। 'न लुमताऽङ्गस्य' निषेध के अनित्य होने से केवल कहीं २ अपो! आदि पूर्वमहानुभावों के लिखे रूपों में ही गुण का समाधान करना चाहिये न कि सर्वत्र विकल्प नहीं तो फिर अव्यवस्था हो जायगी। कैयट ने 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र के प्रदीप में इस का उल्लेख भी किया है।

* इन के उदाहरण भाष्य में अतीव सरल उपाय से समझाए गये हैं। तद्यथा—

गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। तत्र गुणस्यावकाशः—अग्नये वायवे। नुमोऽवकाशः—त्रपुणी, जतुनी। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणे जतुने। वृद्धेरवकाशः—सखायौ सखायः। नुम

वारि + ए' यहां पूर्वविप्रतिषेध के कारण गुण को बान्ध कर इकोऽचि विभक्तौ (२४५) से नुम् का आगम हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वारि + अस्' (ङसि व ङस्) यहां भी घेर्ङिति' (१७२) से प्राप्त गुण को पूर्व विप्रतिषेध के कारण नुम् बान्ध लेता है—वारिणः ।

'वारि + ओस्' यहां परत्व के कारण 'इको यणचि' (१५) को बान्ध कर नुम् प्रवृत्त हो जाता है—वारिणोः ।

षष्ठी के बहुवचन में वारि + आम् इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का और 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) से अङ्ग को नुम् का आगम प्राप्त हुआ। 'नुमचिर—' (वा० १६) वार्त्तिक के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् हो गया। तब 'नामि' (१४६) से दीर्घ और नकार को णकार करने पर 'वारीणाम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यदि नुम् हो जाता तो वह 'वारि' का ही अवयव होता, आम् का नहीं। तब नाम् परे न रहने से 'नामि' द्वारा दीर्घ न हो सकता। किञ्च तब अङ्ग के अजन्त न होकर नान्त हो जाने से वारिणाम् ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

सप्तमी के एकवचन में वारि+इ' इस अवस्था में अच्च घेः (१७४) से ङि को औत्व और 'इकोऽचि विभक्तौ (२४५) से अङ्ग को नुम् प्राप्त होने पर वृद्ध्यौत्व——— (वा० २४) वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुम् हो जाता है। तब नकार को णकार होकर—'वारिणि' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि	प०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारिणोः	वारीणाम्
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	स०	वारिणि	,,	वारिषु
च०	वारिणे	,,	वारिभ्यः	सं०	हे वारि !, वारे !	हे वारिणी !	हे वारीणि !

नोट—'वारि' शब्द की तरह उच्चारण वाले शब्द संस्कृत साहित्य में शायद ही कुछ हों। नपुंसक में इदन्त शब्द प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं। उन का उच्चारण आगे आने वाले 'सुधि' शब्द की तरह होता है।

—स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि। औत्वस्यावकाशः—अग्नौ, वायौ। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणि, जतुनि। तृज्वद्भावस्यावकाशः—क्रोष्टा, क्रोष्टुना। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कृशक्रोष्टुनेऽरण्याय, हितक्रोष्टुने वृषलकुलाय। नुम् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन।

[महाभाष्ये 'स्त्रियाञ्च' इत्यत्र द्रष्टव्यम्]

दधि (दही) शब्द के उच्चारण में वारि की अपेक्षा कुछ अन्तर पड़ता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति की प्रक्रिया तो वारिशब्द के समान ही होती है कुछ विशेष नहीं होता परन्तु तृतीया आदि अजादि विभक्तियों में निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होती है।

दधि + आ (टा) यहां घिसञ्ज्ञा होने से आङो ना— (१७१) द्वारा टा को ना आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४६ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः । ७।१।७५॥

एषामनङ् स्यात् टादावचि।

अर्थः—तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर अस्थि दधि सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर उदात्त* अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। विभक्तिषु ।७।३। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचनविपरिणाम कर के] तृतीयादिषु ।७।३। [तृतीयादिषु भाषित— से] अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् ।६।३। अनङ् ।१।१। उदात्तः ।१।१। समासः—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च=अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम्=अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इति परिभाषया आप्यक्षिशब्दस्यानङ्। 'अचि' से तदादिविधि हो कर 'अजादिषु तृतीयादिषु विभक्तिषु' बन जाता है। अर्थः—(अचि) अजादि (तृतीयादिषु) तृतीया आदि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्) अस्थि दधि सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त होता है।

अनङ् आदेश में ङकार इत्सञ्ज्ञक है। अतः ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा यह अन्त्य इकार के स्थान पर आदेश होगा। अनङ् में नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। इस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।†

टा, ङे ङसि, ङस् ओस् आम ङि और ओस् ये आठ तृतीयादि अजादि विभक्तियां हैं।

दधि+आ' यहां प्रकृतसूत्र से अन्त्य इकार को अनङ् आदेश होकर—दधन्+आ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः हम स्वरप्रक्रिया पर विचार नहीं कर रहे विशेषजिज्ञासु काशिका आदि का अवलोकन करें।

† उच्चारणार्थकों की स्थिति उच्चारण के अनन्तर नहीं रहती अर्थात् प्रक्रियाकाल में वे नहीं लिये जाते। यथा यहां उच्चारण करते समय तो 'अनङ' कहेंगे परन्तु प्रक्रिया के समय 'अन्ङ' रखेंगे।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४७ अल्लोपोऽनः ।६।४।१३४॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपः। दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।

अर्थः—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—अत् ।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक्०' से षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। अनः ।६।१। भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] जिससे परे सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि प्रत्यय हों उसे 'भ' कहते हैं—यह पीछे (पृष्ठ २३१) स्पष्ट कर चुके हैं । अर्थः—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों से भिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अतः) अत् का (लोपः) लोप हो जाता है ।*

'दधन्+आ' यहां सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय टा परे होने से अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ना' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'दधि+ए' (ङे) यहां अनङ् आदेश होने पर प्रकृतसूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ने' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'दधि + अस्' (ङसिँ व ङस्) यहां भी पूर्ववत् अनङ् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप करने से 'दध्नः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ओस् में 'दध्नोः' और आम् में 'दध्नाम्' भी पूर्वोक्त प्रकारेण बनते हैं ।

ङि में 'दधि+इ' इस अवस्था में अनङ् आदेश होकर 'दधन्+इ' हुआ । अब

---

* यहां 'भस्य' और 'अङ्गस्य' ये दो अधिकार आ रहे हैं । "भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार यदि अर्थ करें तो—अनसा, मनसा आदियों में आदि अकार का भी लोप हो जायगा । यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—तक्ष्णा आदियों में तकारोत्तर अकार के लोप की भी प्राप्ति आएगी । यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—अनस्तक्ष्णा इत्यादियों में भी आदि अकार का लोप प्राप्त होगा । अतः इन सब दोषों से बचने का उपाय केवल यही है कि उपर्युक्त अर्थ किया जाय । यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि मूलगत अर्थ और इन अर्थों में केवल यही भेद है कि मूलगत अर्थ में 'भस्य' का सम्बन्ध 'अनः' से किया गया है और इन सब अर्थों में 'भस्य' का सम्बन्ध 'अङ्गस्य' के साथ किया गया है । इस विषय पर विस्तृत विचार प्रौढमनोरमा शब्दरत्न आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये । यहां इतना जानना ही पर्याप्त है ।

'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन के अकार का नित्यलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४८ विभाषा ङिश्योः ।६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपो वा स्याद् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि । शेषं वारिवत् । एवम् अस्थि-सक्थ्यक्षि ।

अर्थ—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का विकल्प करके लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्ययों में से केवल 'ङि' व 'शी' परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। ङिश्योः ।७।२। अत् ।६।१। लोपः ।१।१। अनः ।६।१। ['अल्लोपोऽनः' से] भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं।] समास— ङिश्च शी च = ङिश्यौ, तयोः = ङिश्योः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थ—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अत्) अकार का (विभाषा) विकल्प करके (लोपः) लोप हो जाता है (ङिश्योः) ङि अथवा शी परे होने पर।

यहां 'शी' यह नपुंसकलिङ्ग वाला दीर्घ ही लिया जाता है। ह्रस्व शि तो 'शि सर्वनामस्थानम्' (२१८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है उसके परे होने पर भसञ्ज्ञा का होना ही असम्भव है।

'दधन् + इ' यहां ङि परे है, अतः प्रकृतसूत्र से अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो गया। लोपपक्ष में—'दध्नि' और लोपाभावपक्ष में—'दधनि' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि	पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	दध्नोः	दध्नाम्
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः	स०	दध्नि, दधनि	,,	दधिषु
च०	दध्ने	,,	दधिभ्यः	सं०	हे दधे !, दधि !	हे दधिनी !	हे दधीनि !

इसी प्रकार—अस्थि (हड्डी), सक्थि (ऊरु, जङ्घा) और अक्षि (आँख) शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे !, हे सुधि ! ।

व्याख्या—'सुधी' शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। 'कुलम्' आदि के विशेष्य होने पर यह नपुंसक हो जाता है। 'नपुंसक में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व हो कर 'सुधि' शब्द बन जाता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में इस की प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है। तृतीयादि विभक्तियों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिमसूत्र द्वारा बतलाया जाता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—२४६ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ।७।१।७४॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि।

अर्थः—यदि प्रवृत्तिनिमित्त एक हो तो इगन्त नपुंसक भाषितपुंस्क शब्द अजादि तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर विकल्प कर के पुंवत् होता है।

व्याख्या—तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।३। विभक्तिषु ।७।३। इक् ।१।१। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचन और विभक्ति का विपरिणाम कर के] नपुंसकम् ।१।१। ['नपुंसकस्य झलचः' से] भाषितपुंस्कम् ।१।१। पुंवत् इत्यव्ययपदम्। गालवस्य ।६।१। 'अचि' से तदादिविधि तथा 'इक' से तदन्तविधि हो जाती है। समास—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, बहुव्रीहिसमासः। तद् अस्यास्तीति—भाषितपुंस्कम्। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। 'शब्दस्वरूपम्' इति विशेष्यमध्याहार्यम्। अर्थः—(तृतीयादिषु) तृतीयादि (अचि=अजादौ) अजादि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (इक्=इगन्तम्) इगन्त (नपुंसकम्) नपुंसक शब्द (भाषितपुंस्कम्) जो पुंल्लिङ्ग में भी उसी प्रवृत्तिनिमित्त से भाषित हुआ हो, (गालवस्य) गालव आचार्य के मत में (पुंवत्) पुंलिङ्गवत् होता है।

गालव के मत में पुंवत् और अन्यआचार्यों के मत में पुंवत् न होने से पुंवद्भाव का विकल्प हो जायगा। पुंवद्भाव का अभिप्राय यह है कि जो २ कार्य पुंलिङ्ग में होते हैं वे यहां नपुंसक में भी हो जाएँ।

('प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं ?)

प्रत्येक शब्द का अपने वाच्य को बोधन कराने का कोई न कोई निमित्त अवश्य हुआ करता है। इस निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यथा—'घट' शब्द का घड़े को बोध कराने का निमित्त 'घटत्व' है, अर्थात् घट को घट इसीलिये कहते हैं क्योंकि इस में

घटत्व पाया जाता है। यदि घटत्व न पाया जाए तो उसे कोई भी घट न कहे। तो यहां घटत्व' प्रवृत्तिनिमित्त हुआ। शुक्ल को शुक्ल कहने का प्रवृत्तिनिमित्त शुक्लत्व है। यदि शुक्ल में शुक्लत्व न पाया जाए तो उसे कोई भी शुक्ल न कहे। पाचक को पाचक कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'पाककर्तृत्व' अर्थात् पकाने की क्रिया का करना है। यदि रसोइये में पकाना न पाया जाय तो उसे कोई भी पाचक न कहे। इसी प्रकार देवदत्त आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त तत्तद् विशेष आकृति ही होती है। सार यह है कि जिस विशेषता के कारण कोई शब्द अपने अर्थ को जनाता है, उस शब्द की वह विशेषता ही उस का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। तथाहि—

१	घट	शब्द की विशेषता	घटत्व'	ही प्रवृत्तिनिमित्त है।
२	'पट	,, ,,	'पटत्व	,, ।
३	'यज्ञदत्त	,, ,,	'आकृति विशेष'	,, ।
४	सुधी'	,, ,,	शोभनध्यानवत्त्व'	,, ,, ,, ।
५	सुलू	,, ,,	शोभनलवनकर्तृत्व'	,, ।
६	धातृ	,, ,,	धारणकर्तृत्व'	,, ,, ।
७	'अनादि	,, ,,	'आदिहीनता	,, ,, ।
८	ज्ञातृ'	,, ,, ,,	''ज्ञानकर्तृत्व'	,, ,, ,, ।
९	'प्रद्यु	,, ,, ,,	'निर्मलाकाशवत्त्व	,, ।
१०	'प्ररि'	,, ,,	''प्रकृष्टधनवत्त्व	,, ,, ।
११	'सुनु'	,,	शोभननौकावत्त्व''	,, ।*

सूत्र का भावार्थ—जिस इगन्त नपुंसकलिङ्गी शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त नपुंसक मे हो यदि वही प्रवृत्तिनिमित्त उस का पुंलिङ्ग में भी हो तो तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे होने पर उस में विकल्प कर के पुंलिङ्गवत् कार्य होते हैं।

सुधि शब्द इगन्त नपुंसक है। इस का प्रवृत्तिनिमित्त शोभनध्यानकर्तृत्व है। पुंल्लिङ्ग में भी इस का वही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे विकल्प कर के पुंवत्कार्य होंगे। पुंवत्पक्ष में पुनः वही दीर्घान्त 'सुधी' शब्द आ जायगा। तब 'न भूसुधियोः' (२०१) से यण् का निषेध हो कर 'अचि श्नु—' (१९९) से

---

* प्रवृत्तिनिमित्तम्पदशक्यतावच्छेदकम्। यथा घटत्वं घटपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं शुक्लादिपदस्य शुक्लत्वम्, पाचकादेः पाकः, देवदत्तादेस्तत्तत्पिण्डादौ प्रवृत्तिनिमित्तम्भवति। प्रवृत्तिनिमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तिः—प्रवृत्तेः=शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तम्=प्रयोजकम् इति। तच्च शक्यतावच्छेदकम्भवतीति ज्ञेयम्। तल्लक्षणञ्च प्रकारतया शक्तिग्रहविषयत्वम्—इति तत्त्वचिन्तामणौ श्रीगङ्गेशोपाध्यायाः।

इयँङ् करने पर 'सुधिया' आदि रूप बनेंगे। जिस पक्ष में पुंवत् न होगा उस पक्ष में वारि शब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'सुधिना' आदि रूप सिद्ध होंगे। इस की रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
चतुर्थी	सुधिये, सुधिने	,,	सुधिभ्यः
पञ्चमी	सुधियः, सुधिनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुधियोः सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
सप्तमी	सुधियि, सुधिनि	,, ,,	सुधिषु
सम्बोधन	हे सुधे !, हे सुधि !	हे सुधिनी !	हे सुधीनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। इन में भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'हरि' शब्द की तरह तथा उस के अभाव में 'वारि' शब्द की तरह प्रक्रिया होती है।

१ अनादि = जिस का आदि न हो (ब्रह्म)।
२ सादि = जिस का आदि हो (कार्यम्)।
३ सुकवि = अच्छे कवि वाला (कुलम्)।
४ सुमुनि = अच्छे मुनियों वाला (वनम्)।
५ सुनिधि = अच्छे खज़ाने वाला (राष्ट्रम्)।
६ सुमणि = अच्छे मणियों वाला (भूषणम्)।
७ सुध्वनि = अच्छी आवाज़ वाला (वाद्यम्)।
८ निरादि = आदिहीन (ब्रह्म)।
९ सुसूरि = अच्छे विद्वानों वाला (कुलम्)।
१० अतिकवि = कवियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
११ अतिमुनि = मुनियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१२ अतिनिधि = निधि का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१३ अतिमणि = मणियों का उल्लङ्घन कर्त्ता (कुलम्)।
१४ अतिध्वनि = ध्वनि को लांघा हुआ (वनम्)।

[लघु०] मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो !, हे मधु !।

व्याख्या— 'मधु' शब्द पुन्नपुंसक होता है। पुंलिङ्ग में इस का अर्थ '१ वसन्त ऋतु, २ चैत्रमास, ३ दैत्यविशेष' आदि होता है। नपुंसक में इस का अर्थ '१ शहद, २ मद्य' आदि होता है। अत एव प्रवृत्तिनिमित्त के एक न होने से यह भाषितपुंस्क नहीं होता। नपुंसक में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है; किञ्चित् भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—(मधु = शहद)

प्र० मधु	मधुनी	मधूनि		पं० मधुन	मधुभ्याम्	मधुभ्य
द्वि० ,	,	,,		ष० ,,	मधुनो	मधूनाम्
तृ० मधुना	मधुभ्याम्	मधुभि		स० मधुनि	,	मधुषु
च० मधुने	,	मधुभ्य		सं० हे मधो ! मधु ! हे मधुनी ! हे मधूनि !		

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण होता है। * यह चिह्न षत्व प्रक्रिया का द्योतक है—

१ वसु=धन। २ वस्तु=पदार्थ, चीज। ३ अम्बु=जल। ४ जतु=लाख। ५ अश्रु*=आंसु। ६ श्मश्रु*=दाढ़ी मूछ। ७ तालु=दान्तों के पीछे कठिन मुख की छत। ८ हिङ्गु=हींग। ९ शिलाजतु= शिलाजीत। १० जत्रु*=गले के नीचे की दो हड्डियाँ स्कन्धसन्धि। ११ पीलु†=पीलु का फल। १२ उडु‡=नक्षत्र तारा। १३ दारु*=लकड़ी×। १४ त्रपु*=जो अग्नि को पा कर मानो लज्जा से पिघल जाता है—सीसा व रांगा।

† पीलु' शब्द पुंलिंग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका पुंलिङ्ग में पीलु-वृक्ष और नपुंसक में पीलु फल' अर्थ होता है। अतः प्रवृत्ति निमित्त के एक न होने के कारण यह भाषितपुंस्क नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥"

‡ उडु' शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिंग दोनों में प्रयुक्त होता है; अतः यह भाषितपुंस्क नहीं होता।

× कुछ लोगों के मत में 'दारु' शब्द पुंलिङ्ग भी माना जाता है। तब वह भाषितपुंस्क भी हो जायगा। इसी प्रकार देवदारु शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। "अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्" रघुवंश—२ ३६।

नोट—ध्यान रहे कि विशुद्ध उदन्त नपुंसक शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत थोड़े हैं। हाँ! भाषितपुंस्क पर्याप्त मिल सकते हैं। इनका वर्णन आगे देखें।

[लघु०] सुलु। सुलुनी। सुलूनि। सुल्वा, सुलुनेत्यादि।

व्याख्या—सुष्ठु लुनातीति सुलु (शस्त्रम्)। जो भली प्रकार काटता है उसे सुलु' कहते हैं। विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से यह शब्द त्रिलिङ्गी है। नपुंसक में पूर्ववत् (२४३) सूत्र से ह्रस्व होकर सुधीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। प्रवृत्तिनिमित्त के

एक होने से तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इस भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'ओः सुपि' (२१०) से यण् होता है। रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
द्वितीया	,,		,,
तृतीया	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
चतुर्थी	सुल्वे, सुलुने	,,	सुलुभ्यः
पञ्चमी	सुल्वः, सुलुनः		,,
षष्ठी	,, ,,	सुल्वोः सुलुनोः	सुल्वाम्, सुलूनाम्
सप्तमी	सुल्वि, सुलुनि		सुलुषु
सम्बोधन	हे सुलो ! हे सुलु !	हे सुलुनी !	हे सुलूनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। पुंवत्पक्ष में इनका उच्चारण भानुवत् तथा पुंवद्भाव के अभाव में मधुवत् होता है—

१ गुरु=बड़ा
२ लघु=छोटा
३ साधु=सरल सूधा
४ पटु=चतुर
५ विभु=व्यापक
६ मृतु=मरा हुआ
७ जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला
८ पिपासु=पीने की इच्छा वाला
९ श्रद्धालु=श्रद्धा करने वाला
१० सहिष्णु=सहन करने वाला
११ वन्दारु=वन्दनशील
१२ ऋजु=सरल
१३ दयालु=दया करने वाला
१४ दिदृक्षु=देखने का इच्छुक
१५ चिकीर्षु=करने का इच्छुक
१६ स्वादु=स्वादिष्ट
१७ मञ्जु=मिले हुए घुटनों वाला
१८ प्रज्ञु=टेढ़े घुटनों वाला
१९ तनु=सूक्ष्म
२० वर्त्तिष्णु=वर्त्तनशील, होने वाला
२१ विजिगीषु=जीतने का इच्छुक
२२ वर्धिष्णु=वृद्धिशील
२३ कटु=तीखा (मरिचवत्)
२४ स्पृहयालु=इच्छा करने वाला
२५ संशयालु=संशयशील
२६ कमण्डलु*=सन्यासियों का जलपात्र
२७ कम्बु×=शंख
२८ शीधु‡=गन्ने से निर्मित शराब
२९ जीवातु‡=जीवन औषध
३० जानु†=घुटना
३१ सानु+=पहाड़ की चोटी
३२ मृदु=कोमल

* 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

× 'शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियौ' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

‡ 'पुंनपुंसकयोर्दारु जीवातु स्थाणु शीधव' इति त्रिकाण्डशेषः। 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी।

† जानुशब्दोऽर्धर्चादिः। + 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरप्रामाण्यादस्य पुंनपुंसकता। अत्र विशेषस्तु सिद्धान्तकौमुद्यामवसेयः।

इसी प्रकार—सुशिशु, सुतरु, सुवायु, सुगुरु, सुप्रभु, सुक्रतु, सुपरशु, सुबाहु, सुधातु, सुबन्धु, सुकेतु, सुजन्तु, सुतन्तु, सुपांशु, सुलघु, सुपटु—प्रभृति शब्द होते हैं।

नोट—भाषितपुंस्क शब्द प्रायः विशेषणवाची ही होते हैं। विशुद्ध भाषितपुंस्कों की गणना तो नगण्य सी है। [विशुद्ध यथा— कमण्डलु, कम्बु, शीधु, जीवातु आदि] विशेष्य के नपुंसक होने पर ही ये नपुंसक होते हैं।

अब ऋकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धातृ। धातृणी। धातॄणि। हे धातः !, हे धातृ। धात्रा। धातृणा। धातॄणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

व्याख्या—दधातीति धातृ (कुलम्)। जो धारण करे उसे धातृ कहते हैं। यह शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुंसक होने पर इसके नपुंसक में रूप बनते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	धातृ	धातृणी	धातॄणि
द्वितीया	,,		
तृतीया	धात्रा, धातृणा×	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे, धातृणे×	,,	
पञ्चमी	धातुः, धातृणः×	,,	
षष्ठी	×	धात्रोः, धातृणोः×	धातॄणाम्×
सप्तमी	धातरि, धातृणि×	,,	धातृषु
सम्बोधन	हे धातः !, हे धातृ !	हे धातृणी !	हे धातॄणि !

×=इन तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४१) सूत्र से वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में अजन्तपुंल्लिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। पुंवद्भाव के अभाव में 'वारि' शब्दवत् कार्य होते हैं। किन्तु टा में ना आदेश न हो कर नुम् ही होता है। ध्यान रहे कि 'धातृ' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं है अतः ङे, ङसि, ङस्, ङि विभक्तियों में 'घेर्ङिति' (१७२) और 'अच्च घेः' (१७४) के साथ नुम् को झगड़ना नहीं पड़ता।

आम् में यद्यपि दोनों पक्षों में एक जैसे रूप बनते हैं तथापि पुंवद्भाव के अभाव में प्रक्रिया में कुछ अन्तर होता है। अर्थात् नुट् का आगम पूर्वविप्रतिषेध से नुम् को बाध लेता है।

हे धातृ, हे धातः' में 'न लुमताऽङ्गस्य' की अनित्यता के कारण दो रूप बनते हैं।

अनित्यतापक्ष में सर्वनामस्थानता न होने से ऋतो ङि— से गुण न हो कर 'ह्रस्वस्य गुण' से गुण होगा।

इसी प्रकार ज्ञातृ आदि शब्दों के नपुंसकलिङ्ग में रूप होते हैं—

१ ज्ञातृ = जानने वाला कुल आदि	६ छेत्तृ = काटने वाला कुल आदि
२ कर्तृ = करने वाला ,,	७ दातृ = देने वाला
३ कथयितृ = कहने वाला	८ वक्तृ = बोलने वाला , ,
४ गणयितृ = गिनने वाला ,	९ श्रातृ = सुनने वाला ,
५ जेतृ = जीतने वाला ,, ,,	१० हर्तृ = हरने वाला , ,,

ध्यातृ, गन्तृ, रचयितृ पाठतृ प्रभृति शब्दों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

नोट—ऋदन्त विशुद्ध नपुंसक शब्दों का संस्कृत साहित्य में प्रायः अभाव ही है। सब के सब ऋदन्त शब्द नपुंसक में प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं।

अब आकारान्त 'प्रद्या' शब्द का वर्णन करते हैं—

'प्रकृष्टा द्यौर्यस्य यस्मिन् वा तत्=प्रद्यु (दिनम्)। प्रकृष्ट अर्थात् सुन्दर व निर्मल आकाश वाले दिन को 'प्रद्यो' कहते हैं। प्रद्या शब्द में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व करना है, परन्तु आकार के स्थान पर स्थानकृत आन्तर्य से अकार और उकार दोनों प्राप्त होते हैं। 'इनमें से कौन सा ह्रस्व किया जाय? इसका निर्णय अग्रिमसूत्र करता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२५० एच इग्घ्रस्वादेशे ।१।१।४७॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु (मध्ये*) एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि।

अर्थ—जब ह्रस्व आदेश का विधान हो तब एचों के स्थान पर इक् ही ह्रस्व हो।

व्याख्या—एचः ६।१। इक् ।१।१। ह्रस्वादेशे ।७।१। समासः—ह्रस्वस्य आदेशः = ह्रस्वादेशः, तस्मिन्=ह्रस्वादेशे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(एचः) एच् के स्थान पर (ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश विधान करने पर (इक्) इक् ह्रस्व होता है। यद्यपि एच् और इक् दोनों चार २ हैं तथापि यहां यथासङ्ख्यविधि नहीं होती। यथासङ्ख्यविधि अपूर्वविधि में ही प्रवृत्त हुआ करती है नियमविधि में नहीं। अतः 'स्थानेऽन्तरतमः'

* मध्य इत्यपपाठः, तद्योगे षष्ठ्या एवौचित्यात्—इति शेखरे नागेशः।

(१७) से यहां एकार और ऐकार के स्थान पर इकार तथा ओकार और औकार के स्थान पर उकार हो जायगा।

ध्यान रहे कि एचों के अपने ह्रस्व नहीं होते, 'एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्' यह पीछे कहा जा चुका है। एच् संयुक्तस्वर हैं अर्थात् दो दो स्वर मिलकर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार औकार की उत्पत्ति हुई है। इस अवस्था में एचों को अकार और इकार तथा उकार प्राप्त होते हैं। अब इस सूत्र के नियम से इकार और उकार ही ह्रस्व होंगे अवर्ण नहीं।

प्रद्यो यहां ओकार को उकार ह्रस्व होकर 'प्रद्यु' हुआ। अब इस की रूपमाला मधुशब्दवत् होती है—

प्र०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि	पं०	प्रद्युनः	प्रद्युभ्याम् प्रद्युभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	प्रद्युनोः प्रद्यूनाम्
तृ०	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभिः	स०	प्रद्युनि	,, प्रद्युषु
च०	प्रद्युने	,,	प्रद्युभ्यः	सं०	हे प्रद्यो ! प्रद्यु !	हे प्रद्युनी ! हे प्रद्यूनि !

यहां पर धातुवृत्तिकार श्रीमाधव जी लिखते हैं कि तृतीयादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होता। क्योंकि नपुंसक में—प्रद्यु और पुंलिङ्ग में—प्रद्यो शब्द होने से दोनों इगन्त नहीं रहते। इगन्त शब्दों की ही 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४९) सूत्र में भाषितपुंस्कता कही गई है। परन्तु अन्य कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं कि पुंलिङ्गगत प्रद्यो शब्द ही नपुंसक में 'प्रद्यु' शब्द बना है अतः एकदेशविकृतन्याय से दोनों एक ही हैं। नपुंसकगत इगन्त प्रद्यु शब्द पुंलिङ्ग में भी वर्त्तमान होने से पुंवद्भाव हो जायगा। ऐसा मानने वालों के मत में—प्रद्यवा प्रद्युना (टा) प्रद्यवे, प्रद्युने (ङे) प्रद्योः, प्रद्युनः (ङसि व ङस्) प्रद्यवोः प्रद्युनोः (ओस्) प्रद्यवाम्, प्रद्यूनाम् (आम्), प्रद्यवि प्रद्युनि (ङि)—इस प्रकार दो २ रूप बनेंगे।

अब ऐकारान्त 'प्रै' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] प्रि। प्रिणी। प्रीणि। एकदेशविकृतमनन्यवत्—प्राभ्याम्।

व्याख्या—प्रकृष्टो रा = धनं यस्य तत् = प्रि (कुलम्)। जिसका विपुल धन हो उसे 'प्रै' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५०) की सहायता से 'ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) द्वारा ह्रस्व—इकार हो कर 'प्रि' शब्द बन जाता है। अब इसका उच्चारण 'वारि' शब्दवत् होता है।

प्र०	प्ररि	प्ररिणी	प्ररीणि	पं०	प्ररिणः	प्रराभ्याम्	प्रराभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	प्ररिणोः	प्ररीणाम्
तृ०	प्ररिणा	प्रराभ्याम्	प्रराभिः	स०	प्ररिणि	,,	प्ररासु
च०	प्ररिणे	,,	प्रराभ्यः	सं०	हे प्ररि !, प्रे !	हे प्ररिणी !	हे प्ररीणि !

१ नोट—'भ्याम् भिस् भ्यस् और सुप् में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (पृष्ठ २३५) की सहायता से पुनः वही 'रै' शब्द माना जाने से 'रायो हलि' (२१५) द्वारा इकार को आकार होकर 'प्रराभ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

२ नोट—यहां भी पूर्वोक्त 'प्रध्रो' शब्द की तरह श्रीमाधव के मत में पुंवद्भाव नहीं होता। अन्यों के मत में हो जाता है। पुंवद्भाव में—प्रराया, प्ररिणा इत्यादिप्रकारेण दो २ रूप बनते हैं।

३ नोट—'प्ररि + आम्' यहां 'नुमचिरः' (वा० १३) से नुम् को बाध कर नुट् हो जाता है। पुनः 'नामि' (१४६) से दीर्घ तथा 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से णत्व हो कर 'प्ररीणाम्' बनता है। ध्यान रहे कि 'प्ररि + नाम्' यहां नुट् हो चुकने पर 'रायो हलि' (२१५) से आत्व नहीं होगा क्योंकि तब सन्निपात परिभाषा (देखो पृष्ठ २३६) विरोध करेगी। 'नामि' यह दीर्घ तो आरम्भसामर्थ्य से ही सन्निपात परिभाषा की सर्वत्र अवहेलना किया करता है।

अब औकारान्त 'सुनौ' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

व्याख्या—सु = शोभना नौर्यस्य तत् = सुनु (कुलम्)। जिस की सुन्दर नौका हो उसे 'सुनौ' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५) के नियमानुसार 'ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) से औकार का उकार ह्रस्व हो कर 'सुनु' शब्द बन जाता है। इसका उच्चारण 'मधु' शब्दवत् होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि	पं०	सुनुनः	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुनुनोः	सुनूनाम्
तृ०	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभिः	स०	सुनुनि	,,	सुनुषु
च०	सुनुने	,,	सुनुभ्यः	सं०	हे सुनो ! सुनु !	हे सुनुनी !	हे सुनूनि !

यहां भी पूर्ववत् श्रीमाधव के मतानुरोध से पुंवद्भाव नहीं किया गया। वस्तुतः यहां भी पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में ह्रस्व का पुनः औकार बन जाता है। तब

आदि आदेश करने से— सुनावा, सुनावे सुनाव ? सुनावो २ सुनावाम् सुनसवि—* भी पक्ष में बन जाते हैं।

[लघु०] इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः [शब्दाः]

अर्थ—यहां अजन्तनपुंसकलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (३६)

(१) न लुमताङ्गस्य सूत्र की अनित्यता कैसे और क्यों सिद्ध की जाती है? सप्रमाण सोदाहरण व्याख्यान करें।

(२) 'वारीणाम्' में नुट् होता है या नुम्? दोनों में क्या अन्तर है? सहेतुक प्रतिपादन करें।

(३) 'प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं? पीलु शब्द पर उसे घटाएं।

(४) 'प्रद्यो' शब्द नपुंसक में भाषितपुंस्क मानना चाहिये या नहीं? सहेतुक न्याय पक्षों का प्रतिपादन कर अपनी सम्मति बताओ।

(५) 'एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस की आवश्यकता पर एक विस्तृत नोट लिखो।

(६) निम्नलिखित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—

१ तृतीयादिषु । २ अल्लोपोऽनः । ३ अस्थिदधि । ४ विभाषा ङिश्योः । ५ स्वमोर्नपुंसकात् ।

(७) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१ अच्छा । २ प्रराभ्याम् । ३ वारिणे । ४ हे धातः ! । ५ सुत्वा । ६ त्रीणि । ७ दधनि । ८ हूँ ।

(८) सक्थि, सुनौ, पीलु—शब्दों का उच्चारण लिखें।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणं
पूर्तिमगात्।



❋ अथ हलन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरणम् ❋

अब क्रमप्राप्त हलन्तपुंल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं। 'ह य व र ट्' (प्रत्याहार सूत्र ५) के क्रमानुसार सर्वप्रथम हकारान्त शब्दों का नम्बर आता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५१ हो ढः । ८ । २ । ३१ ॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । लिट्, लिड् । लिहौ । लिहः । लिड्भ्याम् । लिट्त्सु, लिट्सु ।

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में हकार के स्थान पर ढकार हो जाता है।

व्याख्या—झलि ।७।१। [झलो झलि से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। [स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] हः ।६।१। ढः ।१।१। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (हः) ह् के स्थान पर (ढः) ढ् हो जाता है। सूत्र में ढकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है।

लेढीति=लिट्। चाटने वाले को 'लिह्' कहते हैं। 'लिह आस्वादने' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहारी लोप* करने से 'लिह्' शब्द सिद्ध होता है। लिह् के कृदन्त होने से 'कृत्तद्धित—' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

लिह्+स् (सुँ)। इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७६) से अपृक्त सकार का लोप हो जाता है। तब 'प्रत्ययलोपे—' (१९०) सूत्र की सहायता से 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र द्वारा 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा होने से पद के अन्त में हकार के स्थान पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र से ढकार हो जाता है। पुनः 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक टकार करने से—'लिट्, लिड्' ये दो रूप बनते हैं।

लिह् + औ=लिहौ । लिह् + अस् (जस्)=लिहः ।

लिह् + अम्=लिहम् । लिह् + औ (औट्)=लिहौ ।

लिह्+अस् (शस्)=लिहः । लिह् + आ (टा)=लिहा ।

---

* जो लोप सम्पूर्ण प्रत्यय आदि का अदर्शन कर देता है उसे सर्वापहारी लोप कहते हैं। क्विन्, क्विप्, विट्, विच् आदि प्रत्ययों का सर्वापहारी लोप होता है।

लिह् + भ्याम् यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से लिह् की पदसञ्ज्ञा है, हकार पदान्त में स्थित है। अतः 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार का डकार हो कर 'लिड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। भिस् और भ्यस् में भी इसी प्रकार 'लिड्भिः' और 'लिड्भ्यः' रूप बनते हैं।

लिह् + ए (ङे) = लिहे। लिह्+अस् (ङसिँ व ङस्) = लिहः।

लिह् + ओस् = लिहोः। लिह् + आम्=लिहाम्। लिह् + इ (ङि)=लिहि।

सप्तमी के बहुवचन में लिह्+सु (सुप्) इस स्थिति में 'हो ढः' (२५१) सूत्र से पदान्त हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र से उस जश्त्व—डकार हो कर लिड्+सु बना। अब 'खरि च' (८.४.५५) सूत्र के असिद्ध होने से 'डः सि धुट्' (८.३.२९) सूत्र द्वारा वैकल्पिक धुँट करने से अनुबन्धों के चले जाने पर— १ लिड् ध्सु, २ लिड् सु हुआ। अब यहां 'ष्टुना ष्टुः' (६४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार का ढकार और दूसरे रूप में सकार का षकार प्राप्त होता है। इस का 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) से निषेध हो जाता है। पुनः 'खरि च' (७४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को तकार और उस तकार का खर् मान कर डकार का टकार करने से— लिट्त्सु। दूसरे रूप में डकार को टकार करने पर— लिट्सु'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यातव्य— लिट्त्सु, लिट्सु इन दोनों रूपों में 'खरि च' (७४) द्वारा किया चर्त्व असिद्ध है, अतः 'चयो द्वितीयाः—' (वा० १४) से प्रथम रूप में तकार को थकार तथा दूसरे रूप में टकार को ठकार नहीं होता।

झल् परे होने पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र के उदाहरण 'वाढा' आदि हैं जो आगे मूल में ही स्पष्ट हो जाएंगे।

लिह् (चाटने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	लिट्-ड्	लिहौ	लिहः	पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
द्वि०	लिहम्	„	„	ष०	„	लिहोः	लिहाम्
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः	स०	लिहि	„	लिट्त्सु, ट्सु
च०	लिहे	„	लिड्भ्यः	सं०	हे लिट्-ड्!	हे लिहौ!	हे लिहः!

इसी प्रकार—मधुलिह् (भ्रमर), पुष्पलिह् (भ्रमर), कुसुमलिह् (भ्रमर) गुडलिह् (गुड़ चाटने वाला) शिरोरुह् (केश), भूरुह् (वृक्ष) सरोरुह् (कमल) सरसीरुह् (कमल), पर्णरुह् (वसन्त ऋतु)—प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

नोट—हलन्त शब्दों की अजादि विभक्तियों में प्रायः कोई कार्य विशेष नहीं करना पड़ता। व्यञ्जनों को स्वरों के साथ मिलाना मात्र ही कार्य होता है। हलादि विभक्तियों में

कुछ कार्य होता है। अर्थात् सु, भ्याम्, भिस् भ्यस् और सुप् इन पाञ्च स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं। हम आगे प्रायः इन में ही सिद्धि करेंगे।

दुह्=दोहने वाला (दोग्धीति धुक्)।

'दुह प्रपूरणे' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहारी लोप हो कर 'दुह्' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है—

दुह्+स् (सुँ)—यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकार का लोप हो 'दुह्' इस अवस्था में 'हो ढः' (२५१) सूत्र प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५२ दादेर्धातोर्घः ।८।२।३२॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात्।

अर्थः—उपदेश में जो दकारादि धातु, उस के हकार को घकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—दादेः ।६।१। धातोः ।६।१। हः ।६।१। [हो ढः से] घः ।१।१। झलि ।७।१। [झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः—' से] यहां भाष्यकार के व्याख्यान से उपदेश में ही 'दादि' ग्रहण किया जाता है। समासः—द् =दकार आदौ आदिर्वा यस्य स दादिस्तस्य दादेः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (दादेः) उपदेश में दकार आदि वाली (धातोः) धातु के (हः) हकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश हो जाता है। घकार में अकार उच्चारणार्थ है। यह सूत्र यद्यपि 'हो ढः' (८.२.३१) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है—'अपवादो वचनप्रामाण्यात्'।

'उपदेश' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'अधोक्' यहां दुह् के अजादि होने पर भी घत्व हो जाए और 'दामलिट्' यहां दादि धातु होने पर भी घत्व न हो*।

---

* अधोक्, यह 'दुह्' धातु के लङ् लकार के प्रथम व मध्यमपुरुष का एकवचन है। 'दादेर्धातोर्घः' में 'उपदेश' ग्रहण न करने से 'अदोह्' इस स्थिति में हकार को घकार नहीं हो सकता क्योंकि 'दुह्' धातु को अट् का आगम होने से 'यदागमा—' (देखो पृष्ठ २१५) परिभाषा के अनुसार वह अजादि हो गई है, दादि नहीं रही पुनः यदि यहां 'उपदेश' ग्रहण करते हैं तो हकार को घकार हो जाता है क्योंकि उपदेश=आद्योच्चारण में तो यह दादि ही थी, अजादि तो बाद=दूसरे उच्चारण में बनी है। घकार करने पर 'एकाचः—' सूत्र से दकार को धकार हो जश्त्व चर्त्व करने से—'अधोक्–ग्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते

दुह यह उपदेश में दादि धातु‡ है। अत इस सूत्र से पदान्त में हकार को घकार हो कर— दुघ हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५३ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः। ८।२।३७॥

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

अर्थः—धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उस के बश् को भष् हो, सकार अथवा ध्व परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—धातोः।६।१। ['दादेर्धातोर्घः' से] एकाचः।६।१। बशः।६।१। भष् ।१।१। झषन्तस्य।६।१। स्ध्वोः।७।२। पदस्य।६।१। [अधिकृत है] अन्ते।७।१। ['स्कोः—' से] अन्वयः—धातोः (अवयवस्य) एकाचो झषन्तस्य बशो भष् (स्यात्) स्ध्वोः पदस्य अन्ते (च)। अर्थः—(धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (झषन्तस्य) झषन्त भाग के (बशः) बश् अर्थात् ब् ग् ड् द् वर्णों के स्थान पर (भष्) भष् अर्थात् भ् घ् ढ् ध् वर्ण हो जाते हैं (स्ध्वोः) सकार अथवा ध्व शब्द परे हो या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

इस सूत्र के अर्थ में हम ने अनुवृत्तिलब्ध 'धातोः' पद का 'एकाचः झषन्तस्य' के साथ सामानाधिकरण्य नहीं किया। अर्थात् एक अच् वाली झषन्त धातु के बश् को भष् हो इस प्रकार का अर्थ नहीं किया। ऐसा अर्थ करने से यह दोष प्राप्त होता था कि जहां एक अच् वाली धातु न होती वहां भष् प्राप्त न होता*। यथा—'गर्दभ' शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' (चुरा० ग० सू०) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा हो कर कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से 'गर्दभ' शब्द निष्पन्न होता है। यहां एक

—है। इसी प्रकार—'दामलिह्' शब्द में उपदेश में धातु के दादि न होकर लकारादि होने से घत्व नहीं होता। 'हो ढः' (२५१) से ढत्व हो जश्त्व चर्त्व करने पर—'दामलिट्-ड्' सिद्ध होते हैं। दाम लेढीति दामलिट्। दामलिहमात्मन इच्छतीति-दामलिट्। इस की विशेष प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

‡ क्विबन्ता विडन्ता विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति (क्विबन्त, विडन्त और विजन्त शब्दों की धातुसञ्ज्ञा बनी रहती है) इस परिभाषानुसार यहां 'दुह' की धातुसञ्ज्ञा पूर्ववत् अक्षुण्ण है।

* यदि एकाच् अनेकाच् सब धातुओं में भष्भाव करना है तो 'एकाचः' की क्या आवश्यकता है? यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'एकाचः' ग्रहण न करने से ढत्व कर चुकने पर 'दामलिट्' में भी अनिष्ट भष्भाव प्राप्त होगा।

अच् वाली धातु न होने से भष्भाव प्राप्त नहीं होता। परन्तु हमें भष्भाव कर 'गधप्' रूप बनाना अभीष्ट है। अत यहां 'धातो' पद का 'एकाचो झषन्तस्य' इस के साथ अवयव—अवयवी सम्बन्ध करना ही युक्त है। अर्थात् धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त उस के बश् का भष् हो' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ऐसा करने से 'गदभ्' इस धातु का अवयव एकाच् झषन्त 'दभ्' हो जाता है। इस से उस के दकार का धकार सिद्ध हो जाता है।

दुघ यह व्यपदेशिवद्भाव‡ से धातु का अवयव है और एकाच् झषन्त भी है अत इस के बश्—दकार का स्थानकृत आन्तर्य से धकार हो कर 'धुघ्' हुआ। अब जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने से— धुक्, धुग् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भ्याम् में—'दुह् + भ्याम्' इस स्थिति मे पदान्त में हकार को घकार 'एकाच —' (२५३) से दकार को धकार तथा जश्त्व—गकार हो कर 'धुग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'धुग्भि' और भ्यस् में 'धुग्भ्य' सिद्ध होते हैं।

दुह्+सु (सुप्)। यहां भी पदान्त में घकारादेश, भष्त्व से दकार का धकार तथा 'झला जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—गकार और 'खरि च' (७४) से चर्त्व—ककार कर षत्व करने से 'धुक्षु' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	धुक्, ग्	दुहौ	दुह	प०	दुह	धुग्भ्याम्	धुग्भ्य
द्वि०	दुहम्			ष	,,	दुहो	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भि	स०	दुहि	,,	धुक्षु
च	दुहे	,,	धुग्भ्य	सं०	हे धुक् ग !	हे दुहौ !	हे दुह !

इसी प्रकार—गोदुह् (गौ दोहने वाला = ग्वाला) अजादुह् (बकरी दोहने वाला) दह (जलाने वाली = अग्नि), आश्रयदह् (अग्नि) काष्ठदह् (अग्नि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५४ वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्। ८।२।३३॥

एषां हस्य वा घ स्याज्झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुह। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवम्—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादय।

‡ इसे आद्यन्तवदेकस्मिन् (१७८) सूत्र पर देखें।

अर्थ—द्रुह मुह् ष्णुह्, ष्णिह्—इन धातुओं के हकार को झल् परे होने पर या पदान्त में विकल्प कर के घकार हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। द्रुह् मुह ष्णुह ष्णिहाम् ।६।३। ह ।६।१। [हो ढ ' से] घ ।१।१। [दादेर्धातोर्घः से] झलि ।७।१। [झलो झलि से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। [स्को—' से] समास—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिट च= द्रुह मुह ष्णुह ष्णिह तेषाम्=द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्। इतरेतरद्वन्द्व। मुहादिषु त्रिषु अकार उच्चारणार्थः। अर्थ—(द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्) द्रुह मुह्, ष्णुह् और ष्णिह धातुओं के (ह) हकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (घ) घकार आदेश होता है (झलि) झल परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

द्रुह' में दादेर्धातोर्घः' (२५२) द्वारा घत्व के नित्य प्राप्त होने पर तथा अन्यों के दादि न होने से घत्व के अप्राप्त होने पर इस सूत्र से वैकल्पिक घत्व किया जाता है अतः यह प्राप्ताप्राप्तविभाषा है।

द्रुह्=द्रोह करने वाला [द्रुह्यतीति ध्रुक्]।

द्रुह जिघांसायाम्' (दिवा प० रधादित्वाद्वेट) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से द्रुह' शब्द निष्पन्न होता है।

द्रुह+स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्य—' (१७९) सूत्र से सकारलोप हो कर पदान्त में हकार को वा द्रुह— (२५४) सूत्र द्वारा वैकल्पिक घकार तथा घकाराभावपक्ष में 'हो ढ' (२५१) सूत्र से ढकार कर दोनों पक्षों में 'एकाच— (२५३) सूत्र से दकार को धकार हो गया तो—ध्रुघ् ध्रुढ। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व तथा वाऽवसाने' (४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'१ ध्रुक २ ध्रुग्, ३ ध्रुट्, ४ ध्रुड ये चार रूप सिद्ध होते हैं।

द्रुह्+भ्याम्' यहां पदान्त हकार को घकार तथा पक्ष में ढकार हो कर दोनों पक्षों में एकाच—' (२५३) से दकार को धकार हो जाता है। पुनः 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से दोनों पक्षों में जश्त्व हो कर—१ ध्रुग्भ्याम्, २ ध्रुड्भ्याम्' ये दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार भिस और भ्यस में भी दो २ रूप होते हैं।

द्रुह्+सु (सुप)। यहां वा द्रुह—' (२५४) से पदान्त हकार को वैकल्पिक घकार हो कर 'एकाचो बश—' (२५३) सूत्र से दकार को धकार जश्त्व से घकार को गकार चर्त्व तथा चर्त्व से गकार को ककार करने से—ध्रुकषु=ध्रुक्षु रूप सिद्ध होता है। घत्वाभाव में—पदान्त हकार को 'हो ढ' (२५१) से ढकार, भष्त्व से दकार को धकार

जश्त्व से ढकार को डकार, 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम, अनुबन्धलोप तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर— १ ध्रुट्त्सु २ ध्रुट्सु' ये दो रूप बनते हैं। तो इस प्रकार कुल मिला कर— १ ध्रुक्षु, २ ध्रुट्त्सु, ३ ध्रुट्सु'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	ध्रुक्–ग्, ध्रुट्–ड्	द्रुहौ	द्रुहः
द्वितीया	द्रुहम्	,,	,,
तृतीया	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम् ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः ध्रुड्भिः
चतुर्थी	द्रुहे	,, ,,	ध्रुग्भ्यः ध्रुड्भ्यः
पञ्चमी	द्रुहः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	द्रुहोः	द्रुहाम्
सप्तमी	द्रुहि	,,	ध्रुक्षु ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु
सम्बोधन	हे ध्रुक् ग्, ध्रुट् ड्!	हे द्रुहौ!	हे द्रुहः!

इसी प्रकार—मित्रद्रुह् (मित्राय द्रुह्यति=मित्रद्रोही) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

'मुहँ वैचित्ये' (दिवा० प० रधादिर्वाऽनिट्) धातु से क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से 'मुह्' (मुह्यतीति मुक्=मोह करने वाला) शब्द निष्पन्न होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्दवत् होती है केवल भष्भाव नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्रथमा	मुक् ग् मुट् ड्	मुहौ	मुहः
द्वितीया	मुहम्		
तृतीया	मुहा	मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम्	मुग्भिः, मुड्भिः
चतुर्थी	मुहे	,, ,,	मुग्भ्यः मुड्भ्यः
पञ्चमी	मुहः	,,	,,
षष्ठी	,,	मुहोः	मुहाम्
सप्तमी	मुहि	,,	मुक्षु, मुट्त्सु मुट्सु
सम्बोधन	हे मुक् ग्, मुट् ड्!	हे मुहौ!	हे मुहः!

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५५ धात्वादेः षः सः ।६।१।६२॥

[धातोरादेः षस्य सः स्यात्।] स्नुक्, स्नुग्, स्नुट् स्नुड्।
एवं स्निक् इत्यादि।

अर्थः—धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादेः ।६।१। षः ।६।१। सः ।१।१। समास—धातोः आदिः = धात्वादिः तस्य=धात्वादेः, षष्ठीतत्पुरुष । स इत्यत्र अकार उच्चारणार्थ । अर्थ—(धात्वादेः) धातु के आदि (षः) ष् के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है।

धातु कहने से षोडश षट् आदि में षकार को सकार नहीं होता तथा आदि कथन से कर्षति आदियों में धातु के अन्त्य षकार को सकार नहीं होता।

ष्णुह उद्गिरणे (दिवा० प० वेट्) 'ष्णिह प्रीतौ' (दिवा० प० वेट्) इन धातुओं के आदि षकार को प्रकृतसूत्र से सकार हो कर णकार को भी नकार हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि—"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" अर्थात् (निमित्त+अपाये) निमित्त=कारण के नाश होने पर (नैमित्तिकस्य) नैमित्तिक—उस निमित्त से उत्पन्न हुए कार्य का भी (अपायः) नाश हो जाता है*। यहां षकार से परे होने के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) से णकार हुआ था। जब निमित्त षकार ही न रहा तब नैमित्तिक कार्य णकार भी न रहा।

स्नुह्, स्निह्—दोनों से कर्त्ता में क्विप् हो कर उस का सर्वापहारीलोप करने से स्नुह्, स्निह् शब्द सिद्ध होते हैं। इन दोनों की सम्पूर्ण प्रक्रिया द्रुह् शब्द के समान होती है। केवल 'एकाचो बशो—' (२५३) से भष्भाव नहीं होता। स्नुह् [स्नुह्यतीति स्नुक्=वमन करने वाला] शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	स्नुक्-ग्, स्नुट्-ड्	स्नुहौ	स्नुहः
द्वितीया	स्नुहम्	"	"
तृतीया	स्नुहा	स्नुग्भ्याम्, स्नुड्भ्याम्	स्नुग्भिः, स्नुड्भिः
चतुर्थी	स्नुहे	"	स्नुग्भ्यः, स्नुड्भ्यः
पञ्चमी	स्नुहः	"	"
षष्ठी	"	स्नुहोः	स्नुहाम्
सप्तमी	स्नुहि	"	स्नुक्षु, स्नुट्त्सु, स्नुट्सु
सम्बोधन	हे स्नुक्-ग्, ट्-ड्!	हे स्नुहौ!	हे स्नुहः!

इसी प्रकार स्निह् (स्निह्यतीति स्निक्=स्नेह करने वाला) शब्द के रूप चलते हैं।

विश्ववाह् (जगत् को चलाने वाले=भगवान्)

विश्वं वहतीति विश्ववाट्। विश्वकर्मोपपद 'वह प्रापणे' (भ्वा० उ० अनिट्) धातु से कर्त्ता में 'वहश्च' (३.२.६४) सूत्र द्वारा ण्वि प्रत्यय, णित्व के कारण उपधावृद्धि तथा ण्वि के चले जाने पर उपपदसमास करने से 'विश्ववाह्' शब्द निष्पन्न होता है।

---

* यहां नाश से तात्पर्य पुनः पूर्वावस्था में आ जाना है, लोप नहीं।

'विश्ववाह् शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'लिह्' शब्दवत् रूप बनते हैं। भसञ्ज्ञकों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिम सूत्रों में बताया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—२५६ इग्यणः सम्प्रसारणम् ।१।१।४४।

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक्, स सम्प्रसारणसञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—यण् के स्थान पर विधान किया इक् सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—इक् ।१।१। यणः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। अर्थः—(यणः) यण् के स्थान पर विधान किया (इक्) इक् (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होता है। यहां यथासङ्ख्य अथवा स्थानकृत आन्तर्य से यकारस्थानिक इवर्ण वकारस्थानिक उवर्ण रेफस्थानिक ऋवर्ण तथा लकारस्थानिक ऌवर्ण सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होगा।

इस शास्त्र में सम्प्रसारण का दो प्रकार के स्थानों पर उपयोग किया जाता है। एक विधिसूत्रों में और दूसरा अनुवादसूत्रों में। जिन सूत्रों में सम्प्रसारण का साक्षात् विधान किया जाता है वे विधिसूत्र कहाते हैं। यथा—'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो। वचिस्वपि— (५४७) वच् स्वप् और यजादि धातुओं को कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो। इत्यादि। जहां सम्प्रसारण का नाम ले कर कोई अन्य कार्य किया जाता है वहां सम्प्रसारण का अनुवाद होता है। यथा—सम्प्रसारणाच्च (२५८) सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। हलः' (८१६) हल् से परे सम्प्रसारण को दीर्घ हो। इत्यादि।

यणस्थानिक इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा होने से अनुवादस्थलों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि सर्वत्र सम्प्रसारण विद्यमान रहने से अन्य कार्य अबाध हो जाते हैं। परन्तु विधिस्थलों में महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है, क्योंकि सदैव यह नियम होता है कि प्रथम सञ्ज्ञी वर्त्तमान रहता है और बाद में उस की सञ्ज्ञा की जाती है। इस नियमानुसार पहले यणस्थानिक इक् वर्त्तमान होना चाहिये और पीछे सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार 'वाह ऊठ्' (२५७) द्वारा वाह में तब सम्प्रसारण होगा जब यणस्थानिक इक् होगा। परन्तु यणस्थानिक इक् तब हो सकता है जब कि 'वाह ऊठ्' (२५७) सूत्र प्रवृत्त हो कर सम्प्रसारण कर दे। इस प्रकार यहां अन्योऽन्याश्रय दोष आ कर महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जब पहला हो तब उस का आश्रित दूसरा हो और जब दूसरा हो तब उस का आश्रित पहला हो। इस दशा में कोई भी नहीं हो सकता। भाष्यकार ने भी कहा है—"अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते"।

इस झगडे को उपस्थित देख भाष्यकार सूत्रशाटकन्याय के आश्रय से इस का समाधान करते हैं। उन का कथन है कि जैसे कोई पुरुष सूत ले कर जुलाहे के पास जा कर कहता है कि 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इस सूत का वस्त्र बुन। अब यहां 'वस्त्र बुन' पर यह सन्देह होता है कि यदि यह वस्त्र है तो बुनना कैसे ? क्योंकि वस्त्र बुना नहीं जा सकता। और यदि यह बुनने योग्य है तो वस्त्र कैसा ? क्योंकि बुनना वस्त्र में सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार विरोध आने पर लोक में भावी सञ्ज्ञा का आश्रय किया जाता है अर्थात् उस पुरुष का यह आशय समझा जाता है कि इस का ऐसा बुन जिस से यह वस्त्र हो जाय। इसी प्रकार यहां विधिप्रदेशों में भी भावीसञ्ज्ञा का आश्रयण करना चाहिये। यथा— 'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर ऐसा करो कि जिस से किया हुआ कार्य सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो जावे। तो इस प्रकार विधिप्रदेशों में दोष का परिहार हो जाता है।

अब इस प्रकरण में सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५७ वाह ऊठ् ।६।४।१३२॥

भस्य वाहः सम्प्रसारणम् ऊठ् ।

अर्थः—भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] वाहः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसोः सम्प्रसारणम्' से] ऊठ् ।१।१। अर्थः—(भस्य) भसञ्ज्ञक (वाहः) वाह् के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (ऊठ्) ऊठ् हो। पूर्वसूत्रानुसार वाह् के वकार को ही ऊठ् होगा।

विश्ववाह् + अस् (शस्)। यहां 'यचि भम्' (१६५) से वाह् की भसञ्ज्ञा है अतः प्रकृतसूत्र से इस के वकार को ऊठ् हो जाता है। ऊठ् के ठकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर विश्व ऊ आह् + अस् हुआ। अब आग्रम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५८ सम्प्रसारणाच्च ।६।१।१०५॥

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः—विश्वौहः । इत्यादि ।

अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—सम्प्रसारणात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। ['इको यणचि'

स] पूर्वपरयो ।६।२।—एक ।१।१। ['एक पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्व ।१।१। [अमि पूर्व से] अर्थः—(सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्वपरयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (पूर्व) पूर्वरूप आदेश हो।

विश्व ऊ आह+अस् यहा ऊ' यह सम्प्रसारण है, इस से परे 'आ' यह अच् है अत पूर्व (ऊ) और पर (आ) के स्थान पर एक पूर्वरूप ऊ' हो कर विश्व ऊ ह+अस' हुआ। अब 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र से वकारोत्तर अकार और ऊठ के ऊकार के स्थान पर 'औ' वृद्धि हो कर—सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से विश्वौहः प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में प्रक्रिया होती चली जाती है। विश्ववाह' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वितीया	विश्ववाहम्	,,	विश्वौहः
तृतीया	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
चतुर्थी	विश्वौहे	,,	विश्ववाड्भ्यः
पञ्चमी	विश्वौहः	,,	
षष्ठी	,,	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
सप्तमी	विश्वौहि	,,	विश्ववाट्सु-ट्त्सु
सम्बोधन	हे विश्ववाट्-ड्!	हे विश्ववाहौ!	हे विश्ववाहः!

इसी प्रकार—१ रथवाह् (रथ हाकने वाला), २ शकटवाह् (छकड़ा हाकने वाला) ३ भारवाह् (भार उठाने वाला), ४ उष्ट्रवाह् (ऊँट हाकने वाला), ५ प्रष्ठवाह् (सिखाने के लिये जोते हुए बैल आदि) प्रभृति शब्दों के रूप होते है*।

अनडुह्=बैल [अनः=शकटं वहतीत्यनड्वान्]।

अनडुह शब्द पाणिनीयगणपाठ में पाञ्च बार प्रयुक्त हुआ है [१ उरःप्रभृति २ ऋष्यादि, ३ कुलालादि, ४ गर्गादि ५ शरत्प्रभृति]। शाकटायन के उणादिसूत्रों में इस की सिद्धि नहीं की गई। महाराज भोजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण के "अनसि वहेः क्विप् डश्चानसः" (अ० २ पा० १ सू० ३४१) इस औणादिक सूत्र द्वारा अनस्कर्मोपपद वह् धातु से क्विप् प्रत्यय, अनस के सकार को डकारादेश क्विब्लोप वचिस्वपि— (५४७) द्वारा सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने पर अनडुह शब्द निष्पन्न होता है।

---

* कई लोग—वारिवाह भूवाह् प्रभृति अनकारान्तोपपद शब्दों की कल्पना करते हैं परन्तु महाभाष्य पढने से वह अप्रामाणिक प्रतीत होती है [देखो—६ ४ १३ पर भाष्य प्रदीप, तत्त्वबोधिनी]।

अनडुह + स (सुँ) । यहा अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५९ चतुरनडुहोरामुदात्त ।७।१।९८॥

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

अर्थ —सर्वनामस्थान परे होने पर चतुर और अनडुह शब्दों का अवयव आम् हो जाता है।

व्याख्या—चतुरनडुहो ।६।२। आम् ।१।१। उदात्त ।१। । सर्वनामस्थाने ।७।१। [इतोऽत्सर्वनामस्थाने से] अर्थ —(सर्वनामस्थाने सर्वनामस्थान पर होने पर (चतुरनडुहो चतुर और अनडुह शब्दों का अवयव (उदात्त) उदात्त (आम्) आम् हो जाता है। आम् मित है क्योंकि हलन्त्यम् (१) से इस के मकार की इत् सञ्ज्ञा होती है। अत यह मिदचोऽन्त्यात्पर (२४०) के अनुसार चतुर और अनडुह शब्दों के अन्त्य अच् से परे होगा।

ग्रन्थकार ने उदात्त शब्द स्वरप्रकरणोपयोगी जान कर वृत्ति में छोड दिया है। लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है।

अनडुह+स' यहा सुँ यह सर्वनामस्थान परे है अत अनडुह शब्द के अन्त्य अच=उकार से परे आम् का आगम हो कर— अनडु आम् ह्+स हुआ। अब अनुबन्ध मकार का लोप हो कर इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है। तब 'अनड्वाह+स इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६० सावनडुह ।७।१।८२॥

अस्य नुम् स्यात्सौ परे । अनड्वान् ।

अर्थ —सुँ परे होने पर अनडुह शब्द का अवयव नुम् हो जाता है।

व्याख्या—सौ ।७।१। अनडुह ।६।१। नुम् ।१।१। [आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थ —(सौ) सुँ परे होने पर (अनडुह) अनडुह शब्द का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है।

यहा यह सन्देह होता है कि 'चतुरनडुहो —' (२५९) सूत्र का सावनडुह (२६) सूत्र अपवाद है। क्योंकि दोनों का विषय एक है अर्थात् दोनों अनडुह शब्द को आगम करते हैं। इन में से प्रथम (चतुरनडुहो —) सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में विहित होने से उत्सर्ग और दूसरा (सावनडुह) केवल सर्वनामस्थानान्तर्गत 'सुँ' में विहित होने से उस का अपवाद होने योग्य है। अत सुँ में 'सावनडुह ' (२६०) सूत्र ही प्रवृत्त होना चाहिये,

चतुरनडुहो— (२५६) नहीं। क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवादविषय को छोड़ कर ही हुआ करती है—'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते'।

इस का उत्तर यह है कि आच्छीनद्योर्नुम् (३६५) सूत्र से यहाँ 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। जिस से—सुँ परे होने पर अनडुह् को नुम् का आगम होता है परन्तु वह अवर्ण से परे होता है'—ऐसा अर्थ हो जाता है। तो अब यदि आम् का आगम नहीं करते तो अनडुह् शब्द में अवर्ण नहीं आ सकता और यदि अवर्ण नहीं आता तो नुम् प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः नुम् को अपनी प्रवृत्ति के लिये विवश हो कर आम् को छूट देनी पड़ती है। अतः प्रथम आम् होकर पश्चात् नुम् होता है। इन में उत्सर्ग—अपवादभाव नहीं होता।

अनड्वाह्+स्' यहां आकार से परे नुम् हो कर अनुबन्धों (उकार मकार) के चले जाने पर—'अनड्वान् ह्+स' हुआ। अब हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) सूत्र से सकार का तथा संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र से हकार का लोप हो कर 'अनड्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप (८.२.२३) असिद्ध है अतः न लोपः— (८.२.७) सूत्र से नकार का लोप नहीं होगा।

हे अनडुह्+स (सुँ)। यहां सम्बुद्धि में आम् (२५६) प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६१ अम् सम्बुद्धौ ।७।१।९९॥

चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। हे अनड्वन्!। हे अनड्वाहौ। हे अनड्वाहः। अनडुहः। अनडुहा।

अर्थः—सम्बुद्धि परे हो तो चतुर और अनडुह् शब्दों का अवयव अम् हो जाता है।

व्याख्या—चतुरनडुहोः ।६।२। [चतुरनडुहोरामुदात्तः' से] अम् ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है।

यह सूत्र चतुरनडुहो—' (२५६) सूत्र का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने पर भी सावनडुहः' (२६०) द्वारा नुम् हो जाता है। क्योंकि वहां 'आत्' की अनुवृत्ति आने से वह अवर्ण से परे होता है।

हे अनडुह्+स् यहां सम्बुद्धि परे है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) के नियमानुसार 'अम्सम्बुद्धौ (२६१) द्वारा अनडुह् के अन्त्य अच् उकार से परे अम् का

आगम हो कर यण करने से अनड्वह्+स् हुआ। पुन सावनडुह (२६०) सूत्र से नुम् का आगम कर सकारलोप और संयोगान्तलोप करने से— हे अनड्वन् प्रयोग सिद्ध होता है।

अनडुह + औ = अनडु आम् ह् + औ = अनड्वाहौ । अनड्वाह । अनड्वाहम् । अनड्वाहौ। शस में सर्वनामस्थान परे न होने के कारण आम् का आगम नहीं होता— अनडुह ।

अनडुह् + भ्याम् यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्र से अनडुह् की पदसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६२ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।८।२।७२॥

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम् ? विद्वान्। पदान्तेति किम् ? स्रस्तम्, ध्वस्तम् ।

अर्थ—पद के अन्त में सान्त वसुप्रत्ययान्त को तथा स्रंसु ध्वंसु और अनडुह शब्दों को दकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—स ।६।१। ['ससजुषो रु' का एक अंश] वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ।६।३। पदानाम् ।६।३। [पदस्य' इस अधिकृति का यहां वचनविपरिणाम हो जाता है] दः ।१।१। समास—वसुश्च स्रंसुश्च ध्वंसुश्च अनड्वान् च = वसुस्रंसुध्वंस्वनडुह, तेषाम्=वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्, इतरेतरद्वन्द्व । 'स' यह 'वसु' अंश का ही विशेषण है। स्रंसु और ध्वंसु में किसी प्रकार का दोष न आने से तथा अनडुह का असम्भव होने से विशेषण नहीं बन सकता। विशेषण होने से स स तदन्तविधि हो जाती है। शतृ के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव से वसु भी प्रत्ययसञ्ज्ञक है अतः प्रत्यय होने से उस से भी तदन्त विधि हो जाती है। स्रंसु आदि भी 'पद' के विशेषण होने से तदन्तविधि को प्राप्त होते हैं। अर्थ—(स) सान्त (वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्) वसुप्रत्ययान्त और स्रंसु ध्वंसु तथा अनडुह अन्त वाले (पदानाम्) पदों को (दः) दकार आदेश होता है। दकार में अकार उच्चारणार्थ है, आदेश द्' ही होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा' से यह दकारादेश पद के अन्त का ही होता है।

अनडुह + भ्याम यहां व्यपदेशिवद्भाव से अथवा पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (पृष्ठ २३३) के अनुसार अनडुह के अन्त्य हकार को प्रकृत सूत्र से दकार आदेश होकर 'अनडुद्भ्याम' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'अनडुद्भिः' तथा

भ्यस में 'अनडुद्भ्य' रूप बनता है। सुप् में दकारादेश हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है— अनडुत्सु। अनडुह् शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	,,	अनडुद्भ्यः
पञ्चमी	अनडुहः		,,
षष्ठी		अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि		अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वन्!	हे अनड्वाहौ!	हे अनड्वाहः!

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से 'स' पद की अनुवृत्ति ला कर 'वसु' का विशेषण बना कर तदन्तविधि कर 'सान्त वस्वन्त' क्यों कहा गया है? जब कि वह है ही सकारान्त? इसका उत्तर यह है कि यदि 'सान्त' न कहते केवल 'वस्वन्त' का ही दकारादेश करते तो 'विद्वान्' यहां पर भी नकार का दकार आदेश हो जाता क्योंकि यह भी वस्वन्त है। अब सूत्र में सान्त कथन से कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'विद्वान्' यह सान्त नहीं किन्तु नान्त वस्वन्त है। 'विद्वान्' कैसे वस्वन्त है? यह आगे 'विद्वस्' शब्द पर इसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

पदान्त अर्थात् पद के अन्त को आदेश कहने से 'स्रस्+तम् = स्रस्तम्, ध्वस+तम् = ध्वस्तम्' यहां अपदान्त सकार को दकार आदेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां क्रमशः स्रंसु ध्वंसु धातुओं से 'क्त' प्रत्यय हो कर अनुनासिक का लोप हुआ है।

वस्वन्तों में दकारादेश के उदाहरण 'विद्वद्भ्याम्' आदि आगे आएंगे। स्रंसु ध्वंसु दोनों भ्वादिगणीय सेट् आत्मनेपदी धातु हैं। एक का अर्थ 'गिरना' और दूसरे का अर्थ 'ध्वस्त होना = नाश होना' है। इन के उदाहरण उखास्रस् और पर्णध्वस् शब्द हैं। यथा—

{ उखास्रस् = बटलोई से गिरने वाला धान्यकण आदि। उखायाः स्रंसते इत्युखास्रत्। कर्तरि क्विप्, उपपदसमासः। }

प्र०	उखास्रत्, द्	उखास्रसौ	उखास्रसः	पं०	उखास्रसः	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भ्यः
द्वि०	उखास्रसम्			ष०		उखास्रसोः	उखास्रसाम्
तृ०	उखास्रसा	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भिः	स०	उखास्रसि		उखास्रत्सु
च०	उखास्रसे	,,	उखास्रद्भ्यः	सं०	हे उखास्रत्, द्!	हे उखास्रसौ!	हे उखास्रसः!

* यहां सर्वत्र पदान्त में 'वसुस्रंसु—' (२६२) से दत्व हो जाता है।

पर्णध्वस्=पत्तों का नाश करने वाला। पर्णानि ध्वंसते इति पर्णध्वत्। क्विप्, उपपदसमास।

प्रथमा	पर्णध्वत्—द्	पर्णध्वसौ	पर्णध्वसः
द्वितीया	पर्णध्वसम्		,,
तृतीया	पर्णध्वसा	पर्णध्वद्भ्याम्	पर्णध्वद्भिः
चतुर्थी	पर्णध्वसे		पर्णध्वद्भ्यः
पञ्चमी	पर्णध्वसः	,,	,,
षष्ठी		पर्णध्वसोः	पर्णध्वसाम्
सप्तमी	पर्णध्वसि		पर्णध्वत्सु
सम्बोधन	हे पर्णध्वत्—द् !	हे पर्णध्वसौ !	हे पर्णध्वसः !

यहां भी सर्वत्र पदान्त में पूर्ववत् दत्व हो जाता है।

तुरासाह्=इन्द्र।

[तुरम्=वेगवन्तं साहयति=अभिभवति इति तुराषाट्। तुरकर्मोपपदात् 'षह मर्षणे' (भ्वा० आ०) इत्यस्माद्धातोः 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्। उपपदसमासः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६.३.१३६) इति दीर्घः। जो वेग वाले को दबा लेता है उसे तुरासाह् कहते हैं। यह इन्द्र का नाम है।]

तुरासाह्+स (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सकारलोप हो कर 'हो ढः' (२५१) सूत्र द्वारा हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार करने पर— 'तुरासाड्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६३ सहेः साडः सः।८।३।५६॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सह् धातु से बने 'साड' शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—सहेः।६।१। साडः।६।१। सः।६।१। मूर्धन्यः।१।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः। शरीरावयवाच्चेति यत्। अर्थः—(सहेः) सह् धातु का जो (साडः) साड् उस के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला वर्ण हो जाता है। सकार के स्थान पर आन्तर्य से ईषद्विवृत प्रयत्न वाला षकार ही मूर्धन्य होता है।

सह् का साड् रूप पदान्त मे ही बनता है अत पदान्त में सह के सकार को मूर्धन्य आदेश हो यह फलितार्थ हुआ।

'तुरासाड्' यहां साड' यह रूप सह धातु से बना है। अत प्रकृतसूत्र से इस के सकार को मूर्धन्य षकार हो कर वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर— तुराषाट तुराषाड्' ये दो रूप बनते हैं। तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः । काल नमिवधाप्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् (रघु १५४०)। तुरासाह् की रूपमाला यथा—

प्र०	तुराषाट् ड	तुरासाहौ	तुरासाह
द्वि०	तुरासाहम्	,,	,
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भि
च०	तुरासाहे	,,	तुराषाड्भ्य
प०	तुरासाह	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्य
ष०	,,	तुरासाहो	तुरासाहाम्
स०	तुरासाहि	,,	तुराषाट्त्सु ट्सु
स	हे तुराषाट् ड !	हे तुरासाहौ !	हे तुरासाह !

इसी प्रकार—पृतनासाह् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहिये।

(यहां हकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होत है।)

—— • ——

यद्यपि हकारान्त शब्दों के अनन्तर प्रत्याहारक्रम से यकारान्त शब्द आने चाहियें थे तथापि उन का विरलप्रयोग* तथा उन में किसी प्रकार का विशेषकार्य न देख कर ग्रन्थकार उन्हें छोड़ कर वकारान्त शब्दों का निरूपण करते हैं।

सुदिव्=अच्छे अर्थात् निर्मल आकाश वाला दिवस (दिन) आदि या अच्छे स्वर्ग वाला पुरुष आदि। 'दिव्' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस का अर्थ आकाश व स्वर्ग है। 'द्यो दिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमर । सु=शोभना द्यौ =आकाशो नाको वा अस्य स सुद्यौ । इस प्रकार बहुव्रीहि समास में सुदिव्' शब्द पुंल्लिङ्ग हो जाता है। प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुदिव + स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७९) से सकारलोप प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६४ दिव औत् ।७।१।८४॥

दिव् इति प्रातिपदिकस्य औत् स्यात् सौ । सुद्यौ । सुदिवौ ।

अर्थ —सुँ परे होने पर दिव् इस प्रातिपदिक को औकार हो जाता है।

व्याख्या—दिव ।६।१। औत् ।१।१। सौ ।७।१। [सावनडुह ' से] संस्कृत में दो 'दिव्' शब्द हैं। एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक और दूसरा 'दिवुँ क्रीडा विजिगीषा——' (दिवा० प० सेट्) यह धातु। इस सूत्र में 'दिव्' इस अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का ही ग्रहण

* यथा व्याकरण में अय्, आय, इय, वय, यय आदि।

होता है दिवु' धातु का नहीं। इस में कारण यह है कि—"निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" (परिभाषा) अर्थात् यदि निरनुबन्ध (अनुबन्धहीन) का ग्रहण सम्भव हो सके तो सानुबन्ध (अनुबन्धसहित) का ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां सूत्र में दिव में उकारानुबन्धरहित दिव् का ग्रहण किया है; अतः दिव इस प्रातिपदिक निरनुबन्ध का ही ग्रहण होगा सानुबन्ध दिवु का नहीं। औत् में तकार उच्चारणार्थ है आदेश औ' ही होता है। प्रयोजनाभाव से तकार की इत्संज्ञादि न होगी। यदि तकार भी साथ आदेश होता तो अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता। अर्थः—(दिव) दिव् इस प्रातिपदिक के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर।

यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है अतः दिव् और दिवशब्दान्त दोनों को औकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव के वकार को ही औकार आदेश होगा।

सुदिव्+स् यहां 'सुँ' परे है अतः प्रकृत सूत्र से वकार को औकार करने पर इको यणचि (१५) से इकार को यकार हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सुद्यौः' प्रयोग सिद्ध होता है *।

सुदिव् + औ=सुदिवौ। सुदिव् + अस् (जस्)=सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ। सुदिव् + अस् (शस्)=सुदिवः।

सुदिव्+भ्याम् यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६५ दिव उत् ।६।१।१२८॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—पद के अन्त में दिव को उकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—दिवः ।६।१। उत् ।१।१। पदान्ते ।७।१। [एङः पदान्तादति' से विभक्तिविपरिणाम करके] अर्थः—(पदान्ते) पदान्त में (दिवः) दिव् शब्द के स्थान

---

* 'सुदिव्+स' में औकारादेश तथा सुलोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु औकारादेश नित्य और सुलोप अनित्य होने से प्रथम औकारादेश हो जाता है। जो विधि दूसरे के प्रवृत्त होने या न होने पर समानरूप से प्रसक्त हो वह दूसरे की अपेक्षा नित्य होती है। जैसा कि कहा भी है—

"कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः" (परि०)।

यहां सुलोप कर देने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा सु को मान कर औकारादेश हो सकता है अतः औकारादेश नित्य है। परन्तु औकारादेश कर देने पर हल् न होने से सुलोप नहीं हो सकता अतः सुलोप अनित्य है। नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है।

पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के अन्त्य अल्—वकार को ही उकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् दिव् प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जाता है।

सुदिव्+भ्याम् यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से पदान्त में वकार को उकारादेश तथा इको यणचि (१५) सूत्र से यण् करने पर सुद्युभ्याम् रूप बनता है। इसी प्रकार भिस् भ्यस् और सुप् में भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	सुद्यौ	सुदिवौ	सुदिवः	पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
द्वि०	सुदिवम्	„	„	ष०	„	सुदिवोः	सुदिवाम्
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	स०	सुदिवि	„	सुद्युषु
च०	सुदिवे	„	सुद्युभ्यः	सं०	हे सुद्यौः !	हे सुदिवौ !	हे सुदिवः !

इसी प्रकार—प्रियदिव्, अतिदिव्, शुभ्रदिव्, दुर्दिव् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहां वकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—❀—

अभ्यास (३७)

(१) अनडुह् और विश्ववाह् शब्द के जस् और शस् में सदृश (?) रूप क्यों बनते हैं? कारण बताओ। यदि नहीं तो भी कारण लिखो।

(२) अनड्वान् और अनड्वन् में, सुदिवौ और सुद्यौ में लिट् और स्निट् में सुड्भ्याम् और द्युभ्याम् में ससूत्र प्रक्रिया सम्बन्धी अन्तर बताओ।

(३) 'सूत्रशाटकन्याय' किसे कहते हैं और व्याकरण में इस का कहां और कैसा उपयोग होता है?

(४) निम्नलिखित वचनों का जहां तक हो सके सोदाहरण विवेचन करो—
१ निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः। २ प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। ३ निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य। ४ अपवादो वचनप्रामाण्यात्। ५ अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते। ६ कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः।

(५) तुराषाट्, सुद्युभ्याम्, प्रभुत्, विश्वौहि, उस्राखम्याम्, स्निक्—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो।

(६) (क) चतुरनडुहो — और सावनडुह ' में उत्सर्ग अपवादभाव क्यों नहीं होता ?

(ख) लिट्त्सु में किस प्रकार तकार का थकार प्राप्त होता है और किस प्रकार उस की निवृत्ति होती है ?

(ग) सुद्यौ में औकारादेश करने से पूर्व सुँलोप क्यों नहीं हो जाता ?

(घ) दिव औत् में दिवुँ धातु का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

(ङ) मूर्धन्य शब्द का क्या विग्रह और क्या अर्थ है ?

(७) निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या करें—

१ एकाचो बशो भष्—। २ दादेर्धातोर्घः । ३ सम्प्रसारणाच्च । ४ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।

— ® —

अब रेफान्त पुल्लिङ्ग चतुर् (चार, सङ्ख्येयवाची) शब्द का वर्णन करते हैं। चतेरुरन् (उणा० ७३६) सूत्र से चतुर् शब्द की निष्पत्ति होती है। चतुर् शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

चतुर् + अस् (जस्) । यहां जस् यह सर्वनामस्थान परे है अतः चतुरनडुहो— (२८१) सूत्रसे आम् का आगम हो कर इको यणचि' (१५) से यण् करने पर चत्वारः प्रयोग सिद्ध होता है।

चतुर् + अस् (शस्)=चतुरः । शस् के सर्वनामस्थान न होने से आम् का आगम नहीं होता।

चतुर् + भिस् = चतुर्भिः । चतुर् + भ्यस् = चतुर्भ्यः ।

चतुर्+आम् । यहां ह्रस्वादि न होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) द्वारा नुट् प्राप्त नहीं हो सकता अतः उस की सिद्धि के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६५ षट्चतुर्भ्यश्च ।७।१।५५।।

षट्सञ्ज्ञकेभ्यश्चतुरश्चामो नुडागमः स्यात् ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—षट्चतुर्भ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । आमः ।६।१। [आमि सर्वनाम्नः सुट्' से। यहां 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' के अनुसार षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है।] नुट् ।१।१। ['ह्रस्वनद्यापो नुट्' से] अर्थः—(षट्चतुर्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे (च) भी (आमः) आम् का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है।

इसी प्रकरण में आगे (२६७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा की जाएगी यहाँ उसी का ग्रहण है। चतुर शब्द की षट्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः इसका पृथक ग्रहण किया है।

चतुर् + आम्। यहां प्रकृत सूत्र से नुट् का आगम हो कर चतुर् + नाम् हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६६ रषाभ्यां नो णः समानपदे।८।४।१॥

एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्। 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

अर्थः—एक पद में स्थित रेफ व षकार से परे नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—रषाभ्याम्।५।२। न।६।१। णः।१।१। समानपदे।७।१। समानञ्चाद पदं च=समानपदम्। कर्मधारयसमासः। रश्च षश्च=रषौ, ताभ्याम्=रषाभ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकारः षकाराद्याकारश्चोच्चारणार्थः। णः' इत्यत्राप्यकार उच्चारणार्थो बोध्यः। अर्थ—(समानपदे) एक पद में (रषाभ्याम्) रेफ व षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो। [र्+न=र्ण ष+न=ष्ण]

'समानपद' कथन से पूर्वोक्तरीत्या अखण्डपद का ही ग्रहण होता है। अतः—अग्निर्नयति वायुर्नयति चतुर्नवति' इत्यादियों में रफ से परे नकार को णकारादेश नहीं होता।

इस सूत्र के उदाहरण—आस्तीर्णम् अवगीर्णम् कुष्णाति, पुष्णाति आदि हैं।

अप्नृन्—प्रशास्तॄणाम् (२०६) इत्यादि प्रयोगों* तथा क्षुम्नादिगण (८ ४ ३६) में नृनमन, तृप्नु' को णत्व निषेध करने से यहां रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व का निमित्त मानना चाहिये। इसके उदाहरण—मातॄणाम पितॄणाम् नॄणाम आदि हैं।

'चतुर्+नाम' यहां प्रकृतसूत्र से नकार को णकारादेश हो कर चतुर्णाम् हुआ। अब अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से णकार को वैकल्पिक द्वित्व करने से— चतुर्ण्णाम, चतुर्णाम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यहां णत्व करते समय प्रायः सुबोध विद्यार्थियों को सन्देह हुआ करता है कि चतुर्णाम् में तो अट्कुप्वाङ्— (१३८) से ही णत्व हो सकता है, क्योंकि वहां 'व्यवधानेऽपि णत्वं स्यात्' कहा है। अर्थात् व्यवधान होने पर भी णत्व हो जाता है। इस

---

* 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२ ३ ६९) इत्यादिषु तु तृन इति प्रत्याहारस्येष्टत्वाद् णत्वाभावो जिघृक्षितरूपविनाशभियेति बोध्यम।

से यह विदित होता है कि यदि व्यवधान न होगा तब तो अवश्य ही हो जायगा। पुष्णाति मुष्णाति आदियों में भी ष्टुत्व से णत्व सिद्ध हो सकता है। अत यह सूत्र निरर्थक है।

परन्तु तनिक ध्यान देने पर इस की उपयोगिता स्पष्ट समझ में आ जाती है। अष्टाध्यायी में प्रथम यह सूत्र और तदनन्तर अटकुप्वाङ्— (१३८) सूत्र पढ़ा गया है। अटकुप्वाङ्—'(१३८) सूत्र में पूर्णरूपेण यह सूत्र अनुवर्तित होता है। यदि यह सूत्र न बनाते तो उस में अनुवृत्ति कहा से आती ?। 'पुष्णाति मुष्णाति' आदियों में यद्यपि ष्टुत्व से सिद्धि हो सकती है तथापि अट आदि के व्यवधान मे णत्वसिद्धि के लिये उस का ग्रहण अवश्य प्रयोजनीय है। अन्यथा 'पुरुषेण, पुरुषाणाम् आदि सिद्ध न हो सकेंगे।

सप्तमी के बहुवचन में चतुर्+सु इस स्थिति में सकार—खर परे होने से खरवसानयो— ९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२६८ रो सुपि ।८।३।१६॥

रोरेव विसर्जनीय सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

अर्थ—सप्तमी के बहुवचन सुप् के परे होने पर रुँ के स्थान पर ही विसर्ग आदेश हो। (अन्य रेफ के स्थान पर न हो)

व्याख्या—रो ।६।१। सुपि ।७।१। विसर्जनीय ।१।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीय' से] अर्थ—(सुपि) सप्तमी का बहुवचन 'सुप' प्रत्यय परे होने पर (रो) रुँ के स्थान पर (विसर्जनीय) विसर्जनीय आदेश हो। सुप् परे होने पर रुँ (र्) के स्थान पर विसर्गादेश खरवसानयो— (९३) सूत्र से ही सिद्ध है, पुन इस का आरम्भ नियमार्थ ही है— सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ'। अर्थात् सुप परे होने पर रुँ के रेफ को ही विसर्ग आदेश हो अन्य रेफ को न हो।

'चतुर + सु' यहा रुँ का रेफ नहीं अत इसे विसर्ग आदेश न हुआ। आदेश प्रत्यययो' (१५०) द्वारा सकार को षकार करने से—चतुर्षु' प्रयोग सिद्ध हुआ। अब यहा 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा षकार को वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२६९ शरोऽचि ।८।४।४९॥

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

अर्थः—अच् परे हो तो शर् को द्वित्व नहीं होता ।

व्याख्या—अचि ।७।१। शरः ।६।१। न इत्यव्ययपदम् । ['नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] **अर्थः**—(अचि) अच् परे होने पर (शरः) शर् के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप (न) न हों ।

'चतुर्षु' यहां उकार अच् परे है अतः षकार शर् को द्वित्व नहीं होता । इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ दर्शनम् । २ स्पर्शनम् । ३ आर्षम् । ४ वर्षणम् । ५ चिकीर्षा । ६ जिहीर्षा । ७ मुमूर्षा । ८ कार्शयम् । ९ अर्शः । १० घर्षणम् । ११ कर्षकः । १२ बर्हिषः । १३ कर्षापणम् । १४ वर्षा । १५ हर्षः । इत्यादि ।*

निम्नलिखित स्थलों में अच् परे न होने से निषेध नहीं होता । 'अनचि च' (१८) अथवा 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से द्वित्व हो जाता है—

१ कृष्णः । २ कार्ष्णिः । ३ दर्श्यते । ४ भीष्मः । ५ यष्टिः । ६ अश्वः । ७ अश्मरी । ८ अश्नाति । ९ श्मश्रु । १० अशिश्वी । ११ अष्टौ । १२ विश्रान्तः । १३ ईर्ष्यति । इत्यादि ।

अच् परे होने पर भी शर् से अतिरिक्त वर्ण (यर्) को द्वित्व हो ही जायगा—

१ अर्कः । २ अर्थः । ३ निर्झरः । ४ दुर्गः । ५ कवर्गः । ६ मूर्खः । ७ निर्भरः । ८ मूर्च्छना । ९ ऊर्मिः । १० आह्वानम् । ११ नह्यस्ति । १२ उर्वी । १३ आढ्यः । १४ आह्लादः । १५ अपह्नुते । इत्यादि ।

'चतुर्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	चत्वारः	पं०	०	०	चतुर्भ्यः
द्वि०	०	०	चतुरः	ष०	०	०	चतुर्णाम्, चतुर्ण्णाम्
तृ०	०	०	चतुर्भिः	स०	०	०	चतुर्षु
च०	०	०	चतुर्भ्यः	सम्बोधन संख्यावाचकों का नहीं होता ।			

इसी प्रकार 'परमचतुर्' आदि शब्दों के रूप होते हैं ।

(यहां रेफान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं)

—:०:—

अब मकारान्तों का वर्णन किया जाता है—

---

* इस सूत्र का निषेध शकार और षकार तक ही सीमित रहता है । सकार के द्वित्व का प्रसङ्ग कहीं नहीं प्राप्त होता । [विशेष स्वयं विचार करें]

प्रपूर्वक शमुँ उपशमे (दिवा प० से०) धातु से क्विप् अनुनासिकस्य— (७२७) से दीर्घ करने पर प्रशाम् (शान्त) शब्द निष्पन्न होता है।

प्रशाम् + स (सुँ)। यहां सकारलोप हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७० मो नो धातोः ।८।२।६४॥

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्। प्रशान्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—पदान्त में धातु के मकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धातोः ।६।१। मः ।६।१। नः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। [स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (धातोः) धातु के (मः) मकार के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है।*

प्रशाम् यहां एकदेशविकृतमनन्यवत् (पृष्ठ २३५) के अनुसार शम् धातु का मकार है अतः प्रकृत सूत्र से इसे नकार आदेश हो कर—'प्रशान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह नकारादेश (८.२.६४) न लोपः—' (८.२.७) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है अतः उस को यहां मकार ही दिखाई देता है। इस से नकार का लोप नहीं होता।

प्रशाम् (शान्त) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
द्वि०	प्रशामम्	,,	,,
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
च०	प्रशामे	,,	प्रशान्भ्यः
पं०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
ष०	,,	प्रशामोः	प्रशामाम्
स०	प्रशामि	,,	प्रशान्त्सु, न्सु‡
सं०	हे प्रशान्!	हे प्रशामौ!	हे प्रशामः!

‡ यहां मो नो धातोः सूत्र द्वारा नकार आदेश हो कर नश्च (८७) सूत्र से वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है। धुट्पक्ष में खरि च (७४) से चर्त्व हो कर 'प्रशान्त्सु' और धुट् के अभाव में प्रशान्सु बन जाता है।

इसी प्रकार—प्रदाम्, प्रताम्, प्रकाम् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

किम् (कौन। 'कायतेर्डिमि' इत्युणादिसूत्रेण साधुः)

किम् शब्द सर्वादिगणपठित है अतः सर्वादीनि— (१५१) सूत्र से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यह शब्द त्रिलिङ्गी है। यहां पुल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाएंगे।

---

* 'मः' इति 'धातोः' इत्यस्य विशेषणत्वे तु तदन्तविधिना मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशः स्यात्पदान्ते इत्यर्थो निष्पद्यते। तदाऽलोऽन्त्यविधिनाऽन्त्यमकारस्य नकारादेश उन्नेतव्यः।

'किम्+स' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७९) से सकार का लोप प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७१ किमः कः ।७।२।१०३॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ । कः । कौ । के । इत्यादि सर्ववत् ।

अर्थ —विभक्ति परे होने पर किम् को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—किमः ।६।१। कः ।१।१। विभक्तौ ।७।१। [अष्टन आ विभक्तौ से] अर्थ —(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (किमः) किम् शब्द के स्थान पर (कः) क' आदेश हो। क' आदेश सस्वर होने से अनेकाल् है अतः अनेकाल्परिभाषा से सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होगा।

इस सूत्र से सर्वत्र स्वादियों में किम् को क आदेश हो जाता है। तदनन्तर सर्वशब्द के समान प्रक्रिया होती है। ध्यान रहे कि क आदेश स्थानिवद्भाव से सर्वनामसञ्ज्ञक होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	कः	कौ	के‡	प०	कस्मात्❀	काभ्याम्	केभ्यः
द्वि०	कम्	,,	कान्	ष०	कस्य	कयोः	केषाम्×
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः	स०	कस्मिन्❀		केषु
च०	कस्मै†	,,	केभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

‡ जसः शी (१५२)। † सर्वनाम्नः स्मै' (१५३)। ❀'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४)। × आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५)।

इदम्—यह (निकटतम *)

इदम् ‡ शब्द भी सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है। यह त्रिलिङ्गी है। यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाते हैं—

इदम्+स् (सुँ)। यहां त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र निषेध करता है—

---

* 'इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥''

अर्थ —इदम् शब्द का प्रयोग निकटतम—अर्थात् जिसे अङ्गुली से बताया जा सके—के लिये, एतद् का निकटतर के लिये अदस् का दूरस्थ के लिये और तद का परोक्ष—जो दिखाई न दे रहा हो—के लिये होता है।

‡ 'इन्देः कमिन्नलोपश्च' (उणा० ५९६) इति सिध्यति।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७२ इदमो मः ।७।२।१०८॥

इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ।

अर्थ —सुँ परे होने पर इदम् शब्द के मकार को मकार आदेश हो । यह सूत्र त्यदादियों के स्थान पर होने वाले अत्व का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। मः ।१।१। सौ ।७।१। [तदोः सः सावनन्त्ययोः से] अर्थ —(इदमः) इदम् शब्द के स्थान पर (मः) म् आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर। यह मकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से इदम् शब्द के अन्त्य अल्—मकार के स्थान पर ही होता है । मकार को पुनः मकार आदेश करने का तात्पर्य 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है अर्थात् इदम् का मकार मकाररूपेण ही स्थित रहता है, सुँ परे होने पर उस के स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता ।

इस सूत्र से इदम्+स यहां अत्व नहीं होता । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७३ इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११॥

इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वे—

अर्थ —सुँ परे होने पर पुलँ्लिङ्ग में इदम् शब्द के 'इद्' भाग को अय् आदेश हो ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। अय् ।१।१। पुंसि ।७।१। सौ ।७।१। ['तदोः सः सौ' से] अर्थ —(सौ) सुँ परे होने पर (पुंसि) पुलँ्लिङ्ग में (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो । अनेकाल्परिभाषा द्वारा अय् आदेश सम्पूर्ण इद् के स्थान पर होगा । ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा किञ्च प्रयोजनाभाव से इत्संज्ञा भी न होगी ।*

इदम् + स यहां पुलँ्लिङ्ग में प्रकृतसूत्र से इद् को अय् आदेश हो कर अय् अम् + स् हुआ । अब 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सकार का लोप करने पर 'अयम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'इदम् + औ' यहां सुँ परे नहीं है अतः इदमो मः प्रवृत्त न होगा । 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार आदेश हो कर इद अ + औ हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७४ अतो गुणे ।६।१।९५॥

* पुंसीति किम् ? इयं ब्राह्मणी । साविति किम् ? इमौ पुत्रौ ।

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः ।

अर्थः—अपदान्त अत् से गुण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—अपदान्तात् ।५।१। [उस्यपदान्तात् से] अतः ।५।१। गुणे ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकम् ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पररूपम् ।१।१। [एङि पररूपम् से] अर्थः—(अपदान्तात्) अपदान्त (अतः) अत् से परे (गुणे) गुणसञ्ज्ञक वर्ण हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो। अदेङ् गुणः (२१) के अनुसार अ, ए, ओ ये तीन वर्ण गुणसञ्ज्ञक हैं। यह सूत्र सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि आदि का अपवाद है। उदाहरण यथा—

पच + अन्ति = पच् अ' न्ति = पचन्ति । यज + अन्ति = यज् अ' न्ति = यजन्ति । एध + ए = एध् ए' = एधे । इत्यादि ।

इद् अ + औ यहां दकारोत्तर अपदान्त अत् से परे 'अ' यह गुण विद्यमान है, अतः पूर्व (अ) और पर (अ) दोनों के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर इद + औ हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७५ दश्च ।७।२।१०९॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर इदम् शब्द के दकार को मकार आदेश हो। त्यदादेरिति—सामान्यतया त्यद् आदि शब्दों का सम्बोधन नहीं होता।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। [अष्टन आ विभक्तौ से] इदमः ।६।१। मः ।१।१। [इदमो मः' से। मकारादकार उच्चारणार्थः ।] दः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (मः) म् आदेश हो।

'इद + औ' यहां विभक्ति 'औ' परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को मकार हो कर 'इम + औ' हुआ। अब रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर नादिचि (१२७) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'इमौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम् + अस्' (जस्) । यहां त्यदाद्यत्व पररूप तथा 'दश्च' सूत्र से दकार को

मकार आदेश हो कर इम + अस' हुआ। अब एकदेशविकृत न्याय से इम शब्द का भी सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) से सर्वनामसंज्ञा हो जाती है। तब जस शी (१५२) से जस को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर — इमे प्रयोग सिद्ध होता है।

त्यदादियों [त्यद तद यद् एतद इदम् अदस एक द्वि युष्मद् अस्मद, भवतु किम्] का सम्बोधन प्राय नहीं हुआ करता। प्राय ' इसलिये कहा है कि भाष्य में कहीं २ हे स' आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। मूल का अक्षरार्थ यह है—(त्यदादे) त्यदादिगण का (सम्बोधनम्) सम्बोधन (नास्ति) नहीं होता (इति) यह (उत्सर्ग) सामान्यनियम है।

'इदम् शब्द के सम्बोधन में भी वही रूप बनते हैं जो उस के प्रथमा में बनते हैं। परन्तु लोक में इन का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता।

इदम् + अम् यहां त्यदाद्यत्व परुरूप 'दश्च (२७४) से दकार को मकारादेश तथा अमि पूर्व ' (१३५) से पूर्वरूप करने पर इमम् सिद्ध होता है।

इदम् + अस' (शस्)। त्यदाद्यत्व पररूप दकार को मकारादेश तथा पूर्वसवर्ण दीर्घ कर सकार को नकारादेश करने से इमान् प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + आ (टा)। यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद + आ इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७६ अनाप्यक ।७।२।११२॥

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ। आप् इति प्रत्याहारः। अनेन।

अर्थ — ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हो तृतीयादि विभक्ति परे हो तो।

व्याख्या—अक ।६।१। इदम ।६।१। ['इदमो म' से] इद ।६।१। [इदोऽय पुंसि से] अन् ।१।१। आपि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] यहां 'आप्' यह टा के आकार से सुप के पकार तक प्रत्याहार समझना चाहिये। नास्ति क (ककार) यस्मिन् स =अक तस्य=अक बहुव्रीहिसमास। अर्थ —(अक) ककार रहित (इदम) इदम् शब्द के (इद) इद् भाग के स्थान पर (अन्) अन् आदेश हो (आपि) तृतीयादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो। इदम् शब्द में जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टे' (१२२६) सूत्र से अकच् प्रत्यय किया जाता है तब वह 'इदकम्' इस प्रकार ककारसहित

हो जाता है। तब 'अन्' आदेश के निषेध के लिये सूत्र में 'अक' अर्थात् ककाररहित कहा है। यह विस्तरपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में स्पष्ट किया जाएगा।

ध्यान रहे कि अन् आदेश अनेकाल होने से सम्पूर्ण 'इद्' भाग के स्थान पर होता है।

'इद् + आ' यहां प्रकृत सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश हो कर 'अन् अ + आ' हुआ। पुनः 'टाङसिङसाम्—' (१४०) सूत्र से आ को इन आदेश तथा 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'अनेन' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+भ्याम्' यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से अन् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७७ हलि लोपः ।७।२।११३॥

अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ। "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे" (प०)।

अर्थः—तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हो तो ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो जाता है। **नानर्थक इति**—अभ्यासविकार को छोड़ कर अन्यत्र अनर्थकों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—अकः ।६।१। ['अनाप्यकः' से] इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। ['इदोऽय् पुंसि' से] लोपः ।१।१। आपि ।७।१। ['अनाप्यकः' से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'हलि' यह 'विभक्तौ' पद का विशेषण है और साथ ही सप्तम्यन्त अल् भी है अतः 'यस्मिन्विधिः—' से तदादिविधि हो जाती है। अर्थः—(अकः) ककाररहित (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् का (लोपः) लोप हो जाता है। (हलि=हलादौ) हलादि (आपि) तृतीयादि विभक्ति परे हो तो। यह सूत्र पिछले 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र का अपवाद है।

'इद्+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है अतः यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र को बाध कर 'हलि लोपः' (२७७) सूत्र से इद् का लोप प्राप्त होता है। परन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इद् के अन्त्य दकार का लोप होना चाहिये। इस पर—

"नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे"

यह परिभाषा प्रवृत्त हो कर कहती है कि अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं

हुआ करता है। यदि अभ्यास का विकार अनर्थक भी हो तो भी यह (अलोऽन्त्यस्य) प्रवृत्त हो जाता है*। कौन अनर्थक और कौन सार्थक होता है? इस का निर्णय निम्न परिभाषा से होता है—

"समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः"

अर्थात् समुदाय सार्थक और उस का एक भाग निरर्थक हुआ करता है। तो इस प्रकार इद यह सम्पूर्ण समुदाय सार्थक और इस का इद् यह अवयव निरर्थक है। अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं हुआ करती अतः यहां भी दकार का लोप न हो कर सम्पूर्ण इद् भाग का ही लोप हो जायगा— अ + भ्याम्। अब यहां 'सुपि च' (१४१) सूत्र से हमें दीर्घ करना अभीष्ट है, परन्तु उस से वह हो नहीं सकता, क्योंकि उस के अर्थ में अदन्त अङ्ग का दीर्घ हो ऐसा लिखा है। यहां अत् अङ्ग तो है पर अदन्त अङ्ग नहीं। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२७८ आद्यन्तवदेकस्मिन्।१।१।२०॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविव अन्त इव च स्यात्। 'सुपि चेति दीर्घः'। आभ्याम्।

अर्थः—जैसे आदि और अन्त में कार्य होते हैं वैसे एक वर्ण में भी कार्य हों।

व्याख्या—आद्यन्तवत् इत्यव्ययपदम्। एकस्मिन् ।७।१। समासः—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ इतरेतरद्वन्द्वः। तयोरिव=आद्यन्तवत्। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। अर्थः—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त में जैसे कार्य होते हैं वैसे (एकस्मिन्) एक वर्ण में भी हों।

आदि और अन्त शब्द सापेक्ष अर्थात् दूसरे की अपेक्षा आश्रय करने वाले हैं। जब तक अन्य वर्ण न हों, आदि और अन्त नहीं बन सकते। जैसा कि भाष्य में कहा है—

"यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते।
यस्मात्पूर्वमस्ति परश्च नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते।"

अर्थात् जिस से पूर्व कोई नहीं, परे है वह—'आदि' तथा जिस के पूर्व तो है परे नहीं वह—'अन्त' कहाता है। इस प्रकार आदि और अन्त में विधान किये गये कार्य केवल एक वर्ण में प्राप्त नहीं हो सकते। अतः उनकी एक असहाय वर्ण में भी प्रवृत्ति कराने के

* यथा—बिभर्ति, पिपर्ति आदियों में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश हो जाता है। अन्यथा यहां भी सम्पूर्ण अभ्यास के स्थान पर आदेश होता।

लिये यह सूत्र आरम्भ किया गया है । उदाहरण यथा—जैसे रामाभ्याम् पुरुषाभ्याम् यहां अदन्त अङ्ग का सुपि च (१४१) से दीर्घ होता है वैसे— अ + भ्याम्' यहां केवल अत् को भी दीर्घ हो कर आभ्याम् बनेगा । आदि का उदाहरण—जैसे भाविष्यति यहां वलादि स्य को आर्धधातुकस्येड् वलादेः (४ १) से इट का आगम होता है वैसे आतिष्टाम् आतिषु ' इत्यादियों में केवल स को भी होगा ।

नोट—भाष्यकार ने इस सूत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये व्यपदेशिवदेकस्मिन् ऐसा लिखा है । मुख्य-व्यवहार को व्यपदेश कहते हैं । सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी उस वाले का नाम व्यपदेशी हुआ । अर्थात् मुख्य का नाम व्यपदेशी है । इस मुख्य के समान एक में भी कार्य हो जाते हैं । यथा— एकाचो बशो भष्— (२५३) का मुख्य उदाहरण गधप है । यहां गदभ धातु का अवयव एकाच झषन्त दभ है । परन्तु 'धुक यहां ऐसा नहीं । यहां धातु भी वही है और एकाच् झषन्त भी वही है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं इसमें भी मुख्य के समान कार्य्य हो जाएंगे । ये उदाहरण पाणिनि के 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः भाष्यकार को व्यपदेशिवदेकस्मिन् इस प्रकार रचना पड़ा । शास्त्र में इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है । व्यपदेशिवद्भाव का अर्थ गौण को भी मुख्य के समान मानना है ।

'इदम् + भिस्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप हलि लोपः ' (२७७) से इद् भाग का लोप हो जाता है । तब अ + भिस् इस स्थिति में व्यपदेशिवद्भाव से 'अतो भिस ऐस' (१४२) द्वारा भिस का ऐस प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२७९ नेदमदसोरकोः ।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न । एभिः । अस्मै । एभ्यः । अस्मात् । अस्य । अनयोः २ । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

अर्थ—ककाररहित इदम् और अदस् शब्द के भिस को ऐस नहीं होता ।

व्याख्या—अकोः ।६।२। इदमदसोः ।६।२। भिसः ।६।१। ऐस ।१।१। [अतो भिस ऐस' से] न इत्यव्ययपदम् । नास्ति कः ययोस्तौ = अकौ तयोः = अकोः बहुव्रीहि समास । अर्थ—(अकोः) ककाररहित (इदमदसोः) इदम् और अदस् शब्द के (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस) ऐस् (न) न हो ।

'अ + भिस् यहां प्रकृतसूत्र से भिस को ऐस न हुआ । तब बहुवचने झल्येत्' (१४५) सूत्र से एत्व होकर सकार का रुत्व और रेफ को विसर्ग करने से—'एभिः' रूप सिद्ध हुआ ।

चतुर्थी के एकवचन में इदम्+ए' (ङे) इस अवस्था में सर्वनाम्न स्मै (१५८) सूत्र से एकार का स्मै आदेश तथा अनाप्यक (२७६) से इद् को अन् आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधपरिभाषा से परकार्य अन् आदेश होने योग्य है। परन्तु यह अनिष्ट है। इसके लिये निम्न परिभाषा प्रवृत्त होती है—

"पूर्व पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः" (प०)

अर्थात् पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग और अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान् होता है। नित्य उसे कहते हैं कि जो अपने विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हो सके। यथा—यहाँ स्मै आदेश नित्य है क्योंकि वह अपने विरोधी अन् आदेश के प्रवृत्त हो जाने पर भी प्रवृत्त हो सकता है। पर से नित्य बलवान् होता है अतः अनाप्यक (७ २ ११२) के पर होने पर भी 'सर्वनाम्न स्मै' (७ १ १४) सूत्र के नित्य होने से स्मै आदेश हो जायगा। 'इद+स्मै' इस स्थिति में हलि लोपः (२७७) से इद् भाग का लोप हो कर 'अस्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + अस् (ङसि) = इद + अस। यहां भी पूर्ववत् नित्य होने से अन् आदेश को बाध कर ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५९) सूत्र से स्मात् आदेश हो जाता है। तब हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप करने से 'अस्मात्' रूप बनता है।

इदम्+अस् (ङस)=इद + अस्। नित्य होने से प्रथम टाङसिङसाम्— (१४०) सूत्र से स्य आदेश हो जाता है। तब इद् भाग का लोप हो कर अस्य प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + ओस = इद + ओस। यहां अनाप्यक' (२७६) सूत्र से अन् आदेश, ओसि च (१४७) से एत्व तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर अनयोः' रूप बनता है।

इदम् + आम्। त्यदाद्यत्व पररूप, नित्य होने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट्, इद् भाग का लोप और बहुवचने झल्येत्' (१५२) से एत्व करने पर—एसाम्= एषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+इ (ङि) = इद+इ। यहां प्रथम स्मिन् आदेश हो कर तदनन्तर इद् भाग का लोप हो जाता है— अस्मिन्'।

इदम्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, इद् का लोप, एत्व और षत्व करने पर एषु' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र० अयम्	इमौ	इमे	पं० अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि० इमम्	„	इमान्	ष० अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ० अनेन	आभ्याम्	एभिः	स० अस्मिन्	„	एषु
च० अस्मै	„	एभ्यः	सम्बोधनं नास्तीति प्रायोवादः ।		

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८० द्वितीयाटौस्स्वेनः ।२।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः । यथा—अनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति । अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम् इति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ।

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द को 'एन' आदेश हो । किञ्चित् इति—किसी कार्य का विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुनः दूसरे कार्य का विधान करने के लिये ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहाता है ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। [इदमोऽन्वादेशे—' से] एतदः ।६।१। [एतदस्त्रतसोः— से] अन्वादेशे ।७।१। [इदमोऽन्वादेशे—' से] द्वितीयाटौस्सु ।७।३। एनः ।१।१। समासः—द्वितीया च टा च ओस् च=द्वितीयाटौसः, तेषु=द्वितीयाटौस्सु इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अन्वादेशे) अन्वादेश में (इदमः) इदम् शब्द के स्थान पर तथा (एतदः) एतद् शब्द के स्थान पर (एनः) एन आदेश हो (द्वितीयाटौस्सु) द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर ।

अन्वादेश किसे कहते हैं ?

किसी अपूर्व कार्य को जनाने या विधान करने के लिये जिस का प्रथम एक बार ग्रहण हो चुका हो; यदि पुनः दूसरे कार्य को जनाने या विधान करने के लिये उस का पुनः ग्रहण किया जावे तो वह पुनर्ग्रहण 'अन्वादेश' कहाता है । यथा—१ अनेन व्याकरणम् अधीतम् एनं छन्दोऽध्यापय । इस ने व्याकरण पढ़ लिया है अब इसे छन्दश्शास्त्र पढ़ाओ । यहां 'व्याकरण पढ़ लिया है' इस कार्य के लिये 'अनेन=इस ने' का ग्रहण किया गया है । पुनः छन्दोऽध्यापन के लिये भी उस का ग्रहण किया गया है अतः दूसरी बार उस का ग्रहण 'अन्वादेश' हुआ । २ अनयोः पवित्रं कुलम् एनयोः प्रभूतं स्वम् । इन दोनों का पवित्र कुल है तथा इन का धन भी बहुत है । यहां प्रथम पवित्र कुल कहने के लिये ग्रहण किये हुए

इमौ दोनों का पुनः बहुत भन कहने के लिये दोबारा ग्रहण किया गया है अतः यह दूसरी बार वाला ग्रहण 'अन्वादेश' है। इसी प्रकार—इमं बालकं शिक्षामपीपठ, अथो एनं वेदम् अध्यापय। इस बालक को तुम शिक्षा पढ़ा चुके हो अब इसे वेद पढ़ाओ। यहां वेद पढ़ाने के लिये पुनः उस का ग्रहण अन्वादेश है। अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा। ये दोनों छात्र अच्छे आचार वाले हैं और इन की बुद्धि भी तीक्ष्ण है। यहां बुद्धि तीक्ष्ण है यह जताने के लिये पुनः उन का ग्रहण अन्वादेश है।

अन्वादेश में द्वितीया=अम्, औट्, शस् तथा टा और ओस् [षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का] इन पाञ्च प्रत्ययों के परे होने पर इदम् और एतद् शब्द को एन आदेश हो जाता है। अन्य विभक्तियों में अनन्वादेश की भान्ति रूप चलते हैं*। एतद्' शब्द का वर्णन आगे आएगा यहां अब इदम् शब्द प्रस्तुत है—

१ इदम्+अम्=एन+अम्=एनम्। २ इदम्+औट्=एन+औ=एनौ। ३ इदम् +शस्=एन+अस्=एनान्। ४ इदम्+टा=एन+आ=एन+इन=एनेन। ५ इदम+ओस=एन+ओस्=एनयोः।

नोट—'एन' आदेश अनेकाल् होने से अनेकाल्परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण इदम्' के स्थान पर होता है।

इन सब का दो श्लोकों में उदाहरण यथा—

"इमं विद्धि हरेर्भक्तं, विद्ध्यथैनं शिवार्चकम्।
इमाविमान् वित्त शैवान्, एनावेनांस्तु वैष्णवान्॥१॥
अनेन पूजितः कृष्णोऽथैनेन गिरिशोऽर्चितः।
अनयोः केशवः स्वामी, शिवः स्वामी ह्यथैनयोः॥२॥"

(यहां मकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—•❀•—

अभ्यास (३८)

(१) [क] 'किम्' शब्द ही सर्वनामों में पढ़ा गया है 'क' शब्द नहीं, पुनः 'के कस्मै' आदियों में क्यों सर्वनामकार्य हो जाते हैं?

---

* यद्यपि अन्य विभक्तियों में रूप अनन्वादेश की भान्ति होते हैं तो भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है। अन्वादेश में इदम् शब्द के स्थान पर 'अश्' आदेश हो कर शकार का लोप करने पर अदन्त सर्वनाम की तरह कार्य होते हैं। यह सब सप्रयोजन विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

[ख] इदम् शब्द में स्वतः ही ककार का श्रवण नहीं होता, पुनः उस के निषेध के लिये अनाप्यक आदि में यत्न क्यों किया गया है ?

[ग] अयम्' में त्यदाद्यत्व क्यों नहीं होता ? यदि उस के प्रवृत्त्यभाव का कोई कारण है तो वह इमौ इमे' आदि में क्यों नहीं ?

[घ] अग्निर्नयति में णत्व क्यों नहीं होता ?

[ङ] पुष+नाति = पुष्णाति यहां ष्टुत्व होता है या णत्व ? अन्यतर की प्रवृत्ति का सहेतुक विवेचन करो ।

(२) [क] आदि और अन्त का लक्षण लिख कर व्यपदेशिवद्भाव का सोदाहरण विवेचन करें ।

[ख] अन्वादेश का लक्षण लिख कर उस का सोदाहरण स्पष्टीकरण करो किञ्च यह भी लिखो कि अन्वादेश में इदम्' के स्थान पर क्या क्या परिवर्त्तन होते हैं ।

[ग] नानर्थक— परिभाषा की आवश्यकता पर टिप्पणी लिखें ।

[घ] प्रशान् यहां नकार का लोप क्यों नहीं होता ?

[ङ] चतुर्षु में रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(३) चत्वारः केषाम्, प्रशान्सु चतुर्णाम् अयम्, अनया, अस्मै एषु—इन सूत्रों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो ।

(४) 'अनाप्यकः इदश्च शराऽचि, रषाभ्यां नो णः समानपदे, आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्रों की व्याख्या करें ।

—•※•—

अब नकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं—

[लघु०] राजा ।

राजन् = राजा (राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् कनिन् युवृषि—' इत्यौणादिके कनिनि साधुः) ।

'राजन् + स् (सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्य— (१७९) सूत्र से सुलोप तथा सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु परत्व के कारण प्रथम उपधादीर्घ हो कर पश्चात् सुलोप हो जाता है—राजान् + स = राजान् । अब 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर 'राजा' रूप सिद्ध होता है ।

'राजन् + औ' यहां 'सर्वनामस्थाने—' (१७७) से उपधादीर्घ हो कर राजानौ

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि व्याकरण में समास के अन्तिम पद को उत्तरपद तथा आदिम पद का पूर्वपद कहते हैं। यथा—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां 'राजन्' यह षष्ठ्यन्त पूर्वपद तथा 'पुरुष' यह प्रथमान्त उत्तरपद है।

ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्म में स्थिति या विश्वास रखने वाला 'ब्रह्मनिष्ठ' कहाता है। 'ब्रह्मन्ङि निष्ठासु' यहां बहुव्रीहिसमास में 'सुपो धातु—' (७२१) सूत्र से ङकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र उस लोप का निषेध कर देता है क्योंकि प्रत्ययलक्षणपरिभाषा से 'ङि' परे स्थित है। अब 'ङावुत्तरपदे—' वार्त्तिक से उस निषेध का निषेध हो कर पुनः 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकारलोप हो जाता है। यहां 'ङि' से परे 'निष्ठा' यह उत्तरपद विद्यमान है। ब्रह्मनिष्ठा ऐसा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९५२) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो कर विभक्ति लाने से 'ब्रह्मनिष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—'आत्मविश्वासः', 'चर्माङ्गः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

राजन्+अस् (शस्) यहां 'अल्लोपोऽनः' (२४७) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर—राज्न्+अस् हुआ। अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) सूत्र से नकार को ञकार करने पर—राज्ञ्+अस=राज्ञः प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—'ज्ञ' यह संयुक्त व्यञ्जन है। ज् और ञ् के संयोग से इस की निष्पत्ति होती है। लिखने की सुविधा के लिये इस का ऐसा स्वरूप माना गया प्रतीत होता है। 'ज्ञ' को पृथक् वर्ण मान कर इस का 'ग्य' वा 'ज्य' 'ग्न' 'ज्ञ' आदि उच्चारण करना नितान्त अशुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। यदि यह अपूर्व वर्ण बन जाता तो शिक्षाकार इस के उच्चारण का भी कहीं निर्देश करते परन्तु उन्होंने ऐसा कहीं नहीं किया। इस को अपूर्व वर्ण मानने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा श्चुत्व भी न हो सकेगा। यथा—'तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्', 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्', 'यज्ज्ञात्वा मुच्यतेऽशुभात्' इत्यादि। सिद्धान्तकौमुदी के 'अजोर्ज्ञः' पर शेखरकार का वक्तव्य भी द्रष्टव्य है—'अजयोगे लोकवेदसिद्धतादृशध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं न त्विदं वर्णान्तरम्, शिक्षादावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात्। अत एव 'तज्ज्ञानम्' इत्यादौ श्चुत्वसिद्धिः'। किञ्च यदि इस का उच्चारण 'ग्य' आदि होता तो प्राकृत में—मणोज्ज (मनोज्ञ), जण्ण (यज्ञ), अहिज्जा (अभिज्ञ), सव्वज्जा (सर्वज्ञ) इत्यादियों में इस प्रकार आदि में जकार व णकार न होता। अतः 'ज्ञ' कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्ष' के विषय में भी समझना चाहिये। यह भी 'क्+ष' के संयोग से उत्पन्न होता है।

राजन्+आ (टा) भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर श्चुत्व करने से—राज ञ्+आ='राज्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है।

राजन्+भ्याम् इस स्थिति में 'न लोप— (१८०) से पदान्त नकार का लोप हो जाता है। तब राज+भ्याम् इस अवस्था में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२८२ नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु कृति। ८।२।२॥

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद् आत्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः २। राजनि, राज्ञि। राजसु।

अर्थ—सुब्विधि स्वरविधि सञ्ज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुग्विधि करने में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। यथा—राजाश्व इत्यादियों में असिद्ध नहीं होता। इस सूत्र से यहां नकारलोप के असिद्ध होने से आभाव एभाव ऐस् भाव नहीं होता।

व्याख्या—नलोपः ।१।१। सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु ।७।३। कृति ।७।१। असिद्धः ।१।१। ['पूर्वत्रासिद्धम्' से लिङ्गविपरिणाम कर के] समास—नस्य लोपः=नलोपः षष्ठीतत्पुरुष। सुप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुक् च=सुप्स्वरसञ्ज्ञातुकः इतरेतरद्वन्द्व। तेषां विधयः= सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधयः, तेषु=सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु षष्ठीतत्पुरुष। विधिशब्दोऽत्र भावसाधन। विधानं विधिः। यहां सुबादिगत शेषषष्ठी के साथ विधिशब्द का समास हुआ जानना चाहिये। सुब्विधि—सुपो विधिः। यहां शेष में षष्ठी होने के कारण 'सुप्सम्बन्धी विधि' ऐसा अर्थ हो जाता है। सुप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है एक तो सुप के स्थान पर यथा—राजभिः। यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४२) सूत्र से भिस् सुप् के स्थान पर ऐस् प्राप्त होता है। दूसरी सुप् परे होने पर, यथा—राजभ्याम्, राजभ्यः। यहां सुप् परे होने पर आत्व तथा एत्व प्राप्त होता है। स्वरविधि=स्वरस्य विधिः। यहां स्वर कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'स्वर को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। सञ्ज्ञाविधि=सञ्ज्ञाया विधिः। यहां भी कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'सञ्ज्ञा को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। तुग्विधि= तुको विधिः। यहां भी तुक्-कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिये। 'कृति' यह तुग्विधि के साथ ही सम्बन्ध रखता है असम्भव होने से अन्यों के साथ नहीं।

अतः 'कृत् परे होने पर तुक् को विधान करना' यह अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थ —(सुप्स्वर सञ्ज्ञातुग्विधिषु) सुप्सम्बन्धी विधान, स्वरविधान सञ्ज्ञाविधान तथा कृत् प्रत्यय परे होने पर तुग्विधान करने में (नलोपः) नकार का लोप (असिद्धः) असिद्ध होता है।

ये जितनी विधियां गिनाई गई हैं सब सवा सात अध्यायों में स्थित हैं। अतः इन विधियों के प्रति नकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध है पुनः यहां इन विधियों में नकारलोप को असिद्ध कहना नियमार्थ है— 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'। अर्थात् इन विधियों में ही नकार का लोप असिद्ध हो अन्य विधियों में न हो। यथा—राज्ञोऽश्वः = राजाश्वः। राजन् ङस् अश्व सु यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से ङस् और सु का लुक् हो—राजन् अश्व। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो—राज अश्व। अब यहां नलोप के असिद्ध होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ नहीं हो सकता। पुनः इस उपर्युक्त नियम से नकारलोप के सिद्ध हो जाने से वह हो जाता है। तो इस प्रकार— 'राजाश्व' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार—दण्डयश्वः, योग्यात्मा मन्याज्ञा आदि प्रयोगों में नकारलोप के सिद्ध होने से यण् 'राजेश्वर' आदि प्रयोगों में गुण तथा राजीयति, राजायते में क्रमशः 'क्यचि च' (७२२) से ईत्व और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (४८३) से दीर्घ हो जाता है। इस सूत्र का यही प्रयोजन है।

राज + भ्याम् यहां 'सुपि च' (१४१) से आत्व राज+भिस् यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४१) से भिस् को ऐस्, राज + भ्यस् यहां 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व ये सुब्विधियां प्राप्त होती हैं। इन के प्रति नकारलोप असिद्ध ही है अतः इन में से कोई भी कार्य न होगा। राजभ्याम्, राजभिः राजभ्यः।

राजन्+इ (ङि)। यहां 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष में श्चुत्व हो कर— 'राज्ञि'। लोपाभाव में— राजनि। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राजा	राजानौ	राजानः	प०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
द्वि०	राजानम्	„	राज्ञः	ष०	„	राज्ञोः	राज्ञाम्
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	स०	राज्ञि, राजनि		राजसु
च०	राज्ञे	„	राजभ्यः	सं०	हे राजन्!	हे राजानौ!	हे राजानः!

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अकिञ्चनिमन्	= आकिञ्चन्य, निर्धनता	३ आशिमन्	= आशुता शीघ्रता
२ अणिमन्	= अणुत्व, अणुपना	४ ऋजिमन्	= आर्जव सरलता

शब्द	अर्थ
५ कालिमन्	= कालत्व, कृष्णता
६ क्षेपिमन्	= क्षिप्रत्व शीघ्रता
७ क्षोदिमन्	= क्षुद्रत्व, क्षुद्रता
८ खण्डिमन्	= खण्डत्व टुकड़ापन
९ गरिमन्	= गुरुत्व भारीपन
१० चारिमन्	= चारुत्व, सुन्दरता
११ तनिमन्	= तनुत्व पतलापन
१२ नेदिमन्	= अन्तिकत्व निकटता
१३ पटिमन्	= पटुत्व, पटुता
१४ पाण्डिमन्	= पाण्डुत्व, पीलापन
१५ प्रेमन्	= प्रियत्व प्यार स्नेह
१६ भूमन्	= बहुत्व बहुतायत
१७ महिमन्	= महत्त्व बड़प्पन
१८ लघिमन्	= लघुत्व हलकापन
१९ वरिमन्	= उरुत्व महत्ता
२० वर्षिमन्	= वृद्धत्व बुढ़ापा
२१ वृषिमन्	= वृषत्व वीर्यवत्ता
२२ साधिमन्	= साधुत्व सज्जनता
२३ स्वादिमन्	= स्वादुत्व स्वादुपन
२४ ह्रसिमन्*	= ह्रस्वत्व छुटप्पन

एवम्—उक्षन्—मूर्धन्—वृषन्, अश्वत्थामन् आदि ।

[लघु०] यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ।

व्याख्या—'यज् (भ्वा० उभ०) धातु से सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३) सूत्र द्वारा भूतकालिक ङ्वनिप् प्रत्यय हो कर यज्वन् शब्द सिद्ध होता है । इष्टवान् इति यज्वा जो यज्ञ कर चुका है वह यज्वन् कहाता है ।

यज्वन् शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया राजन् शब्दवत् होती है, केवल भसञ्ज्ञकों में 'अल्लोपोऽनः (२४७) सूत्र द्वारा प्राप्त अत् के लोप का निषेध हो जाता है । तथाहि—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२८३ न संयोगाद्वमन्तात् ।६।४।१३७।

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ।

अर्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं होता ।

व्याख्या—वमन्तात् ।५।१। संयोगात् ।५।१। अनः ।६।१। अल्लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] न इत्यव्ययपदम् । समास—वश्च म् च=वमौ इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । वमौ अन्तौ यस्य स वमन्तः, तस्मात्=वमन्तात्, बहुव्रीहि

* ये सब शब्द पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (११५२) द्वारा इमनिच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होते हैं । इमनिच्प्रत्ययान्त सब शब्द पुंल्लिङ्ग हुआ करते हैं । केवल 'प्रेमन्' शब्द ही कहीं २ नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

समास । अर्थ —(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगात्) संयोग से पर (अन) अन् के (अल्लोप) अकार का लोप (न) नहीं होता ।

'यज्वन् + अस् (शस्)' यहां 'यज्व् अन्' शब्द में 'ज्व्' यह वकारान्त संयोगान्त है अतः इस से परे अन् के अकार का लोप न हुआ— 'यज्वनः' सिद्ध हुआ । एवम् आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिए । रूपमाला यथा—

प्र०	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	पं०	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
द्वि०	यज्वानम्	,,	यज्वनः	ष०	,,	यज्वनोः	यज्वनाम्
तृ०	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	स०	यज्वनि	,,	यज्वसु
च०	यज्वने	,,	यज्वभ्यः	सं०	हे यज्वन् !	हे यज्वानौ !	हे यज्वानः !

मकारान्त संयोग का उदाहरण 'ब्रह्मन्' है । ब्रह्मा अथवा ब्राह्मण को 'ब्रह्मन्' कहते हैं । 'ब्रह्मन् + अस् (शस्)' यहां 'ब्रह्म्-अन्' शब्द में 'ह्म्' यह मकारान्त संयोग है अतः इस से परे भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप न हुआ— 'ब्रह्मणः' । रूपमाला यथा—

प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः	पं०	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
द्वि०	ब्रह्माणम्	,,	ब्रह्मणः	ष०	,,	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः	स०	ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु
च०	ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः	सं०	हे ब्रह्मन् !	हे ब्रह्माणौ !	हे ब्रह्माणः !

इसी प्रकार—१ आत्मन् (आत्मा) । २ अश्मन् (पत्थर) । ३ पुष्पधन्वन् (कामदेव) । ४ शाङ्गधन्वन् (विष्णु) । ५ सुपर्वन् (बाण, देवता) । ६ असवन् (शत्रुरहित) । ७ कृष्णवर्त्मन् (अग्नि) । ८ मातरिश्वन् (वायु) । ९ सुधर्मन् (देवसभा) । १० अकृष्णकर्मन् (शुभ कर्मों वाला) । ११ अग्रजन्मन् (बड़ा भाई, ब्राह्मण) । १२ अनन्तात्मन् (परमात्मा) । १३ अस्थिधन्वन् (शिव) । १४ अनुजन्मन् (छोटा भाई) । १५ अदृष्टकर्मन् (अनभ्यासी) । १६ अनात्मन् (जो पदार्थ आत्मा नहीं—शरीर आदि) । १७ शकमन् (कर्म निघण्टु—२।१) । १८ परिज्मन् (चन्द्रमा अथवा अग्नि, अथवा चारों तरफ जाने वाला) । १९ सुशर्मन् (प्राचीनकाल का एक राजा, अच्छी तरह सुखी) । २० शतधन्वन् (प्राचीनकाल का एक राजा)—इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं ।

वृत्रहन्=इन्द्र ।

[वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (३.२.८७) इति भूते कर्तरि क्विप्]

'वृत्रहन् + स (सुँ)' । यहां 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा नान्त की उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२८४ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थ—इन्नन्त हन्शब्दान्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त अङ्गों को शि परे होने पर ही दीर्घ हो अन्यत्र न हो । इससे निषेध प्राप्त होने पर (अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है ।)

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है ।] शौ ।७।१। उपधाया ।६।१। ['नोपधाया' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] । 'अङ्गानाम्' के विशेषण होने से इन्हन्पूषार्यम्णाम्' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों को (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है (शौ) शि परे होने पर ।

नपुंसकलिंग में 'शि' की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) सूत्र द्वारा सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे होने पर सूत्र में गिनाये सब शब्दों की उपधा को 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से दीर्घ हो सकता है । पुनः इस सूत्र द्वारा दीर्घविधान 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है । अर्थात्—"इनकी उपधा को यदि दीर्घ हो तो 'शि' परे होने पर ही हो अन्यत्र न हो" यह नियम फलित होता है ।

'वृत्रहन्+स्' यहां हन् शब्दान्त से परे 'सुँ' वर्त्तमान है 'शि' नहीं अतः प्रकृतनियम से यहाँ दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता । इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८५ सौ च ।६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ! ।

अर्थ—इन्नन्त आदि अङ्गों की उपधा को दीर्घ हो, सम्बुद्धि भिन्न सुँ परे होने पर ।

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। ['इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' से] अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है] उपधाया ।६।१। ['नोपधाया' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है । पूर्वसूत्र के नियम

से 'सुँ' में दीर्घ नहीं हो सकता था, अब इससे सुँ' में हो जाता है। शेष 'शि' भिन्न सर्वनामस्थान में पूर्वनियमानुसार निषेध ही रहेगा।

वृत्रहन्+स्' यहां प्रकृतसूत्र से दीर्घ हो जाता है—वृत्रहान्+स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७९) से सकारलोप तथा 'न लोप —' (१८०) से नकार का लोप होकर 'वृत्रहा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां प्राप्त उपधादीर्घ का 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) सूत्र से निषेध हो जाता है। 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि समान पद नहीं है। अतः णत्व करने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८६ एकाजुत्तरपदे णः ।८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात्। वृत्रहणौ।

अर्थः—एक अच् है उत्तरपद में जिस के, ऐसे समास में पूर्वपद में ठहरे निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो जाता है।

व्याख्या—एकाजुत्तरपदे ।७।१। पूर्वपदाभ्याम् ।५।२। ['पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः' से] रषाभ्याम् ।५।२। न ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु ।७।३। ['प्रातिपदिकान्त—' से] समासः—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमासः। एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः (समासः), तस्मिन् = एकाजुत्तरपदे, बहुव्रीहिसमासः। पूर्वे पदे ययोस्तौ पूर्वपदौ (रषौ), ताभ्याम् = पूर्वपदाभ्याम् (रषाभ्याम्) बहुव्रीहिसमासः। प्रातिपदिकस्य अन्तः = प्रातिपदिकान्तः षष्ठीतत्पुरुषः। प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तयः, तेषु = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(एकाजुत्तरपदे) जिस समास में उत्तरपद एक अच् वाला हो उस समास में (पूर्वपदाभ्याम्) पूर्वपद वाले (रषाभ्याम्) रेफ षकार से परे (प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु) प्रातिपदिक के अन्त में, नुम् में, तथा विभक्ति में स्थित (न) नकार के स्थान पर (णः) णकार हो जाता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां उपपदसमास में 'वृत्र' यह पूर्वपद तथा 'हन्' यह उत्तरपद है। उत्तरपद 'हन्' एक अच् वाला है। पूर्वपद में तकरोत्तर रेफ भी विद्यमान है अतः उससे परे प्रातिपदिक के अन्त में स्थित नकार को णकार हो कर 'वृत्रहणौ' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे सर्वनामस्थानों में—'वृत्रहणः, वृत्रहणम्, वृत्रहणौ' रूप बनते हैं।

'वृत्रहन्+अस' (शस्) यहां 'एकाजुत्तरपदे णः' (८४१२) के असिद्ध होने से 'अल्लोपोऽनः' (६४१३४) द्वारा अन् के अकार का लोप हो जाता है। 'वृत्रह्न्+अस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८७ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।७।३।५४॥

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात्।
वृत्रघ्नः । इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन् ।

अर्थः—ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर अथवा नकार परे होने पर हन् धातु के हकार को कवर्ग (घकार) आदेश हो जाता है।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] हः ।६।१। ञ्णिन्नेषु ।७।३। कु ।१।१। ['चजोः कु घिण्ण्यतोः' से] समासः—ञ् च ण् च = ञ्णौ, इतरेतरद्वन्द्वः । ञ्णौ इतौ ययोस्तौ = ञ्णितौ (अङ्गाधिकारत्वात्प्रत्ययौ), बहुव्रीहिसमासः । ञ्णितौ च नश्च = ञ्णिन्नास्तेषु = ञ्णिन्नेषु, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(ञ्णिन्नेषु) ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार का—संवार नाद, घोष तथा महाप्राण यत्न है, कवर्गों में तत्सदृश केवल घकार ही है अतः हकार के स्थान पर घकार ही कवर्ग आदेश होगा। †

'वृत्रह्न्+अस्' यहां नकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से हकार को कवर्ग घकार आदेश हो कर 'वृत्रघ्नः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भसञ्ज्ञकों में जब 'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है तब नकार परे होने से हकार को घकार हो जाता है। यथा—टा में—'वृत्रघ्ना' ङे में—'वृत्रघ्ने', ङसिँ और ङस् में—'वृत्रघ्नः' ओस् में 'वृत्रघ्नोः', आम् में—'वृत्रघ्नाम्,' रूप बनते हैं। ङि में 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) द्वारा अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है अतः लोपपक्ष में नकार परे रहने से 'वृत्रघ्नि' और लोपाभाव में नकार परे न होने के कारण वृत्रहणि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	पं० वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
द्वि०	वृत्रहणम्	,,	वृत्रघ्नः	ष० ,,	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	स० वृत्रहणि, वृत्रघ्नि	,,	वृत्रहसु
च०	वृत्रघ्ने	,,	वृत्रहभ्यः	स० हे वृत्रहन्!	हे वृत्रहणौ!	हे वृत्रहणः!

† ञित् के उदाहरण घातः आदि तथा णित् के उदाहरण 'जघान' आदि आगे आयेंगे।

इसी प्रकार—ब्रह्महन्, भ्रूणहन् शब्दों के उच्चारण होते हैं।

शार्ङ्गिन् = विष्णु।

[शार्ङ्गम् = शृङ्गनिर्मितं धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी। 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्ययः।]

प्र०	शार्ङ्गी※	शार्ङ्गिणौ‡	शार्ङ्गिणः	प०	शार्ङ्गिणः	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभ्यः
द्वि०	शार्ङ्गिणम्	,,	,,	ष०	,,	शार्ङ्गिणोः	शार्ङ्गिणाम्
तृ०	शार्ङ्गिणा	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभिः	स०	शार्ङ्गिणि	,,	शार्ङ्गिषु—
च०	शार्ङ्गिणे	,,	शार्ङ्गिभ्यः	सं०	हे शार्ङ्गिन्!‡	हे शार्ङ्गिणौ!	हे शार्ङ्गिणः!

※ यहां 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) इस नियम से उपधादीर्घ के निषेध हो जाने पर 'सौ च' (२८५) सूत्र से दीर्घ हो जाता है। सकार और नकार का लोप पूर्ववत् होता है।

‡ 'शार्ङ्गिणौ' आदियों में 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व हो जाता है। 'हे शार्ङ्गिन्!' में 'पदान्तस्य' (१३९) सूत्र द्वारा णत्वनिषेध होता है।

— 'शार्ङ्गिषु' में सुब्विधि न होने से नकार का लोप असिद्ध नहीं होता, अतः षत्व करने में बाधा नहीं होती।

इस प्रकार के उच्चारण वाले शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत हैं। कुछ का बालोपयोगि संग्रह नीचे दिया जाता है। ※ इस चिह्न वाले रूपों में णत्व जान लेना चाहिये।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अऋणिन्, अनृणिन्	= ऋणरहित	अनुविधायिन्	= आज्ञाकारी
अक्षन्विन्	= जुआरिया	अन्तर्यामिन्※	= सर्वव्यापक ब्रह्म
अग्रगामिन्	= आगे जाने वाला	अन्तेवासिन्	= शिष्य
५ अज्ञानिन्	= ज्ञानरहित, मूर्ख	१५ अभिघातिन्	= प्रहार करने वाला
अतिशायिन्	= बढ़ा हुआ	आगामिन्	= आगे आने वाला
अधिकारिन्※	= अधिकार वाला	आततायिन्	= अग्नि आदि लगाने वाला
अधीतिन्†	= पढ़ा हुआ, विद्वान्	आत्मघातिन्	= आत्महत्यारा
अनुजीविन्	= सेवक	उत्तराधिकारिन्※	= जानशीन
१० अनुपकारिन्※	= उपकार न करने वाला	२० उपजीविन्	= नौकर
अनुयायिन्	= पीछे चलने वाला, सेवक	उपयोगिन्	= उपयोगी
		ऊर्मिमालिन्	= समुद्र

† इस के योग में पूर्व में सप्तमी होती है—व्याकरणे अधीती।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
एकाकिन्	= अकेला	जितकाशिन्	= विजयी
कञ्चुकिन्	= रनवास में रहने वाला वृद्ध पुरुष	ज्ञानिन्	= ज्ञानी
		तपस्विन्	= तपस्वी
२५ कपटिन्	= कपटी छली	त्यागिन्	= त्यागी
कपालिन्	= महादेव	५५ दंष्ट्रिन्❀	= सूअर
करटिन्	= हाथी	दण्डिन्	= डण्डे वाला
करिन्❀	= हाथी	दन्तिन्	= हाथी
कलापिन्	= मोर	दीर्घदर्शिन्	= दीर्घदर्शी
३० कामिन्	= कामी	दूरदर्शिन्	= दूरदर्शी
किरणमालिन्	= सूर्य	६० देहिन्	= जीवात्मा
कुण्डलिन्	= साप	द्वारिन्❀	= द्वारपाल
कूटसाक्षिन्❀	= झूठा गवाह	द्वीपिन्	= गेण्डा
कृतिन्	= पण्डित	धनिन्	= धनवान्
३५ केशरिन्❀	= शेर	धारावाहिन्	= लगातार बहने वाला
क्रान्तदर्शिन्	= अतीतद्रष्टा	६५ धारिन्❀	= धारा वाला
क्रोधिन्	= क्रोधी	नयशालिन्	= नीतिज्ञ
क्षणविध्वंसिन्	= क्षणिक	निवासिन्	= रहने वाला
क्षेत्रिन्❀	= खेत वाला	पक्षिन्❀	= पक्षी, परिन्दा
४० क्षेमिन्	= सुखी	परदर्शिन्	= विदेशी
खड्गिन्	= गेण्डा	७० परमेष्ठिन्	= ब्रह्मा
गृहमेधिन्	= गृहस्थी	परिपन्थिन्	= शत्रु
गृहिन्❀	= ,,	पादचारिन्❀	= पैदल
गृहीतिन्	= समझा हुआ, ज्ञानी	पार्श्ववर्त्तिन्	= सेवक
४५ घातिन्	= हिंसक	पाशिन्	= शिकारी
घोणिन्	= सूअर	७५ पाषण्डिन	= पाखण्डी
चक्रवर्त्तिन्	= चक्रवर्त्ती राजा	पिनाकिन्	= शिव
चक्रिन्❀	= विष्णु व कुम्हार	पुष्करिन्❀	= हाथी
जन्मिन्	= जन्म वाला, प्राणी	प्रकम्पिन्	= कापने वाला
५० जम्भभेदिन्	= इन्द्र	प्रणयिन्	= प्रेमी

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
८० प्रतिवादिन्	= जवाब देने वाला, मुद्दालह	१०५ मेधाविन्	= बुद्धिमान्
प्रतिवेशिन्	= हमसाया पड़ोसी	योगिन्	= योगी
प्रत्यर्थिन्	= शत्रु	रथारोहिन्❀	= रथ सवार
प्रवासिन्	= परदेश गया हुआ	रूपधारिन्❀	= रूप को धारण करने वाला
प्राणिन्	= प्राणी	रूपशालिन्	= सुन्दर
८५ फणिन्	= फणों वाला साप	११० रोगिन्❀	= बीमार
फलिन्	= फलों वाला वृक्ष	लाङ्गलिन्	= बलराम
बलशालिन्	= बलवान्	लिङ्गिन्	= साधु
बलिध्वसिन्	= विष्णु	लोभिन्	= लोभी
बलिन्	= बलवान्	वनमालिन्	= श्रीकृष्ण
९० बुद्धिशालिन्	= बुद्धिमान्	११५ वनवासिन्	= वन में रहने वाला
ब्रह्मचारिन्❀	= ब्रह्मचारी	वशवर्त्तिन्	= वश में रहने वाला आज्ञाकारी
ब्रह्मवादिन्	= ब्रह्म की चर्चा करने वाला	वशिन्	= वशीभूत, आज्ञाकारी
भागिन्	= हिस्सेदार	वाग्मिन्	= बोलने में चतुर
भिक्षाशिन्	= भीख माग कर खाने वाला भिक्षुक	वादिन्	= वाद करने वाला
९५ भोगिन्	= भोगी, साप व राजा	१२० विकाशिन्	= खिलने वाला
मण्डलिन्	= साप	विटपिन्	= वृक्ष
मनस्विन्	= प्रशान्त मन वाला, समझदार	वियोगिन्	= वियोग वाला, विरही
मनीषिन्❀	= मन से विचारने वाला बुद्धिमान्	वीचिमालिन्	= समुद्र
मन्त्रिन्❀	= मन्त्री, वज़ीर	वैरिन्❀	= वैर करने वाला, शत्रु
१०० मरीचिमालिन्	= सूर्य	१२५ व्यभिचारिन्❀	= दुष्ट आचार वाला बदमाश
मस्करिन्❀	= सन्न्यासी	व्यवायिन्	= व्यभिचारी
मानिन्	= अभिमानी	व्यापिन्	= व्यापक
मालिन्	= मालायुक्त	व्योमचारिन्❀	= आकाश में घूमने वाला, पक्षी
मुण्डिन्	= मुण्डे हुए सिर वाला	व्रतिन्	= व्रत वाला
		१३० शमिन्	= शान्त

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शरीरिन्❀	=जीवात्मा	सङ्ग्राहिन्❀	=कब्ज़ करने वाला पदार्थ
शास्त्रदर्शिन्	=शास्त्रों को जानने वाला	१४५सञ्चारिन्❀	=घूमने वाला
शास्त्रिन्❀	=शास्त्रज्ञ	सत्यवादिन्	=सत्य बोलने वाला
शिखण्डिन्	=मोर	सब्रह्मचारिन्❀	=सहपाठी, सहाध्यायी
१३५शिखरिन्❀	=पर्वत	समीक्ष्यकारिन्❀	=सोच समझ कर काम करने वाला
शिखिन्	=मोर	सहकारिन्❀	=सहयोग करने वाला
शिल्पिन्	=शिल्पी व कारीगर	१५०सव्यसाचिन	=अर्जुन
शूरमानिन्	=अपने आप को शूर मानने वाला	साक्षिन्❀	=गवाह
शेषशायिन्	=विष्णु	सादिन्	=घुड़सवार
१४०श्रमिन्❀	=मेहनती	स्वामिन्	=स्वामी मालिक
श्रेष्ठिन्	=सेठ, धनवान्	हस्तिन्	=हाथी
संयमिन्	=संयमी	१५१हितैषिन्❀	=हित चाहने वाला
सङ्गिन्	=सङ्गी साथी		

—०—

सूचना—(क) इन्नन्तों के आम् में दीर्घ सर्वथा न लिखना चाहिये सु में तो अवश्य करना चाहिये।

(ख) इन्नन्त शब्दों को यदि स्त्रीलिङ्ग में लाना हो तो इन से आगे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२३२) द्वारा ङीप् प्रत्यय किया जाता है। 'ङीप्' के अनुबन्धों का लोप हो 'ई' अवशिष्ट रहता है। यथा—योगिनी भोगिनी धनिनी आदि। तब इन का उच्चारण नदीशब्दवत् होता है।

(ग) हिन्दी में इन्नन्त शब्द प्राय ईकारान्त हो जाया करते हैं। यथा—योगी, भोगी, धनी आदि।

पूषन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन् ' (उणा० १५७) इत्युणादिसूत्रेण 'पूष वृद्धौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातो कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते।]

प्र० पूषा ‡	पूषणौ†	पूषणः		प० पूष्णः	पूषभ्याम्	पूषभ्यः
द्वि० पूषणम्	,,	पूष्णः ❀		ष० ,,	पूष्णोः	पूष्णाम्
तृ० पूष्णा	पूषभ्याम्	पूषभिः		स० पूष्णि-पूषणि—	,,	पूषसु
च० पूष्णे	,,	पूषभ्यः		सं० हे पूषन् !	हे पूषणौ !	हे पूषणः !

‡ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ सौ च ।

† इत्यादौ तु इन्हन्निति नियमान्न दीर्घः । णत्वमत्र 'अट्कु०' सूत्रेण भवति । भसञ्ज्ञकेषु तु अल्लोपे कृते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वं बोध्यम् ।

❀'अल्लोपोऽनः' (२४७) । — 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) ।

अर्यमन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन्—' (उणा० १९७) इत्युणादिसूत्रेण अर्योपपदाद् 'माङ् माने' (जुहो० आ०) इत्यस्माद्धातोः कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते ।]

प्र० अर्यमा	अर्यमणौ	अर्यमणः		प० अर्यम्णः	अर्यमभ्याम्	अर्यमभ्यः
द्वि० अर्यमणम्	,,	अर्यम्णः		ष०	अर्यम्णोः	अर्यम्णाम्
तृ० अर्यम्णा	अर्यमभ्याम्	अर्यमभिः		स० अर्यम्णि-अर्यमणि	,,	अर्यमसु
च० अर्यम्णे	,,	अर्यमभ्यः		सं० हे अर्यमन् !	हे अर्यमणौ !	हे अर्यमणः !

णत्व सर्वत्र 'अट्कु—' (१३८) सूत्र से होता है ।

यशस्विन्=यशस्वी–कीर्त्तिमान्

[यशोऽस्याऽस्तीति–यशस्वी 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (११८९) इति मत्वर्थे विनिप्रत्ययः]

प्र० यशस्वी	यशस्विनौ	यशस्विनः		प० यशस्विनः	यशस्विभ्याम्	यशस्विभ्यः
द्वि० यशस्विनम्	,,	,,		ष० ,,	यशस्विनोः	यशस्विनाम्
तृ० यशस्विना	यशस्विभ्याम्	यशस्विभिः		स० यशस्विनि	,,	यशस्विषु
च० यशस्विने	,,	यशस्विभ्यः		सं० हे यशस्विन् !	हे यशस्विनौ !	हे यशस्विनः !

नोट—यहां 'यशस्विन्' में विन्प्रत्यय होने से 'इन्' अनर्थक तथा 'शार्ङ्गिन्' में इन्प्रत्यय होने से 'इन्' सार्थक है । "समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः" । सार्थक और अनर्थक के मध्य सार्थक का ही सर्वत्र ग्रहण किया जाता है अतः इस के अनुसार 'यशस्विन्' आदि शब्दों में 'इन्हन्०' (२८४) तथा 'सौ च' (२८५) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकते थे । परन्तु इस विषय की—"अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" [जिन सूत्रों में अन्, इन्, अस्, मन् का ग्रहण हो वे सूत्र इनके सार्थक

अथवा अनर्थक होने पर भी एतदन्तों में प्रवृत्त हो जाते हैं † ।] इस परिभाषा से अनर्थक इन्' होने पर भी 'इन्हन् ' आदि सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है । इस बात को जनाने के लिये ही ग्रन्थकार ने यहां 'यशस्विन्' यह इन् का दूसरा उदाहरण दिया है, अन्यथा शार्ङ्गिन्' यह उदाहरण तो वे द ही चुके थे ।

मघवन्=इन्द्र

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्व-नुक्षन् ' (उणा० १५७) इति सूत्रेण मह पूजायाम्' (भ्वा० प०) इति धातो कनिन्प्रत्ययो हस्य घो वुगागमश्च निपात्यते ।]

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८८ मघवा बहुलम् ।६।४।१२८॥

'मघवन्' शब्दस्य वा तृँ इत्यन्तादेश' स्यात् । ऋ इत्* ।

अर्थः—मघवन् शब्द का विकल्प कर के 'तृँ' अन्तादेश हो । ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है ।

व्याख्या—मघवा ।१।१। [यहां षष्ठीविभक्ति के अर्थ में प्रथमा विभक्ति जाननी चाहिये ।] बहुलम् ।१।१। तृँ ।१।१। ['अर्वणस्त्रसावनञः' से । यहां प्रथमा विभक्ति का लुक् जानना चाहिये] अर्थ —(मघवा) मघवन् शब्द के स्थान पर (बहुलम्) विकल्प कर के‡ (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो ।

यद्यपि यह तृँ आदेश अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'मघवन्' शब्द के स्थान पर होना चाहिये तथापि नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" (अनुबन्धों के कारण अनेकाल्ता नहीं माननी चाहिये) इस परिभाषा से इस के अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता कि तु अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्तादेश हो जाता है ।

मघवतृँ' यहा ऋकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोप ' (३) से लोप हो कर 'मघवत्' शब्द बन जाता है । जिस पक्ष में तृँ आदेश नहीं होता उस पक्ष का विवेचन आगे करेंगे ।

---

† परिभाषोदाहरणानि यथा—राज इत्यत्र अन् अर्थवान, दामन इत्यत्र तु अनर्थक । शार्ङ्गी इत्यत्र इन अर्थवान, यशस्वी इत्यत्र तु अनर्थक । सुपया इत्यत्र अस अर्थवान्, सुस्रोता इत्यत्र तु अनर्थक । अस न्तत्वाद् दीर्घ । सुशर्मा इत्यत्र मन अर्थवान, सप्रथिमा इत्यत्र तु अनर्थक । मन (४ १ ११) इति न ङीप ।

* यहा 'ऋ' यह विभक्तिरहित निर्दिष्ट किया गया है । प्रक्रियादशा में अविभक्तिक निर्देश करने में भी कोई दोष नहीं होता ।

‡ 'बहुलम्' पद केवल विकल्प के लिये ही नहीं है अपितु—'मघवान रूप में उपधादीर्घ करने पर संयोगान्तलोप असिद्ध न हो—इस के लिये भी समझना चाहिये ।

'मघवत्+स् (सुँ) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८६ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः । ७।१।७० ॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात् सर्वनाम-स्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ । मघवन्तः । हे मघवन् ! । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे—मघवा । सुटि राजवत् ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर धातुभिन्न उगित् को तथा जिस के नकार का लोप हो चुका हो ऐसी 'अञ्चु' धातु को नुम् का आगम हो जाता है ।

व्याख्या—उगिदचाम् ।६।३। सर्वनामस्थाने ।७।१। अधातोः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] समास—उक् इत् येषां ते=उगितः, बहुव्रीहिसमासः । उगितश्च अच् च=उगिदचः, तेषाम्=उगिदचाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अच्' शब्देनेह लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा० प०) इति धातोर्ग्रहणं भवति । न धातुः=अधातुस्तस्य=अधातोः नञ्समासः । अधातोरिति उगितामेव विशेषणं सम्भवति न तु अञ्चतेरिति बोध्यम् । अर्थ—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (अधातोः) धातु से भिन्न (उगिदचाम्) उक्-प्रत्याहार इत् वाले शब्दों का तथा नकार लुप्त हुई अञ्चु धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ।

भावः—जिन शब्दों में उकार, ऋकार, लृकार वर्णों की इत्संज्ञा होती है और यदि वे धातु नहीं तो सर्वनामस्थान परे होने पर उन को नुम् का आगम हो जाता है ।

'मघवत्+स्' यहां तृँ के ऋकार की इत्संज्ञा हुई है अतः यह उगित् है, इस से परे 'सुँ' यह सर्वनामस्थान भी विद्यमान है । इसलिये 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) परिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य अच् से परे नुम् का आगम हो कर—मघवनुम् त्+स् = मघवन् त्+स्' हुआ । अब 'हल्ङ्याब्भ्यो' (१७९) से सकार तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से तकार का लोप हो कर—मघवन्' । पुनः प्रत्ययलक्षण द्वारा सुँ को मान कर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ करने से 'मघवान्' रूप निष्पन्न होता है ।

नोट—यहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (८.२.२३) द्वारा किया लोप उपधा को दीर्घ करने में असिद्ध नहीं होता । इस का कारण 'मघवा बहुलम्' (२८८) सूत्र में 'बहुल' ग्रहण है । 'बहुल' ग्रहण का तात्पर्य यह होता है कि लोकप्रसिद्ध इष्टरूप में जितनी बाधाएं उपस्थित

होती हैं न हों। 'मघवान्' रूप लोक में प्रसिद्ध है यथा—"हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवन्सौ" (भट्टि)। अतः इस की सिद्धि के अनुरूप उपधादीर्घ करने में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता। नकार का लोप भी इसी कारण नहीं होता। 'बहुल' शब्द पर विशेष विचार कृदन्तों में कृत्यल्युटो बहुलम् (७७२) सूत्र पर किया जायगा।

तृत्वपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र०	मघवान्	मघवन्तौ ×	मघवन्तः	प० मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
द्वि०	मघवन्तम्	„	मघवतः	ष० „	मघवतोः	मघवताम्
तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्‡	मघवद्भिः	स० मघवति	„	मघवत्सु
च०	मघवते	„	मघवद्भ्यः	सं० हे मघवन्!†	हे मघवन्तौ!	हे मघवन्तः!

× यहां इतना विशेष है कि नुम् का आगम होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार हो जाता है।

‡ इत्यादियों में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व दकार हो जाता है।

† यहां नुम् का आगम हो कर संयोगान्तलोप हो जाता है। सम्बुद्धि परे होने से 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। नकारलोप का निषेध पूर्ववत् 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) द्वारा हो जाता है।

तृत्व के अभाव में—

जहां तृ आदेश नहीं होता वहां सुट् अर्थात् सर्वनामस्थान तक तो 'राजन्' शब्दवत् रूप बनते हैं। मघवा, मघवानौ, मघवानः, मघवानम्, मघवानौ।

'मघवन् + अस्' (शस्) यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६० श्वयुवमघोनामतद्धिते* ।६।४।१३३॥

अन्नन्तानां भसञ्ज्ञकानाम् एषाम् अतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं श्वन्, युवन्।

---

* इस सूत्र पर एक सुभाषित अत्यन्त प्रसिद्ध है—

प्रश्न — "काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे,
ग्रथ्नासि बाले! किमिदं विचित्रम्।
उत्तरम्— विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे,
श्वानं युवानं मघवानमाह॥" (सुभाषितम्)

माला गूंथती हुई किसी बाला से प्रश्न किया गया कि तुम कांच, मणि और सोने को एक—

अर्थः—'अन्' शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसञ्ज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—अनाम् ।६।३। ['अल्लोपोऽन' सूत्र से वचनविपरिणाम करके ।] भानाम् ।६।३। ['भस्य' इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है] श्वयुवमघोनाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसोः सम्प्रसारणम्' से] अतद्धिते ।७।१। समासः—श्वा च युवा च मघवा च = श्वयुवमघवानः, तेषाम् = श्वयुवमघोनाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । न तद्धितः = अतद्धितस्तस्मिन्=अतद्धिते, नञ्समासः । यहां पर्युदास प्रतिषेध होने से तद्धित से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय का ग्रहण होता है। 'अनाम्' से तदन्तविधि होती है। अर्थः—(अनाम्) अन्नन्त (भानाम्) भसञ्ज्ञक (श्वयुवमघोनाम्) श्वन् युवन्, तथा मघवन् शब्दों को (अतद्धिते) तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है।

'मघवन् + अस्' यहां मघवन् शब्द अन्नन्त भी है, भसञ्ज्ञक भी है और इससे परे तद्धितभिन्न शस्' प्रत्यय भी विद्यमान है अतः 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार प्रकृतसूत्र से वकार को उकार सम्प्रसारण हो कर—'मघ उ अन् + अस्'। 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार हो—'मघ उ न् + अस्'। अब 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश करने पर—मघोन् + अस्=मघोनः='मघोनः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी जानना चाहिये। भ्याम् आदियों में राजन्शब्दवत् नकार का लोप हो जाता है—मघवभ्याम्, मघवभिः, मघवभ्यः। इस तृत्वाभावपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र०	मघवा	मघवानौ	मघवानः	पं० मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
द्वि०	मघवानम्	,,	मघोनः	ष० ,,	मघोनोः	मघोनाम्
तृ०	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः	स० मघोनि	,,	मघवसु
च०	मघोने	,,	मघवभ्यः	स० हे मघवन्!	हे मघवानौ!	हे मघवानः!

यद्यपि 'श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्द स्वयम् अन्नन्त ('अन' अन्त वाले) हैं,

—ही सूत्र (तागे) में क्यों गूंथ रही हो ? । वह उत्तर देती है—विचारवान् पाणिनिमुनि ने भी तो एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को बिठा रखा ।

अत्यन्त समुचित उत्तर है। जब पाणिनि जैसे बुद्धिमान् लोग भी असमान वस्तुओं को एक स्थान में बिठाते हैं तो मैं बाला (मूर्खा) ऐसा करूं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

वस्तुतः यह कोई काव्य नहीं कि सहचरभिन्नता दोष हो। शब्दशास्त्र में ऐसी बात नहीं देखी जानी चाहिये। इस पद्य को कवि का विनोद समझना चाहिये।

इनके लिये 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन करना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि यदि यहां 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन न करते तो तृ आदेश पक्ष में मघवत, मघवत' आदि रूपों में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के न्यायानुसार मघवन्' शब्द समझ लिये जाने से सम्प्रसारण हो जाता जो कि अतीव अनिष्ट था। परन्तु अब अन्नन्त मघवन्' इस प्रकार के कथन से कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि तृत्वपक्ष में अन्नन्त मघवन् नहीं किन्तु तान्त मघवन् है। यदि यहां कोई यह शंका करे कि एकदेशविकृतन्याय से इसे अन्नन्त भी मान लेंगे अत आप का 'अनाम्' यह कथन दोषनिवृत्ति के लिये नहीं बन सकता तो उसका उत्तर यह है कि एकदेशविकृतन्याय लोकमूलक है। जैसे लोक में पुच्छकटे कुत्ते में कुत्ते का तो व्यवहार होता है परन्तु पूंछ के विषय में पूंछ का व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार यहां 'मघवत्' शब्द में 'मघवन्' शब्द का तो व्यवहार होता है परन्तु अन्नन्तत्व का व्यवहार नहीं होता अत 'अनाम्' का अनुवर्त्तन करने से दोष निवृत्त हो जाता है।

'तद्धितभिन्न' कथन का यह अभिप्राय है कि माघवनम् [मघवा देवता अस्य हविष तत्=माघवनम। 'साऽस्य देवता' (१०३८) इति मघवन्शब्दादणि 'तद्धितेष्वचामादेः' (६३६) इत्यादिवृद्धौ विभक्त्युत्पत्तौ— माघवनम्' इति सिध्यति।] यहां 'अण्' तद्धित के परे होने पर सम्प्रसारण आदेश न हो।

श्वन्=कुत्ता

यह शब्द व्युत्पत्तिपक्ष में 'श्वन्नुक्षन् ' (उणा० १५७) सूत्र द्वारा 'टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा० प०) धातु से कनिन् प्रत्यय तथा इकारलोप करने पर निपातित हुआ है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	श्वा	श्वानौ	श्वान	प० शुन	श्वभ्याम	श्वभ्य
द्वि०	श्वानम्	,,	शुन †	ष० ,,	शुनो	शुनाम्
तृ०	शुना	श्वभ्याम्	श्वभि	स० शुनि	,,	श्वसु
च०	शुने		श्वभ्य	सं० हे श्वन्!	हे श्वानौ!	हे श्वान!

श्वन्+अस' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से सम्प्रसारण हो—शु अन्+अस। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप हो—शुन्+अस्='शुन'। इसी प्रकार आगे भी असञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये।

युवन्=जवान, श्रेष्ठ

[व्युत्पत्तिपक्षे 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (अदा० प०) इति धातोः 'कनिन् युवृषि तक्षि राजि धन्वि द्यु प्रतिदिव' (उणा० १५७) इति सूत्रेण युवन्शब्दः सिध्यति।]

सर्वनामस्थानों में इसकी प्रक्रिया राजन्‌शब्दवत् होती है। युवा, युवानौ, युवानः, युवानम् युवानौ।

'युवन्+अस्' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२६०) सूत्र से वकार को सम्प्रसारण उकार हो जाता है—यु उ अन्+अस्। अब 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—'यून्+अस' बन जाता है। अब इस स्थिति में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२६०) सूत्र से यकार को भी इकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है--

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२६१ न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ।६।१।३६॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति 'यस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। इति यस्येति—इस सूत्र के कारण यकार को इकार नहीं होता। अत एवेत्यादि— इस ज्ञापक से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम अन्त्य यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये।

व्याख्या—सम्प्रसारणे ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता। 'यून्+अस्' यहां सम्प्रसारण परे है अतः पूर्व यकार को सम्प्रसारण नहीं होता—यूनस् = 'यूनः'। अब यहां शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि पूर्व यकार को पहले सम्प्रसारण कर लिया जाय और बाद में वकार को सम्प्रसारण करें तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) सूत्र निषेध न कर सकेगा, अतः यहां ऐसा क्यों न किया जाए ?। इसके समाधान में कहा है—अत एव ज्ञापकादित्यादि। अर्थात् यदि ऐसा किया जाए तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२६१) सूत्र व्यर्थ हो जायगा क्योंकि तब इसे कोई भी स्थान प्रवृत्ति के लिये नहीं मिल सकेगा। जब सम्प्रसारण परे होने पर कहीं पर भी सम्प्रसारण नहीं मिलेगा तब निषेध कैसा ?। अतः इस निषेधकरणसामर्थ्य से यह सूचित होता है कि जहां दो यण् हों वहां यदि सम्प्रसारण करना हो तो पहले अन्तिम यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये। इस नियमानुसार अन्तिम यण् को सम्प्रसारण हो चुकने पर जब प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है तब इस सूत्र से निषेध हो जाता है।

'युवन्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	युवा	युवानौ	युवानः	पं०	यूनः	युवभ्याम्	युवभ्यः
द्वि०	युवानम्	,,	यूनः	ष०	,,	यूनोः	यूनाम्
तृ०	यूना	युवभ्याम्	युवभिः	स०	यूनि	,,	युवसु
च०	यूने	,,	युवभ्यः	सं०	हे युवन्!	हे युवानौ!	हे युवानः!

[लघु०] अर्वा । हे अर्वन् ! ।

व्याख्या—[व्युत्पत्तिपक्ष 'ऋ गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोर् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (७९९) इतिसूत्रेण वनिप्प्रत्यये, गुणे, रपरत्वे 'अर्वन्' इतिशब्दः सिध्यति ।] 'अर्वन्' शब्द का अर्थ 'घोड़ा' होता है ।

सुँ में और सम्बुद्धि में— अर्वा हे अर्वन्!' ये दोनों रूप राजन् शब्द के समान होते हैं ।

'अर्वन्+औ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु] विधि-सूत्रम्—२९२ अर्वणस्त्रसावनञः ।६।४।१२७॥

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः । अर्वद्भ्याम् इत्यादि ।

अर्थः—'नञ्' से रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'तृँ' यह अन्तादेश होता है परन्तु सुँ परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अनञः ।६।१। अर्वणः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तृ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हुआ २ है ।] असौ ।७।१। समास—न विद्यते नञ् यस्य स = अनञ्, तस्य = अनञः । नञ्बहुव्रीहिसमास । न सुः=असुः, तस्मिन्=असौ । नञ्तत्पुरुष । अर्थ—(अनञः) नञ् से रहित (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (अर्वणः) अर्वन् शब्द के स्थान पर (तृ) 'तृँ' यह आदेश हो जाता है परन्तु (असौ) सुँ परे होने पर नहीं होता ।

यह आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है । यहां अनेकाल्विधि से सर्वादेश नहीं हो सकता, क्योंकि 'तृँ' में अनुनासिक ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है— 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' ।

'अर्वन्+औ' यहां नकार को तृँ आदेश हो—अर्वत्+औ । 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८९) से नुम् का आगम हो—अर्वनुम्त्+औ = अर्वन्त्+औ ।

'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार होकर 'अर्वन्तौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि केवल सर्वनामस्थानों में ही नुम् का आगम होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अर्वा×	अर्वन्तौ	अर्वन्तः	पं०	अर्वतः	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
द्वि०	अर्वन्तम्	,,	अर्वतः	ष०	,,	अर्वतोः	अर्वताम्
तृ०	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः	स०	अर्वति	,,	अर्वत्सु
च०	अर्वते	,,	अर्वद्भ्यः	सं०	हे अर्वन्!×	हे अर्वन्तौ!	हे अर्वन्तः!

×यहां 'सुँ' होने से 'तृँ' आदेश नहीं होता।

'अर्वणस्त्रसावनञः' (२९२) सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—न अर्वा=अनर्वा। नञ्तत्पुरुष। 'अनर्वन्' शब्द को सुँभिन्न विभक्तियों में 'तृँ' आदेश न हो जाये। 'अनर्वन्' का उच्चारण 'यज्वन्' शब्द की तरह होता है।

पथिन् (मार्ग)। मथिन् (मथनी)। ऋभुक्षिन् (इन्द्र)।

'मन्थँ विलोडने' (भ्वा० प०) धातु से 'मन्थः' (उणा० ४५१) सूत्र द्वारा कित् 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अनिदिताम् ०' (३३४) सूत्र से उपधा के नकार का लोप करने से 'मथिन्' शब्द सिद्ध होता है। मन्थति=विलोडयति दध्यादिकम् इति मन्था।

'पत्लृँ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से 'पतेः स्थ च' (उणा० ४५२) सूत्र द्वारा इनि प्रत्यय तथा तकार को थकारादेश हो 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है। पतन्ति=गच्छन्ति यत्र स पन्था।

ऋभुक्ष=स्वर्गो वज्रो वा सोऽस्यास्तीति ऋभुक्षा। 'ऋभुक्ष' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय (११८७) करने पर 'ऋभुक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है।

पथिन्+स् (सुँ)। मथिन्+स् (सुँ)। ऋभुक्षिन्+स् (सुँ)। इस अवस्था में निम्नलिखितसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—२६३ पथिमथ्यृभुक्षामात्।७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे।

अर्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को सुँ परे होने पर आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम्।६।३। आत्।१।१। सौ।७।१। ['सावनडुहः' से]। समासः—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च=पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषाम्—पथिमथ्यृभुक्षाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को (सौ)

सु परे रहते (आन्) आकार आदेश हो। अलोऽन्त्यविधि से यह आकार आदेश अन्त्य अल्–नकार के स्थान पर होगा।

तो इस सूत्र से आकार आदेश करने पर—पथि आ + स्, मथि आ + स्, ऋभुक्षि आ+स्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२९४ इतोऽत् सर्वनामस्थाने ।७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्य अकार स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

अर्थ—पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को सर्वनामस्थान परे होने पर अकार हो जाता है।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] इत ।६।१। अत् ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। अर्थ—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के (इत) इकार के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) यदि सर्वनामस्थान परे हो तो।

इस सूत्र से इकार को अकार करने पर—'पथ आ + स् मथ आ + स् ऋभुक्ष आ + स्' हुआ। अब इन तीनों में से प्रथम दो में तो अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है परन्तु तीसरे में सवर्णदीर्घ करने से—ऋभुक्षास्="ऋभुक्षा" रूप सिद्ध होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२९५ थो न्थः ।७।१।८७॥

पथिमथोस् थस्य न्थादेशः स्यात्, सर्वनामस्थाने परे। पन्था। पन्थानौ।

अर्थ—पथिन् तथा मथिन् शब्दों के थकार को न्थ् आदेश हो जाता है सर्वनामस्थान परे हो तो।

व्याख्या—पथिमथो ।६।२। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से, ऋभुक्षिन् में थकार न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं होती] थ ।६।१। न्थ ।१।१। अत्र थकारोत्तरोऽकार उच्चारणार्थः। सर्वनामस्थाने ।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] अर्थ—(पथिमथो) पथिन् और मथिन् शब्द के (थ) थ् के स्थान पर (न्थ) न्थ् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो।

तो इस सूत्र से न्थ् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से "पन्थ् आ स्=पन्था, मन्थ् आ स्=मन्था" रूप सिद्ध होते हैं।

पथिन् + औ, मथिन् + औ ऋभुक्षिन् + औ—इन में सु परे न होने से 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (२९३) सूत्र से नकार को आकार आदेश नहीं होता। 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२९४) सूत्र से इकार को अकार हो कर प्रथम दो रूपों में 'थो न्थः' (२९५) सूत्र से

थकार को न्थ् करके 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा तीनों रूपों मे नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है—पन्थानौ, मन्थानौ ऋभुक्षाणौ ।

पथिन्+अस् (शस्), मथिन्+अस् (शस्), ऋभुक्षिन्+अस् (शस्)—यहां सर्वनामस्थान परे न होने से 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) तथा 'सर्वनामस्थाने चा०' प्रवृत्त नहीं होते । अब इनमें अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६६ भस्य टेर्लोपः ।७।१।८८॥

भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । एवम्—मथिन्, ऋभुक्षिन् ।

अर्थः—भसञ्ज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यहां वचनविपरिणाम कर के 'भानाम्' कर देना चाहिये] पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] टेः ।६।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(भस्य = भानाम्) भसञ्ज्ञक (पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है ।

इस सूत्रसे टि (इन्) का लोप होकर—"पथ्+अस्=पथः, मथ्+अस्=मथः, ऋभुक्ष्+अस्=ऋभुक्षः" रूप सिद्ध होते है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये ।

अन्यत्र = पदसञ्ज्ञकों में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—

ऋभुक्षिन्

प्र०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाण	प० ऋभुक्ष	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्य
द्वि०	ऋभुक्षाणम	,,	ऋभुक्ष	ष० ,,	ऋभुक्षो	ऋभुक्षाम्
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभि	स० ऋभुक्षि	,,	ऋभुक्षिषु
च	ऋभुक्षे	,	ऋभुक्षिभ्य	स० हे ऋभुक्षा !	हे ऋभुक्षाणौ !	हे ऋभुक्षाण !

इसमें णत्व 'अट्कु' (१३८) सूत्र से होता है।

पञ्चन् = पाच

['पञ्चन्' शब्द सिद्धान्तकौमुदीपठित उणादिसूत्रों में सिद्ध नही किया गया। उणादिसूत्रों के वृत्तिकार श्रीउज्ज्वलदत्त कनिन् युवृषि०' (उणा०) सूत्र पर बहुल द्वारा पचि" (भ्वा० प०, चुरा० उभ०) धातु से कनिन् प्रत्यय करके इसे सिद्ध करते हं। प्रक्रियासर्वस्वकार श्रीनारायणभट्ट उणादि सूत्रों में 'पञ्चेश्च' सूत्र पढ कर इसकी सिद्धि करते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार श्रीभोजराज— द्वि यु वृषि तक्षि राजि ध्वनि पचि द्यु प्रतिदिवभ्य कनिन्" इस प्रकार सूत्र बनाकर इसकी सिद्धि करत हे। 'श्रीदुर्गसिंह' अपनी वृत्ति में पचि विस्तारे' (चुरा० उ०) धातु से पञ्चेरनि' सूत्र द्वारा अनि' प्रत्यय ला कर इसकी निष्पति मानते हैं।]

'पञ्चन्' शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान रहने वाला तथा नित्यबहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ करता है। अत इससे 'जस्' आदि बहुवचन ही होते हैं।

'पञ्चन् + जस्' यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—२६७ ष्णान्ता षट् ।१।१।२३॥

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात्। 'पञ्चन्' शब्दो नित्य बहुवचनान्त। पञ्च। पञ्च। पञ्चभि'। पञ्चभ्यः २। नुट्—

अर्थः—षकारान्त और नकारान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक होती है। 'पञ्चन्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

व्याख्या—ष्णान्ता ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। ['बहुगणवतुडति सङ्ख्या' स] षट् ।१।१ *। समास —ष् च न् च=ष्णौ, नकारादकार उच्चारणार्थ। ष्णौ अन्तौ यस्या

---

*षट यह सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार की गई है। इस सञ्ज्ञा के सञ्ज्ञी— १ पञ्चन् २ षष ३ सप्तन् ४ अष्टन्, ५ नवन् ६ दशन् ये छ शब्द होते हैं। अत इस सञ्ज्ञा का नाम 'षट युक्त ही है।

सा ष्णान्ता । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(ष्णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्या (षट्) षट्सञ्ज्ञक होती है ।

'पञ्चन्' शब्द नकारान्त सङ्ख्या है, अतः इस की 'षट्' सञ्ज्ञा हो कर इस से परे 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र द्वारा जस् का लुक् हो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्च' प्रयोग सिद्ध होता है । 'शस्' में भी इसी तरह—'पञ्च' ।

पञ्चन्+भिस्=पञ्चभिः ['न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)] ।

पञ्चन्+भ्यस्=पञ्चभ्यः [न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य] ।

पञ्चन्+आम् । यहां 'ष्णान्ता षट्' (२६७) सूत्र से षट् सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र द्वारा आम को नुट् का आगम हो जाता है—पञ्चन् नुट् आम=पञ्चन्+नाम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६८ नोपधायाः ।६।४।७।।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चसु ।

अर्थः—'नाम्' परे होने पर नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—न ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये । यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] नामि ।७।१। ['नामि' सूत्र से] अर्थः—(नामि) नाम् परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

'पञ्चन्+नाम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदत्व होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से प्राप्त नकारलोप के असिद्ध होने से 'नोपधायाः' (२६८) सूत्र द्वारा उपधादीर्घ हो कर पश्चात् नकारलोप करने से 'पञ्चानाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'पञ्चन्+नाम्' यहां 'नलोपः' द्वारा यदि नकार का लोप कर दिया जाता तो उस के असिद्ध होने से 'नामि' (१४६) द्वारा दीर्घ नहीं हो सकता था । अतः 'नोपधायाः' सूत्र बनाया गया है ।

पञ्चन्+सुप्=पञ्चसु । 'नलोपः' से नकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	पञ्च	पं०	०	०	पञ्चभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	पञ्चानाम्
तृ०	०	०	पञ्चभिः	स०	०	०	पञ्चसु
च०	०	०	पञ्चभ्यः				

पञ्चन् शब्द के अनन्तर षष्' (छः) शब्द की बारी आती है परन्तु यह षकारान्त है, यहां नकारान्तों का प्रकरण चल रहा है अतः इस का विवेचन आगे यथास्थान षकारान्तों में किया जायगा। षष्' शब्द के बाद सप्तन्' (सात) शब्द आता है। इस का समग्र प्रक्रिया पञ्चन्' शब्दवत् होती है कुछ भी विशेष नहीं होता।

सप्तन् = सात

['षपँ समवाय' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् सप्यशूभ्यां तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिन्प्रत्यये तुडागमे च कृते साधुः।]

प्र०	०	०	सप्त †	पं०	०	०	सप्तभ्यः ※
द्वि०	०	०	,, †	ष०	०	०	सप्तानाम् ‡
तृ०	०	०	सप्तभिः ※	स०	०	०	सप्तसु ※
च०	०	०	सप्तभ्यः ※			—०—	

† 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षट्सञ्ज्ञा होकर षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् और शस् का लुक् हो जाता है। तब 'न लोपः ' (१८०) से पदान्त नकार का लोप करने से उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

※ 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)।

‡ षट्सञ्ज्ञा षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से नुडागम, नोपधायाः' (२६८) से उपधा दीर्घ तथा न लोपः ' से नकार का लोप हो जाता है।

अष्टन्=आठ

[अशूँ व्याप्तौ' (स्वा० आ०) इत्यस्मात् 'सप्यशूभ्यां तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिनि तुडागमे च कृते साधुः।]

'अष्टन्' शब्द भी पञ्चन् और सप्तन् शब्दों की तरह सदा बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है।

'अष्टन्+अस' (जस्) ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२९९ अष्टन आ विभक्तौ ।७।२।८४॥

अष्टन आत्वं वा स्याद् हलादौ विभक्तौ।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर 'अष्टन्' शब्द को विकल्प करके आकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टनः ६।१। आ ।१।१। विभक्तौ ।७।१। हलि ।७।१। ['रायो हलि' इस अग्रिमसूत्र से। यह 'विभक्तौ' का विशेषण है। अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे'

द्वारा तदादिविधि होकर 'हलादौ' बन जाता है।] अर्थ—(अष्टन) अष्टन् शब्द के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। (हलि=हलादौ) यदि हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो।

अलोऽन्त्यविधि के अनुसार यह आकार आदेश अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर होता है।

यह आत्व 'अष्टनो दीर्घात्' (६ १ १६८)* सूत्र में दीर्घग्रहणसामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है। क्योंकि यदि यह नित्य होता तो सर्वत्र दीर्घ ही के प्राप्त होने से सूत्र में 'दीर्घात्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाता—उसका ग्रहण न किया जाता। पुन इस के ग्रहण से आत्व की वैकल्पिकता स्पष्ट हो जाती है।

यह सूत्र हलादि विभक्तियों में प्रवृत्त होता है। यहां जस् और शस् तो जकार और शकार के लुप्त हो जाने से अजादि हैं। अत इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस शका की निवृत्ति अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०० अष्टाभ्य औश् ।७।१।२१॥

कृताकाराद् अष्टन. परयोर्जश्शसोर् औश् स्यात्। 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्व ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे—अष्ट २ इत्यादि पञ्चवत्।

अर्थः—कृताकार अर्थात् आकार आदेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे जस् और शस् को 'औश्' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टाभ्य ।५।३। जश्शसो ।६।२। ['जश्शसो शि' से] औश् ।१।१। भ्यस् विभक्ति में अष्टन् शब्द के 'अष्टाभ्य' और 'अष्टभ्य' ये दो रूप बनते हैं। परन्तु यहां 'अष्टाभ्य' रूप 'अष्टन्' शब्द का नहीं किन्तु 'अष्टा' शब्द का है। 'अष्टा' शब्द आकार अन्तादेश किये हुए अष्टन्' शब्द का अनुकरण है। बहुवचन का प्रयोग शब्दों के बाहुल्य की दृष्टि से अथवा मुख्य अष्टन् को बताने के लिये किया गया है। अर्थ—(अष्टाभ्यः) 'अष्टा' शब्द अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे (जश्शसो) जस् और शस् को (औश्) औश् आदेश हो जाता है।

औश् आदेश शित् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण

*इस सूत्र का अर्थ—'दीर्घान्त अष्टन् शब्द से परे शस् आदि विभक्ति उदात्त होती है'।

जस और शस् के स्थान पर होता है। ध्यान रहे कि यह सूत्र 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अष्टन आ विभक्तौ' (२११) सूत्र से हलादि विभक्तियों में 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश करने का विधान किया गया है, इस से जस् और शस् के अजादि होने के कारण जबकि 'अष्टन्' को आकार आदेश ही नहीं होता तो पुन उससे परे जस् और शस् को औश् विधान कैसे सम्भव हो सकता है? इस का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि— 'अष्टाभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसो विषय आत्व ज्ञापयति"। अर्थात् महामुनि को यदि अष्टन् शब्द से परे केवल जस् और शस् को 'औश्' ही विधान करना होता तो वे अष्टाभ्य औश्' सूत्र में 'अष्टाभ्य पद की बजाय अष्टभ्य' ऐसा लिखते, क्योंकि इस से एक मात्रा की बचत हो सकती थी। परन्तु मुनि के ऐसा न कर 'अष्टाभ्य' लिखने से यह विदित होता है कि मुनि आत्व किये हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर निर्देश कर रहे हैं। परन्तु जस् और शस् में आत्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है, अत यहां पाणिनि के निर्देशसामर्थ्य से ही जस्, शस् में भी वैकल्पिक आत्व का होना विदित होता है।

'अष्टन्+अस्' (जस् व शस्) यहां 'अष्टाभ्य औश्' में आत्व निर्देश के कारण आकार अन्तादेश तथा सूत्र से जस् व शस् को 'औश्' सर्वादेश हो कर 'अष्ट आ औ'। 'अक सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'अष्टौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

भिस् और भ्यस् में हलादि विभक्ति परे होने के कारण अष्टन आ विभक्तौ' (२११) से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से—अष्टाभि, अष्टाभ्य।

अष्टन्+आम्। यहा ष्णान्ता षट्' (२१७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा हो कर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र द्वारा नुट् का आगम करने से—अष्टन्+नाम्। अब 'नाम्' के हलादि होने से 'अष्टन आ विभक्तौ' (२११) सूत्र से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'अष्टानाम्' प्रयोग सिद्ध होता

अष्टन्+सुप्=अष्टासु ['अष्टन आ विभक्तौ']।

जहां आत्व नहीं होगा वहां सम्पूर्ण रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होगी।

स्मरणीय—आत्व अनात्व दोनों पक्षों में आम् विभक्ति में 'अष्टानाम्' एक सा रूप बनता है। परन्तु उन दोनों पक्षों की प्रक्रियाओं के अन्तर का ध्यान रखना चाहिये।

दोनों पक्षों में रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहु—	—वचन
			(आत्वपक्षे)	(अनात्वपक्षे)
प्रथमा	०	०	अष्टौ	अष्ट
द्वितीया	०	०	,,	,,
तृतीया	०	०	अष्टाभिः	अष्टभिः
चतुर्थी	०	०	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
पञ्चमी	०	०	,,	,,
षष्ठी	०	०	अष्टानाम्	अष्टानाम्
सप्तमी	०	०	अष्टासु	अष्टसु

'अष्टन्' शब्द के अनन्तर 'नवन्' (नौ) और 'दशन्' (दस) शब्द आते हैं। ये भी सदा बहुवचनान्त हैं। इन की रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है।

नवन् (नौ)				दशन् (दस)			
प्र०	०	०	नव	प्र०	०	०	दश
द्वि०	०	०	,,	द्वि०	०	०	,,
तृ०	०	०	नवभिः	तृ०	०	०	दशभिः
च०	०	०	नवभ्यः	च०	०	०	दशभ्यः
प०	०	०	,,	प०	०	०	,,
ष०	०	०	नवानाम्	ष०	०	०	दशानाम्
स०	०	०	नवसु	स०	०	०	दशसु

इसी प्रकार—एकादशन् (११), द्वादशन् (१२), त्रयोदशन् (१३), चतुर्दशन् (१४), पञ्चदशन् (१५), षोडशन् (१६), सप्तदशन् (१७) अष्टादशन् (१८), नवदशन् (१९) शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां नकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

——०❀०——

अभ्यास (३९)

(१) पूर्वपक्षी द्वारा उत्थापित 'नोपधायाः' सूत्र की व्यर्थता बतला कर उस का समाधान करो।

(२) (क) 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञा०' नियम का क्या लाभ है?

(ख) 'अवर्णस्त्रसावनञः' सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(ग) 'श्वयुव ' सूत्र पर प्रसिद्ध सूक्ति लिख कर इस के तात्पर्य का विवेचन करो।

(घ) षट्सञ्ज्ञा की अन्वर्थता पर सक्षिप्त नोट लिखो।

(ङ) 'मघवन्' शब्द का दोनों पक्षों में उच्चारण लिखो।

(३) निम्नलिखित वचनों की प्रकरणनिर्देशपूर्वक व्याख्या करो—

(क) अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यण पूर्वं सम्प्रसारणम्"।

(ख) ' अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोविषय आत्व ज्ञापयति"।

(ग) "अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन तदन्तविधि प्रयोजयन्ति"।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र प्रक्रिया बताओ—

१ यज्वनि । २ राज्ञ । ३ ब्रह्मा । ४ वृत्रहणि । ५ पथ । ६ मन्था । ७ अष्टौ ।
८ पञ्च । ९ वृत्रहा । १० अर्वन्तौ । ११ मघोन । १२ यूनि । १३ ऋभुक्षिभ्याम् ।

(५) निम्नलिखित शब्दों का केवल शस् में रूप लिखो—

१ अश्वत्थामन् । २ पुष्पधन्वन् । ३ मथिन् । ४ मघवन् । ५ श्वन् । ६ पञ्चन् ।
७ अष्टन् । ८ अर्वन् । ९ भ्रूणहन् । १० पूषन् ।

(६) सूत्रों की व्याख्या करो—

१ एकाजुत्तरपद ण । २ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु । ३ सौ च । ४ न सयोगाद्वमन्तात् ।
५ उगिदचा सर्वनामस्थानेऽधातो । ६ न ङि सम्बुद्ध्यो । ७ थो न्थ । ८ अष्टाभ्य
औश् । ९ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।

(७) डावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्य ' वार्त्तिक का भ व प्रतिपादन करो।

(८) (क) क्या 'ज्ञ' तथा 'ष' स्वतन्त्र वर्ण हैं ? इन पर विवेचनात्मक नोट लिखो।

(ख) 'अर्वणस्त्रसावनञ ' द्वारा प्रतिपादित 'तृ' आदेश अनेकाल् होने पर भी
क्यों सर्वादेश नहीं होता ?

(ग) 'मघवा बहुलम्' सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) "अष्टानाम्' पर दोनों पक्षों की प्रक्रियाएं स्पष्ट करो।

(ङ) 'अष्टन आ विभक्तौ' द्वारा विहित आकार आदेश वैकल्पिक क्यों समझा
जाता है ?

———०※०———

एभ्यः क्विन् स्यात्*। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः केवलयोः। क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

अर्थ—ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश् उष्णिह्—ये पांच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं तथा सुबन्त उपपद होने पर 'अञ्चु' धातु से उपपदरहित युजि और क्रुञ्च् धातु से भी क्विन् प्रत्यय हो जाता है। किञ्च क्विन् परे रहते क्रुञ्च् के नकार का लोप भी नहीं होता।

व्याख्या—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् ।१।१। अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् ।६।३। च इत्यव्यय पदम्। क्विन् ।१।१। ['स्पृशोऽनुदके क्विन्' से]। समास—ऋत्विक् च दधृक् च स्रक् च दिक् च उष्णिक् च = ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् समाहारद्वन्द्व। अञ्चुश्च युजिश्च क्रुञ् च = अञ्चुयुजिक्रुञ्च, तेषाम् = अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्, इतरेतरद्वन्द्व। पञ्चम्यर्थे सौत्रत्वात्षष्ठी। इस सूत्र में दो वाक्य हैं—१ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्। २ अञ्चुयुजिक्रुञ्चां च क्विन्। पहले वाक्य में पाणिनि जी ने बने बनाने पांच शब्द गिनाये हैं। सूत्रकार का स्वय सब कार्य कर के पद देना निपातन कहाता है†। इन पाच शब्दों का निपातन किया गया है। 'क्विन्' के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण इन शब्दों को भी क्विन्न त समझना चाहिये। दूसरे वाक्य में तीन धातुओं में क्विन्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अर्थ—(ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्) ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश् और उष्णिह् ये पाच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हे। (च) तथा (अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्) अञ्चु, युजि तथा क्रुञ्च् धातुओं से (क्विन्) क्विन्' प्रत्यय हो जाता है।

निपातनों के साथ २ अञ्चु आदि तीन धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय विधान करने से यह विदित होता है कि इन धातुओं में भी कुछ २ निपातन कार्य होते हैं। वे निपातनकार्य शिष्टग्रन्थों के अनुसार निम्नलिखित हैं—

(१) सुबन्त उपपद होने पर ही 'अञ्चु' धातु से क्विन् होता है।

(२) उपपदरहित 'युजि' और 'क्रुञ्च्' धातु से क्विन् होता है।

(३) 'क्विन्' परे होने पर 'क्रुञ्च्' के उपधाभूत नकार का 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) द्वारा लोप नहीं होता।

ऋत्विज् आदि पांच शब्दों में महामुनि ने निम्नलिखित कार्य किय हैं—

---

* 'एभ्यः क्विन् स्यात्' यह वचन ऋत्विज आदि पांच शब्दों के अन्तर्गत यज आदि पाञ्च धातुओं को तथा सूत्र में साक्षात् पढ़े गये अञ्चु आदि तीन धातुओं को लक्ष्य करके कहा गया है।

† लक्षणं विनैव निपतति=प्रवर्त्तते लक्ष्येषु इति निपातनम्।

१ ऋत्विज्—में 'ऋतु' उपपद वाली यज्' (भ्वा० उ०) धातु से क्विन् उस का सर्वलोप, वचि-स्वपि ' (५४७) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् किया गया है ।

२ दधृष्—में धृष्' (स्वा० प०) धातु से क्विन् उस का सर्वलोप, द्वित्वादिक कार्य तथा अन्तोदात्तत्व किया गया है । यह शब्द पुल्ँलिङ्ग है । आगे षकारान्तों में इस का विवेचन किया जायगा ।

३ स्रज्—में 'सृजँ' (तुदा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वलोप, ऋकार से परे अम् का आगम तथा यणादेश किया गया है । यह शब्द जकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा ।

४ दिश्—में दिशँ' (तुदा० प०) धातु से कर्मकारक में क्विन् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारिलोप किया गया है । यह शब्द शकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा ।

५. उष्णिह्—में 'उद्' पूवक 'स्निह्' (दिवा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वापहारिलोप, उद् के दकार का भी लोप तथा सकार को षकार किया गया है । यह शब्द भी आगे हकारान्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में कहा जायगा ।

अब क्रमप्राप्त जकारान्त पुल्ँलिङ्ग शब्दों में प्रथम 'ऋत्विज्' शब्द का विवेचन किया जाता है । यह शब्द क्विन्नन्त निपातन किया गया है । 'क्विन्' प्रत्यय आ जाने से क्या २ लाभ होते हैं तथा उस का किस प्रकार सर्वापहारिलोप किया जाता है—यह बतलाने के लिये अब अग्रिमसूत्रों का विवेचन किया जाता है—

ऋत्विज्+क्विन्' * यहां 'हलन्त्यम्' (१) से नकार की तथा 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से ककार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप हो जाता है † । इकार उच्चारणार्थ है । तो इस प्रकार—'ऋत्विज्+व्' हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* वस्तुत क्विन्नन्त 'ऋत्विज शब्द बना बनाया निपातन किया गया है, इसकी सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं । और यदि सिद्धि करनी भी हो तो ऋत्विज्+क्विन्' ऐसा नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि तब प्रथम ऋतूपपद यज' धातु से क्विन् कर उस का सर्वापहारिलोप कर बाद में उसको मान सम्प्रसारण आदि होने चाहियें, लोप से पूर्व नहीं । अत बालकों के ज्ञान व सौकर्य के लिये ही यह अलीक मार्ग अवलम्बन किया समझना चाहिये ।

† 'क्विन्' प्रत्यय में नकार का ग्रहण क्विन् और क्विप् में भेद करने के लिये तथा ककार का ग्रहण कित् कार्यों के लिये है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३०२ कृदतिङ् ।३।१।६३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—'धातोः' (३. १. ६१) इस अधिकार में पठित प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् । ['तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से] अतिङ् । १ । १ । [यह अधिकृत है] कृत् । १ । १ । अर्थः—(तत्र) उस 'धातोः' के अधिकार में (अतिङ्) तिङ्भिन्न (प्रत्ययः) प्रत्यय (कृत्) कृत्सञ्ज्ञक हो ।

इस सूत्र से एक सूत्र पीछे अष्टाध्यायी में 'धातोः' (७६६) इस प्रकार का एक अधिकार चलाया गया है । इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि तृतीय अध्याय तक जितने प्रत्यय विधान किये जाएं वे सब धातु से परे हों । इस अधिकार को चला कर अब 'तत्र अतिङ् प्रत्ययः कृत्" ऐसा कथन किया गया है । अर्थात् उस धात्वधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है । यह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में स्थित है । इस पाद में दो धात्वधिकार हैं । एक—'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३. १. २२) सूत्र में और दूसरा 'धातोः' (३. १. ९१) यह उपर्युक्त । यहां 'तत्र' शब्द द्वितीय धात्वधिकार को लक्ष्य कर के प्रयुक्त किया गया है । इसीलिये ही वृत्ति में 'अत्र' कहा गया है। अतः प्रथम धात्वधिकार में धातु से परे विहित प्रत्यय की कृत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'अतिङ्' कहने से इस धात्वधिकार में पठित होने पर भी तिङ्प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक न होगा। यथा—भवति, पठति, पठन्तु आदि । यदि यहां भी कृत्सञ्ज्ञा हो जाती तो 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो जाने से—'भवतिः, पठतिः पठन्तुः' इस प्रकार अनिष्ट रूप हो जाते ।

ऋत्विज्+व् (क्विन्) । यहां क्विन् की कृत्सञ्ज्ञा हो जाती है, क्योंकि यह द्वितीय अधिकार में पठित तथा तिङ्भिन्न प्रत्यय है ।

अब पुनः यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०३ वेरपृक्तस्य ।६।१।६५॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः ।

अर्थः—अपृक्तसञ्ज्ञक वकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—वेः ।६।१। अपृक्तस्य ।६।१। लोपः ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] यहां 'वि' में इकार उच्चारणार्थ है, क्योंकि 'वि' अपृक्त नहीं बन सकता । 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) सूत्र द्वारा एकाल् प्रत्यय की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है। अर्थः—(अपृक्तस्य) अपृक्तसञ्ज्ञक (वेः) वकार का (लोपः) लोप हो जाता है ।

'ऋत्विज्+व्' यहां वकार अपृक्त है अतः प्रकृतसूत्र से इस का लोप हो कर 'ऋत्विज्' ही अवशिष्ट रहता है। अब इस के कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

'ऋत्विज्+स्' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७६) सूत्र से सुँ का लोप हो जाता है। 'ऋत्विज्' इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०४ क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्यासिद्धत्वाच् 'चोः कुः' (३०६) इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

अर्थः—'क्विन्' प्रत्यय जिस से किया जाय, उस को पदान्त में कवर्ग अन्तादेश हो जाता है। इस सूत्र के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

व्याख्या—क्विन्प्रत्ययस्य ।६।१। कुः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] समासः—क्विन् प्रत्ययो यस्मात् स क्विन्प्रत्ययः, तस्य=क्विन्प्रत्ययस्य। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(क्विन्प्रत्ययस्य) क्विन्' प्रत्यय जिस से किया गया हो उस के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। अत एव वृत्ति में 'अन्तादेश' लिखा है। यहां 'कु' से 'अणुदित्०' (११) द्वारा कवर्ग समझा जाता है—यह हम सञ्ज्ञाप्रकरण में उसी सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

यहां इस सूत्र से केवलमात्र यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि 'पदान्त में क्विन्नन्त शब्द के अन्त को कवर्ग आदेश होता है'। यदि केवल इतना ही अभीष्ट होता तो 'क्विनः कुः' सूत्र रचते 'प्रत्यय' शब्द साथ न जोडते। अतः 'प्रत्यय' शब्द साथ लगाने का यह प्रयोजन है कि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास मान कर अब अक्विन्नन्तों अर्थात् क्विन्भिन्न अन्यप्रत्ययान्तों को भी कवर्ग अन्तादेश हो जावे। हां, कहीं उसे क्विन् हो चुका हो। यह सब आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

प्रकृत में 'ऋत्विज्' यह शब्द क्विन्नन्त है अतः पदान्त में इस सूत्र से जकार को कवर्ग—गकार प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त आगे आने वाले 'चोः कुः' (३०६) सूत्र से भी जकार को कवर्ग अर्थात् गकार प्राप्त होता है। पूर्वत्रासिद्धम् (३१) द्वारा 'चोः कुः' (८.२.३०) की दृष्टि में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८.२.६२) सूत्र असिद्ध है, अतः 'चोः

कु' द्वारा ही कुत्व-गकार हो कर-ऋत्विग्। 'वाऽवसाने' (१४६) से विकल्प कर के चर्त्व-ककार करने से—'ऋत्विक्, ऋत्विग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

यद्यपि क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) और 'चो कु' (३०६) इन दोनों सूत्रों में से किसी एक के द्वारा यहां कार्य्य सिद्ध हो सकता है, तथापि अन्यत्र भिन्न २ उदाहरणों में कार्यसिद्धि के लिये दोनों सूत्रों का होना आवश्यक है। यथा—'प्राङ्' यहां चवर्ग न होने से 'चो कु' (३०६) प्रवृत्त नहीं होता, 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) से कार्य होता है। 'सुयुक्, सुयुग्' यहां क्विन्प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'चो कु' (३०६) से ही कुत्व होता है।

सूचना—वस्तुत 'ऋत्विक्, ग्' में 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' द्वारा ही कुत्व होता है 'चो कु' द्वारा नहीं। यह सब विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखेंगे।

'ऋत्विज्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ऋत्विक्, ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विज
द्वि०	ऋत्विजम्	,,	,,
तृ०	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम् ×	ऋत्विग्भि ×
च०	ऋत्विजे	,, ×	ऋत्विग्भ्य ×
प०	ऋत्विज	,, ×	,, ×
ष०	,,	ऋत्विजो	ऋत्विजाम्
स०	ऋत्विजि	,,	ऋत्विक्षु*
स०	हे ऋत्विक्, ग्!	हे ऋत्विजौ!	हे ऋत्विज!

× इन स्थानों पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से 'चोः कु' सूत्र से कुत्व हो जाता है।

* यहां भी पदत्व के कारण 'चो कु' से कुत्व-गकार, 'खरि च' (७४) से गकार को चर्त्व-ककार तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) से सकार को षकार हो जाता है। फिर 'क्ष्' आकृति हो जाती है।

युज्=योगी

'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। इस प्रकार 'युज्' शब्द के कृदन्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

युज्+स् (सुँ)—यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०५ युजेरसमासे ।७।१।७१॥

युजे॰ सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुँलोप॰ । सयोगान्त-लोप । कुत्वेन नस्य ङ । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ—युञ्जौ, युञ्ज॰ । युग्भ्याम् ।

अर्थ॰—सर्वनामस्थान परे होने पर युज् को नुम् का आगम होता है, परन्तु समास में नहीं होता ।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से] युजे ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] असमासे ।७।१। अर्थ —(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (युजे) युज् धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है (असमासे) परन्तु समास में नहीं होता ।

ध्यान रहे कि 'ऋत्विग्दधृक् ' (३०१) सूत्र में तथा 'युजेरसमासे' (३०२) इस सूत्र में युजि' इस प्रकार इकार ग्रहण करना 'कार' प्रत्यय की भांति स्वार्थ में 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस इक् प्रत्यय द्वारा नहीं समझना चाहिये, किन्तु इनमें 'युजिर् योगे' (रुधा॰ उभ॰) धातु का अनुकरण किया गया है । अत इन सूत्रों में 'युज समाधौ' (दिवा॰) धातु का ग्रहण नहीं होता । विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी देखें ।

'युज्+स्' यहां सर्वनामस्थान परे है अत युजेरसमासे' सूत्र से नुम् का आगम हो—यु नुम् ज+स् । मकार और उकार अनुबन्धों का लोप होकर—युन्ज्+स् । हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) से सकार का लोप—युन्ज् । 'सयोगान्तस्य लोप ' (२०) से जकार का लोप कर 'क्विन्प्रत्ययस्य कु ' (३०४) से नकार को ङकार करने से—'युङ्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'युज्+औ' यहां भी सर्वनामस्थान परे होने के कारण 'युजेरसमासे' सूत्र द्वारा नुम् का आगम—यु नुम् ज्+औ । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) सूत्र द्वारा अनुस्वार को परसवर्ण—ञकार हो कर 'युञ्जौ' सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि परसवर्ण—के असिद्ध होने से 'चोः कु' (३०६) द्वारा ञकार को ङकार नहीं होता । रूपमाला यथा—

× चो कुः, खरि च, आदेशप्रत्यययोः ।

सुयुज्=सुयोगी

सुपूर्वक 'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुयुज्' शब्द निष्पन्न होता है। ध्यान रहे कि यहां 'ऋत्विग्दधृक्—' (३ १) सूत्र द्वारा क्विन् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि वहां निरुपपद युज् से क्विन् विधान किया गया था, यहां 'सु' यह उपपद विद्यमान है।

सुयुज्+स् (सु) । यहां समास में निषेध होने से 'युजेरसमासे' (३०५) द्वारा नुम् का आगम नहीं होता। हल्ङ्याब्भ्य —' (१७६) से सकार का लोप होकर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३०६ चोः कुः ।८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । सुयुक्, सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् ।

अर्थः—झल् परे होने पर या पद के अन्त में चवर्ग को कवर्ग आदेश हो जाता है।

व्याख्या—चोः ।६।१। कुः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (चोः) चवर्ग के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है।

'सुयुज्' यहां पद के अन्त में चवर्ग जकार को कवर्ग गकार होकर 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व ककार करने पर—'सुयुक्, सुयुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च । जश्त्व-चर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् ॥

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् इन सात धातुओं को तथा शकारान्त और छकारान्तों को षकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—व्रश्च-भ्रस्ज ... छशाम् ।६।३। षः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से]। समास—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राट् च छश्च श् च=व्रश्च ... भ्राज-च्छशः, तेषाम्=व्रश्च ... भ्राजच्छशाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । व्रश्चादिष्वकार उच्चारणार्थः, अथवोदात्ताद्यनुबन्धप्रदर्शनार्थः । यहां 'व्रश्च' आदि सात धातु हैं तथा छ्, श् ये दो वर्ण हैं। ये दोनों वर्ण 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य के विशेषण हैं। शब्दानुशासन का सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' यह उपलब्ध हो जाता है। अतः तदन्तविधि होकर शकारान्त छकारान्त शब्दस्वरूप ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थः—(व्रश्च ... छशाम्) व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के स्थान पर (षः) 'ष्' आदेश हो जाता है (झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

'राज्' यहां पदान्त में प्रकृत सूत्र से जकार को षकार हो कर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'वावसाने' सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने पर 'राट्, राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राट्, ड्	राजौ	राजः	पं०	राजः	राड्भ्याम् ×	राड्भ्यः ×
द्वि०	राजम्	,,	,,	ष०	,,	राजोः	राजाम्
तृ०	राजा	राड्भ्याम् ×	राड्भिः ×	स०	राजि	,,	राट्त्सु, ट्सु❀
च०	राजे	,, ×	राड्भ्यः ×	सं०	हे राट्, ड्!	हे राजौ!	हे राजः!

× व्रश्चेति षत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति डकारः ।

❀ षत्वे जश्त्वे च कृते 'डः सि धुट्' (८४) इति वा धुडागमे 'खरि च' (७४) इति चर्त्वम् ।

विभ्राज्=विशेष शोभायुक्त

'वि पूर्वक 'भ्राजृँ दीप्तौ' (भ्वा० आ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर 'विभ्राज्' शब्द सिद्ध होता है। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

विभ्राज्+स् (सुँ)। हल्ङ्याब्भ्यः— (१७६) से सकारलोप, 'व्रश्च—' (३०७) से जकार का षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार का डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने से 'विभ्राट्, विभ्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विभ्राट्-ड्	विभ्राजौ	विभ्राजः	पं० विभ्राजः	विभ्राड्भ्याम्×	विभ्राड्भ्यः×
द्वि०	विभ्राजम्	,,	,,	ष० ,,	विभ्राजोः	विभ्राजाम्
तृ०	विभ्राजा	विभ्राड्भ्याम्×	विभ्राड्भिः×	स० विभ्राजि	,,	विभ्राट्सु-ट्त्सु॰
च०	विभ्राजे	×	विभ्राड्भ्यः×	सं० हे विभ्राट्!	हे विभ्राजौ!	हे विभ्राजः!

× व्रश्चेति षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति जश्त्वम्।

॰ षत्वे, जश्त्वे, वा धुडागमे चर्त्वम्।

देवेज्=देवताओं का यजन करने वाला।

[देवान् यजत इति देवेट्। 'देव' कर्मोपपदाद् यजते (भ्वा० उभ०) क्विपि, किरवाद् 'वचिस्वपियजादीनां किति' (५४७) इति सम्प्रसारणत्वे 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) इति पूर्वरूपत्वे, गुणे च कृते 'देवेज्' इतिशब्दो निष्पद्यते।] कृदन्त होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो कर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	देवेट्-ड्	देवेजौ	देवेजः	पं० देवेजः	देवेड्भ्याम्	देवेड्भ्यः
द्वि०	देवेजम्	,,		ष० ,,	देवेजोः	देवेजाम्
तृ०	देवेजा	देवेड्भ्याम्	देवेड्भिः	स० देवेजि	,,	देवेट्सु-ट्त्सु
च०	देवेजे	,,	देवेड्भ्यः	सं० हे देवेट्!	हे देवेजौ!	हे देवेजः!

यहां 'यज्' होने से पदान्त में पूर्ववत् 'व्रश्च—' (३०७) सूत्र से षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार हो जाता है।

सूचना—यहां 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र बहुव्रीहिसमासवश प्राप्त होता था, परन्तु भाष्यकार के 'उपयट् काम्यति' प्रयोग के निर्देश से नहीं होता। यह विषय विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

विश्वसृज्=जगत् के रचयिता, भगवान्

[विश्वं सृजतीति विश्वसृट्। विश्वकर्मोपपदात् 'सृज' विसर्गे (तुदा० प०) इत्यस्मात्कर्तरि क्विप 'विश्वसृज्' इतिशब्दो निष्पद्यते।] इस की रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वसृट्-ड्	विश्वसृजौ	विश्वसृजः	पं०	विश्वसृजः	विश्वसृड्भ्याम् विश्वसृड्भ्यः
द्वि०	विश्वसृजम्	"	"	ष०	विश्वसृजोः	विश्वसृजाम्
तृ०	विश्वसृजा	विश्वसृड्भ्याम्	विश्वसृड्भिः	स०	विश्वसृजि	विश्वसृट्त्सु-ट्सु
च०	विश्वसृजे	"	विश्वसृड्भ्यः	सं०	हे विश्वसृट्-ड् !	हे विश्वसृजौ ! हे विश्वसृजः !

यहां 'सृज्' धातु होने से 'व्रश्च०' (३०७) सूत्र से पदान्त में जकार को षकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार हो जाता है। 'रज्जुसृड्भ्याम्' इस भाष्यप्रयोग से यहां पर कुत्व नहीं होता। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

परिव्राज्=सन्यासी

इस शब्द की सिद्धि के लिये ग्रन्थकार उणादिसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] "परौ व्रजेः षः पदान्ते"

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद् दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्, परिव्राड्।

अर्थ—'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप प्रत्यय हो और धातु के अकार को दीर्घ हो। किञ्च—पदान्त में षत्व भी होना चाहिये।

व्याख्या—यह शाकटायनमुनिप्रणीत उणादिसूत्र (२१८) है। परौ ।७।१। व्रजेः ।५।१। क्विप् ।१।१। ['क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तु—' से] पदान्ते ।७।१। षः ।१।१। अर्थः—(परौ) 'परि' उपपद होने पर (व्रजेः) व्रज् धातु से (क्विप्) क्विप् प्रत्यय तथा (दीर्घः) दीर्घ होता है। किञ्च (पदान्ते) पदान्त में (षः) षकार भी हो जाता है।

जिस पद के साथ रहने पर कोई कार्य विधान किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं, उपपद सदा पूर्व में ही प्रयुक्त हुआ करता है। [देखो—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (६१३), उपपदमतिङ् (६५४)]। यहां 'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' धातु से क्विप् का विधान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप् हो अन्यथा नहीं।

क्विप के साथ धातु का दीर्घ करने का भी विधान है। ह्रस्व दीर्घ और प्लुत अचों के ही धर्म हैं अतः बिना कहे भी ये अचों के स्थान पर समझने चाहियें। अतः यहां 'व्रज्' धातु के अन्तर्गत रेफोत्तर अकार को ही दीर्घ होगा।

पदान्त में विहित षत्व अलोऽन्त्यविधि से जकार के स्थान पर होगा।

परिव्रज्+क्विप्=परिव्राज्+क्विप्। क्विप का सर्वापहारी लोप करने से—परिव्राज्। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है।

परिव्राज्+स् (सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यो० (१७९) से सकार का लोप कर पदान्त में षत्व करने पर—परिव्राष्। 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने से 'परिव्राट्, परिव्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	परिव्राट्-ड्	परिव्राजौ	परिव्राजः	पं०	परिव्राजः	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भ्यः
द्वि०	परिव्राजम्	,,	,,	ष०	,,	परिव्राजोः	परिव्राजाम्
तृ०	परिव्राजा	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भिः	स०	परिव्राजि	,,	परिव्राट्त्सु-ट्सु
च०	परिव्राजे	,,	परिव्राड्भ्यः	सं०	हे परिव्राट्-ड्!	हे परिव्राजौ!	हे परिव्राजः!

पदान्त में सर्वत्र 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व हो जाता है।

विश्वराज्=विश्वपति, भगवान्

[विश्वस्मिन् राजत इति विश्वराट्। विश्वोपपदाद् राजते (भ्वा० उ०) 'सत्सूद्विष० ' (३.२.६१) इति क्विपि उपपदसमासे विश्वराज् इतिशब्दो निष्पद्यते।]

विश्वराज्+स् (सुँ)। यहां सकारलोप हो व्रश्च० (३०७) सूत्र से जकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने पर— विश्वराट्, विश्वराड्'। अब इन दोनों अवस्थाओं में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३०८ विश्वस्य वसुराटोः ।६।३।१२७॥

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

अर्थः—वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है।

व्याख्या—विश्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य—' से] वसुराटोः ।७।२। अर्थः—(वसुराटोः) वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर (विश्वस्य) 'विश्व' शब्द के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह दीर्घ अन्त्य अच् के स्थान पर होगा।

यहां 'राट्' का ग्रहण पदान्त का उपलक्षण है अतः 'राट्' हो या राड्', दोनों अवस्थाओं में दीर्घ हो जाता है।

इस सूत्र से दीर्घ करने पर—'विश्वाराट्, विश्वाराड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वाराट्-ड्	विश्वराजौ	विश्वराजः
द्वि०	विश्वराजम्	"	"
तृ०	विश्वराजा	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भिः
च०	विश्वराजे	"	विश्वाराड्भ्यः
पं०	विश्वराजः	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भ्यः
ष०	"	विश्वराजोः	विश्वराजाम्
स०	विश्वराजि	"	विश्वाराट्त्सु-ट्सु
सं०	हे विश्वाराट्-ड्!	हे विश्वराजौ!	हे विश्वराजः!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् में षत्व और डत्व हो कर दीर्घ हो जाता है। सुप् में षत्व, डत्व हो कर वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है।

भृस्ज्=भठियारा व भडभूंजा

'भ्रस्जँ पाके' (तुदा० उभ०) धातु से क्विप्, 'ग्रहिज्या—' (६३४) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने से 'भृस्ज्' शब्द बनता है। भृज्जतीति=भृट्।

भृस्ज्+स्। सकार का लोप हो कर—भृस्ज्। अब 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकारलोप के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३०९ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ।८।२।२९॥

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात्। भृट्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' (१९) इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्।

अर्थः—पदान्त में या झल् परे होने पर संयोग के आदि वाले सकार ककार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—स्कोः ।६।२। संयोगाद्योः ।६।२। लोपः ।१।१। ['संयोगान्तस्य लोपः' से]

इत्यव्ययपदम्। समास —स् च क् च=स्का, तयो =स्को । इतरतरद्वन्द्व । सयोगस्य आदो=सयोगादी, तयो =सयोगाद्यो । षष्ठीत पुरुष । अर्थ —(झलि) झल परे होने पर या (पदस्य) पद क (अन्ते) अन्त म स्थित (सयोगाद्यो) जो सयोग उस के आदि सकार ककार का (लोप) लोप हो जाता है ।

यद्यपि यह सूत्र सयोगान्तस्य लोप (२०) की दृष्टि म असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य स उसका अपवाद है ।

भृस्ज यहा पद त म प्रकृतसूत्र स सयोग के आदि वाले सकार का लोप हो— 'भृज् । 'व्रश्च— (३ ७) सूत्र से जकार को षकार जश्त्व से षकार को डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार करने पर— भृट भृड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'भृस्ज्+औ' यहा पदान्त व झल परे न होने से सयोग के आदि सकार का प्रकृतसूत्र स लोप नहीं होता। झला जश्झशि (१६) और स्तो श्चुना श्चु ' (६२) दोनो प्राप्त होते हैं। जश्त्व के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व स सकार को शकार हो— भृशज्+औ । पुन झला जश्झशि' (१६) म तालुस्थानिक शकार के स्थान पर तादृश जश्—जकार करने पर 'भृज्जौ' प्रयोग सिद्ध होता है । रूपमाला यथा—

प्र० भृट् ड्	भृज्जौ	भृज्ज	प	भृज्ज	भृड्भ्याम्	भृड्भ्य
द्वि० भृज्जम्	,		ष०		भृज्जो	भृज्जाम्
तृ० भृज्जा	भृड्भ्याम्	भृड्भि	स०	भृज्जि	,	भृट्त्सु ट्सु
च० भृज्जे	,	भृड्भ्य	स०	हे भृट् ड् !	हे भृज्जौ !	हे भृज्ज !

अभ्यास (४०)

(१) 'ऋत्विक्' आदि प्रयोगा मे 'चो कु' अथवा क्विन्प्रत्ययस्य कु ' दोनों में से किसी एक के द्वारा कार्य सिद्ध हो सकता है, तो पुन दो सूत्रों के निर्माण का क्या प्रयोजन है ?

(२) युञ्जौ, युञ्ज —आदि प्रयोगों में झल् परे होने पर भी 'चो कु' सूत्र द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता ?

(३) क्विन्प्रत्यय का सर्वापहार लोप कैसे किया जाता है ससूत्र लिखें किञ्च इस के करने का लाभ ही क्या है ?

(४) 'युजेरसमासे' सूत्र में 'युजि' के साथ इकार जोड़ने का क्या अभिप्राय है ?

(५) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करो—

१ स्को –, २ ऋत्विग्दधृक्—, ३ क्विन्प्रत्ययस्य कु , ४ युजेरसमासे।

(६) १ खन्सु २ परिव्राट् ३ विश्वाराट् ४ भृट, ५ भृज्जौ, ६ युग्भ्याम्, ७ विश्वसृट्, ८ दवेड्भ्याम् ९ ऋत्विक्षु—इन प्रयोगों की सूत्रप्रदर्शनपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें।

(७) जब सयोगान्तलोप की दृष्टि में स्कोः सयोगाद्योरन्ते च' सूत्र असिद्ध है, तो पुन वह उसे कैसे बाध लेता है ?

(८) पदान्त में षकार के स्थान पर किस सूत्र से जश्त्व होता है ? और वह जश्त्व कौन वर्ण होना चाहिये सोपपत्तिक स्पष्ट करो।

(९) 'कृदतिङ्' सूत्र पर 'अत्र धात्वधिकार' का क्या अभिप्राय है ?

(१०) 'राजा' यह किस २ शब्द का किस २ विभक्ति का रूप है ?

(उत्तर—राजन् सु, राज् टा)

यहां जकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

——❀——

अब दकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

त्यद्=वह

'त्यजि तनि-यजिभ्यो डित्' (उणा० १२९) इस सूत्र द्वारा 'त्यजँ हानौ' (भ्वा० प०) धातु से डित् 'अदि' प्रत्यय करने से टि का लोप कर देने पर 'त्यद्' शब्द निष्पन्न होता है। इस का लोक में प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता। वेद में इस का प्रचुर प्रयोग होता है ❀। अकेले ऋग्वेद में ही पुंल्लिङ्ग त्यद् के प्रथमा के एकवचन का प्रायः छत्तीस बार प्रयोग हुआ है। सर्वादिगणान्तर्गत होने से इसे सर्वनामकार्य भी होते हैं।

❀ परन्तु 'त्यश्छन्दसि बहुलम्' (६.१.१२०) सूत्र से इस का लोक में भी प्रयोग अशुद्ध प्रतीत नहीं होता। अत एव वेणीसंहारनाटक में—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा स्यो वा भवाम्यहम्। (३.३५) ऐसा क्वचित् पाठ भेद पाया जाता है।

'त्यजि तनि—' (उणा० १२९) सूत्र पर श्रीपेरुसूरि के श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—
स्यत्तद्यदस्त्रय सर्वा—दिगणे पठिता अमी। तत्राद्यौ तु परोक्षार्थौ तृतीयस्तन्निरूपक ॥ १ ॥
आद्यस्य लोके न क्वापि प्रयोग परिदृश्यते। वेदे त्वेषस्य वाजीति प्रभृतिष्वथ गम्यते ॥२॥
स्यश्छन्दसीतिसूत्रस्थच्छन्दोग्रहणलिङ्गत ।
लोकेऽप्यस्य प्रयोगोऽस्तीत्येतदभ्युपगम्यते ॥ ३ ॥

त्यद + स् (सुँ)। यहां 'त्यदादीनाम' (१९३) सूत्र द्वारा दकार का अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप एकादेश करने पर—त्य + स। यही बात ग्रन्थकार निर्देश करते हैं—

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्पररूपत्वञ्च ।

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०]विधि सूत्रम्—३१० तदोः सः सावनन्त्ययोः ।७।२।१०६॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः । त्यौ। त्ये। सः । तौ। ते। यः । यौ। ये। एषः । एतौ। एते। अन्वादेशे—एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः ॥

अर्थ — सुँ पर होने पर त्यदादियों के अनन्त्य (अन्त में न रहने वाले) तकार दकार का सकार हो जाता है।

व्याख्या— त्यदादीनाम् ।६।३। ['त्यदादीनाम' से] तदोः ।६।२। सः ।१।१। सौ ।७।१। अनन्त्ययोः ।६।२। समास—न अन्त्ययोः = अनन्त्ययोः, नञ्समास। अर्थ— (सौ) सुँ परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यदादियों के (अनन्त्ययोः) अनन्त्य (तदोः) तकार दकार को (सः) सकार आदेश हो जाता है।

त्य+स। यहां प्रकृतसूत्र से त्यद् शब्द के अनन्त्य तकार को सकार हो कर—स्य+स्। सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर—स्यः प्रयोग सिद्ध हुआ। इस की रूपमाला यथा—

प्र० स्यः	त्यौ	त्ये		प० त्यस्मात्	त्याभ्याम्	त्येभ्यः
द्वि० त्यम्	,,	त्यान्		ष० त्यस्य	त्ययोः	त्येषाम्
तृ० त्येन	त्याभ्याम्	त्यैः		स० त्यस्मिन्	,,	त्येषु
च० त्यस्मै	,,	त्येभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता		

यहां सर्वत्र त्यदाद्यत्व और पररूप कर प्रथम 'त्य' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बना लेना चाहिये। तब इस की प्रक्रिया 'सर्व' शब्दवत् चलती है। केवल स्यः में कुछ विशेष है जो पीछे बताया जा चुका है।

तद् = वह

यह शब्द भी 'तनुँ विस्तारे' (तना० उभ०) धातु से 'त्यजितनि०' (उणा० १२९) सूत्र द्वारा 'अदि' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है।

तद्+स् (सुँ)। यहाँ भी त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर— त+स्। पुन 'तदो स —' (३१०) सूत्र से अनन्त्य तकार को सकार आदेश कर रुँत्व विसर्ग करने से—'स' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	स	तौ	ते	प०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्य
द्वि०	तम्	,,	तान्	ष०	तस्य	तयो	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तै	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै		तेभ्य				

यहा भी पूर्ववत् 'त्यदादीनाम' (१९३) से दकार का अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर त' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बन जाता है। तब इसकी प्रक्रिया सर्व' शब्दवत् होती है। सुँ विभक्ति का विशेष पीछे बताया गया है।

यद् = जो

यह शब्द भी 'यजँ देवपूजासगतिकरणदानेषु' (भ्वा० उभ०) धातु से 'त्यजितनि यजिभ्यो डित्' (उणा० १२९) सूत्र द्वारा अदि' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

रूपमाला यथा—

प्र०	य	यौ	ये	प०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्य
द्वि०	यम्	,	यान्	ष	यस्य	ययो	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यै	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्य				

यहा भी पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'य शब्द बन जाने पर सर्वनामकार्य हो जाते हैं। ध्यान रहे कि इसमे अनन्त्य तकार दकार न होने से सुँ मे 'तदो स —' (३१०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

एतद् = यह [निकटतम]

'इण गतौ (अदा० प०) धातु से एतेस्तुट् च' (उणा० १३०) सूत्र द्वारा अदि प्रत्यय तथा 'तुट्' का आगम करने पर 'एतद्' शब्द निष्पन्न होता है।

एतद्+स् (सुँ)। यहाँ 'त्यदादीनाम' (१९३) से दकार को अकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'तदो स —' (३१०) से अनन्त्य तकार को सकार तथा 'आदेश प्रत्यययो' (१५०) से इस सकार को षकार करने पर—एषस् = एष' प्रयोग सिद्ध होता है।

इनकी रूपमाला यथा—

प्र०	एष	एतौ	एते	प०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतभ्य
द्वि०	एतम्	,,	एतान्	ष०	एतस्य	एतयो	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतै	स०	एतस्मिन		एतेषु
च०	एतस्मै	,	एतेभ्य				

यहा भी सवत्र यत्याद्यत्व—पररूप होकर 'एत श द बन जाने पर सव श द की तरह सवनाम काय हाते है। सुँ विभक्ति का विशेष बता चुके हैं।

अन्वादेश म द्वितीयाटौस्स्वन (२८०) सूत्र द्वारा द्वितीया टा और ओस् विभक्तिया म एतद् शब्द के स्थान पर 'एत' आदेश हो जाता ह। शेष विभक्तिया म कुछ अन्तर नहा पडता।

अ वादेश म रूपमाला यथा—

प्र०	एष	एता	एते	प	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतभ्य
द्वि	एनम्※	एनौ※	एनान्※	ष०	एतस्य	एनयो ※	एतेषाम्
तृ०	एनेन※	एताभ्याम्	एतै	स०	एतस्मिन	※	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्य		※द्वितीयाटौस्स्वेन (२८०)		

नोट—त्यदादियों का प्राय सम्बोधन नही हुआ करता—यह हम पीछ लिख चुके हे। यदि बनेगा भी तो प्रथमावत् बनेगा। सम्बुद्धि म 'एङ्ह्रस्वात्— का खयाल कर लेना चाहिये।

सूचना—ऊपर त्यदादियो के पुल्ँलिङ्ग के रूप दिये गये ह। स्त्रीलिङ्ग और नपु सकलिङ्ग के रूप आगे तत्तत्प्रकरणों मे देखें।

——※——

अब दकारान्तों म युष्मद् और अस्मद् का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान होते हैं—यह हम पीछे अजन्त पुल्ँलिङ्ग मे 'कति' शब्द पर लिख चुके हैं।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों की सिद्धि में बहुत सारे सूत्र प्रयुक्त होते हैं अत यह बालकों को कठिन प्रतीत होती है। हम इसे यथाशक्ति सरल तथा सुबोध बनान का प्रयास करेंगे। बालकों को इनकी सिद्धि से पूर्व इनके उच्चारण भली भाति कठस्थ कर लेने चाहिये। ऐसा करने से एक तो ये शब्द सरल दूसरे झटिति समझ में आ जाते हैं

इन दोनों की रूपमाला यथा—

*युष्मद् = तुम				*अस्मद् = मैं			
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	त्वाम्	,,	युष्मान्	द्वि०	माम्	,,	अस्मान्
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	तुभ्यम्	,,	युष्मभ्यम्	च०	मह्यम्	,,	अस्मभ्यम्
प०	त्वत् द्	,,	युष्मत् द्	प०	मत् द्	,,	अस्मत् द्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्	ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
स०	त्वयि	,,	युष्मासु	स०	मयि	,,	अस्मासु

युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में एक ही सूत्र प्रवृत्त होते हैं अतः हम भी इनकी सिद्धि इकट्ठी दिखायेंगे।

युष्मद् + सुँ, अस्मद् + सुँ। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३११ ङे प्रथमयोरम् ।७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे 'ङे' को तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को अम् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] ङे ।६।१। [यहां षष्ठीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] प्रथमयोः ।६।२। अम् ।१।१। समासः—प्रथमा च प्रथमा च = प्रथमे, तयोः = प्रथमयोः, एकशेषः। यहां पहले 'प्रथमा' शब्द से प्रथमाविभक्ति तथा दूसरे 'प्रथमा' शब्द से द्वितीया विभक्ति अभिप्रेत है †। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङ) ङे के स्थान पर तथा (प्रथमयोः) प्रथमा व द्वितीया विभक्ति के स्थान पर (अम्) 'अम्' आदेश हो जाता है।

इस सूत्र से सुँ का अम् आदेश हो कर—युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्। यहां 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र से निषेध हो जाता है। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* 'युष्यसिभ्यां मदिक्' (उणा० १३६) युषि सौत्रः।

† पहले 'प्रथमा' शब्द से सात विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति का ग्रहण हो जाता है, शेष द्वितीया आदि छः विभक्तियाँ बच रहती हैं। अब दूसरे 'प्रथमा' शब्द से उन छः अवशिष्ट विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। यह यहाँ तत्त्व है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१२ त्वाहौ सौ ।७।२।९४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे ।

अर्थः—सुँ परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (म् भी साथ लेना है) क्रमशः त्व, अह आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] त्वाहौ ।१।२। सौ ।७।१। समासः—त्वश्च अहश्च = त्वाहौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (मपर्यन्तस्य = मपर्यन्तयोः) 'म्' तक (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (त्वाहौ) क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं।

युष्मद् में युष्म् और अस्मद् में अस्म् ये मपर्यन्त भाग हैं। सुँ परे होने पर इन के स्थान पर क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं।

युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्—यहां सुँ के स्थान पर हुए अम् आदेश को सुँ मान कर प्रकृतसूत्र से क्रमशः मपर्यन्त त्व और अह आदेश करने से—त्व अद् + अम्, अह अद् + अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१३ शेषे लोपः ।७।२।९०॥

एतयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् ॥

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् की टि का लोप हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तात् ।५।१। ['मपर्यन्तस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] शेषे ।७।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तात्) मपर्यन्त भाग से आगे (शेषे) शेष भाग में (लोपः) लोप प्रवृत्त होता है।

मपर्यन्त भाग से आगे शेष भाग 'अद्' होता है। इस के लोप का इस सूत्र से विधान किया गया है। यह 'अद्' भाग युष्मद् और अस्मद् का 'टि' भाग ही होता है अतः वृत्ति में टि के लोप का कथन किया गया है।

सावधानता—यहां यह नहीं समझना चाहिये कि युष्मद् और अस्मद् शब्द में आदेशों से अवशिष्ट शेष भाग का लोप होता है। यथा यहां त्व और अह आदेश हो चुकने पर 'अद्' भाग शेष रहता है। यदि ऐसा मानेंगे तो यहां तो कार्य चल जायगा, परन्तु

'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' आदियों मे न हो सकेगा। क्योकि वहा 'युष्मद् अस्मद्' शब्दो के स्थान पर कुछ आदेश नही होता। अत यहा 'म्पर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति ला कर म् से आग के भाग को शेष समझना चाहिये।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ भी होता है और कहीं २ लघुकौमुदी मे वह उपलब्ध भी होता है। वह यह है —

"आत्व यत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोप स्यात्।"

अर्थ —जिस विभक्ति के परे होने पर आत्व और यत्व विधान नही होते, उस विभक्ति के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य अर्थात् दकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या— अष्टन आ विभक्तौ से विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ जाने से इस अर्थ की उत्पत्ति इस प्रकार से होती है—(शेषे) शेष (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह लोप अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

इस सूत्र से पूर्व 'युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१) सूत्र द्वारा अनादेश हलादि विभक्तियो के परे होने पर आत्व तथा 'योऽचि' (३२०) सूत्र से अनादेश अजादि विभक्तियो के परे होने पर यत्व का विधान किया जाता है। यदि यत्व और आत्व निमित्तक विभक्तियो से भिन्न अन्य शेष विभक्तिया परे हो तो दकार का लोप हो जाता है। काशिकाकार ने उन सब शेष विभक्तियां की गणना एक श्लोक मे कर दी है जिन मे आत्व और यत्व प्रवृत्त नहीं हो सकते। तथाहि—

"पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठीप्रथमयोरपि।
यान्यद्विवचनान्यत्र, तेषु लोपो विधीयते॥"

अर्थात् पञ्चमी, चतुर्थी षष्ठी तथा प्रथमा विभक्तियों के एकवचन और बहुवचन शेषविभक्तिया हैं। इनके परे होने पर 'शेषे लोप' से युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य दकार का लोप हो जाता है।

त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्—यहा शेषे लोप' से टि अर्थात् अद् का लोप हो कर—त्व+अम्, अह+अम्। पुन 'अमि पूर्व' (१३५) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश करने से 'त्वम् अहम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अन्त्यलोप वाले पक्ष में—'त्व अद्+अम् अह अद्+अम्' यहा प्रथम 'अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश होकर त्वद्+अम्, अहद्+अम्'। अब 'शेषे लोप

से अन्त्य दकार का लोप कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप किया तो— त्वम्, अहम् प्रयोग सिद्ध हुए।

युष्मद् + औ, अस्मद् + औ—यहाँ 'प्रथमयोश्च' (३११) सूत्र से औकार को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद् + अम्, अस्मद + अम्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१४ युवावौ द्विवचने ।७।२।९२॥

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थ—विभक्ति परे होने पर द्वित्वकथन में युष्मद और अस्मद को मपर्यन्त क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [अधिकृत है।] युवावौ ।१।२। द्विवचने ।७।१। समास—द्वयोर् वचनम् कथनम् = द्विवचनम्, तस्मिन् = द्विवचने। षष्ठीतत्पुरुष। यहाँ 'द्विवचने' का 'विभक्तौ' के साथ समानाधिकरण कर लेने से 'द्विवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो महामुनि 'द्विवचने' न कहकर 'द्वित्वे' ही कह देते। उनके 'द्वित्वे' न कहकर 'द्विवचने' कथन का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन, बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो द्वित्वकथन में युष्मद और अस्मद् को मपर्यन्त युव, आव आदेश हो जाते हैं। यथा—युवाम् अतिक्रान्त = अतियुवाम्, आवाम् अतिक्रान्त = अत्यावाम्। यहाँ सुँ परे होने पर भी युव और आव आदेश हो जाते हैं। यहाँ का विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें। अर्थ—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (द्विवचने) द्वित्वकथन में (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मपर्यन्त भाग को (युवावौ) क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्—यहाँ द्वित्वकथन में 'युवावौ द्विवचने' (३१४) सूत्र द्वारा मपर्यन्त क्रमशः युव, आव आदेश करने पर—युव अद् + अम्, आव अद् + अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१५ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ।७।२।८८॥

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

अर्थ —लोक म प्रथमा का द्विवचन परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को आकार आ-श हो जाता है।

व्याख्या—प्रथमाया ।६।१। च इ य ययपदम् । द्विवचने ।७।१। भाषायाम् ।७।१। युष्मदस्मदो ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे से] आ ।१।१ ['अष्टन आ विभक्तौ' से] अथ —(भाषायाम्) लोक म (प्रथमाया) प्रथमाविभक्ति क (द्विवचने) द्विवचन पर होन पर (च) भी (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (आ) आकार आ-श हो जाता है। अलोऽ यविधि से यह आ-श अ त्य अल् –दकार के स्थान पर होता है।

युव अद् + अम्, आव अद् + अम् - यहा दकार को प्रकृतसूत्र से आकार आदश होकर 'युव अ आ + अम्, आव अ आ + अम्' हुआ। अब अतो गुण' (२७४) स पररूप 'अक सवण दीघ' (४२) स सवणदीघ और अमि पूव' (१३५) से पूवरूप करने पर—'युवाम्, आवाम् प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद् + जस्, अस्मद् + जस्—यहा ङे प्रथमयोरम्' (३११) से जस् को अम् आदश हो जाता है। 'युष्मद् + अम्, अस्मद + अम् इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१६ यूयवयौ जसि ।७।२।९३॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि । यूयम् । वयम् ।

अर्थ —जस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपयन्त क्रमश यूय और वय आदश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदा ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादशे' से] मपयन्तस्य ।६।१ [यह अधिकृत है।] यूयवयौ ।१।२। जसि ।७।१। अथ —(जसि) जस् परे होने पर (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपय-तस्य) मपयन्त भाग के स्थान पर (यूयवयौ) यूय और वय आदेश होते हैं।

'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्' यहा अम् को जस् मान कर उसके परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा मपयन्त क्रमश यूय और वय आदेश हो— यूय अद् + अम्, वय अद् + अम्'। अब 'शेषे लोप' (३१३) से टिलोप तथा 'अमि पूव' (१३५) स पूवरूप करने पर—'यूयम्, वयम्' प्रयोग सिद्ध हाते हैं। अन्त्यलोपपक्ष मे 'अतो गुणे' (२७४) स पररूप हो 'शेषे लोप' (३१३) से अन्त्य दकार का लोप हो जाने पर 'अमि पूर्व' (१३५) द्वारा पूर्वरूप हो जाता है—यूयम्, वयम्।

द्वितीया के एकवचन में—'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। यहाँ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१७ त्वमावेकवचने ।७।२।६७।।

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थ—विभक्ति परे होने पर एकवचन में युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त को त्व और म आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। [अष्टन आ विभक्तौ से] युष्मदस्मदो ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] त्वमौ ।१।२। एकवचने ।७।१। समास—एकस्य वचनम्—कथनम् = एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने। षष्ठीतत्पुरुषसमास। यहाँ एकवचने का विभक्तौ के साथ समानाधिकरण कर एकवचन विभक्ति परे होने पर ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि तब महामुनि 'एकवचने' न कह कर 'एकत्वे' ऐसा कह देते। अतः यहाँ एकवचने कहने का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन व बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो युष्मद् और अस्मद् को एकत्व कथन में मपर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते हैं। यथा—त्वाम् अतिक्रान्तौ = अतित्वाम्, माम् अतिक्रान्तौ = अतिमाम्। यहाँ द्विवचन परे होने पर भी युष्मद् और अस्मद् के एकार्थवाची होने से त्व, म आदेश हो जाते हैं। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहाँ क्रमशः मपर्यन्त त्व, म' आदेश होकर—त्व अद्+अम्, म अद्+अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१८ द्वितीयायाञ्च ।७।२।८७।।

अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों का आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदो ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] द्वितीयायाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थ—(द्वितीयायाम्) द्वितीया विभक्ति परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश अन्त्य दकार के स्थान पर होता है।

'त्व अद्+अम्, म अद+अम्' यहां प्रकृतसूत्र से दकार को आकार आदेश हो त्व अ आ+अम् म अ आ+अम्'। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्व' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'त्वाम्, माम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद+औट, अस्मद्+औट--यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) सूत्र से अम् आदेश होकर—'युष्मद्+अम् अस्मद्+अम्'। 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त युव और आव हो—'युव अद्+अम् आव अद्+अम्'। अब 'द्वितीयायाच' (३१८) से दकार को आकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्व' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सूचना—प्रथमा विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' मे तथा द्वितीया विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' म आकारविधायक सूत्र का भेद है। प्रथमा में 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (३१५) द्वारा तथा द्वितीया मे 'द्वितीयायाञ्च (३१८) से आकार आदेश होता है।

युष्मद+शस्, अस्मद्+शस् यहां अनुबन्ध शकार का लोप होकर 'युष्मद्+अस् अस्मद्+अस्'। अब इस अवस्था मे 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) द्वारा अम् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१६ शसो न।७।१।२६॥

आभ्यां शसो न स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः। युष्मान्, अस्मान्।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे शस् के स्थान पर नकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम्।५।२।['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] शसः।६।१। न।१।१।[यहां विभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] अर्थ—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (शसः) शस् के स्थान पर (न) न् आदेश हो जाता है।

अम् आदेश के प्राप्त होने पर यह आदेश विधान किया गया है अतः यह उसका अपवाद है।

यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् अर्थात् सकार के स्थान पर

प्राप्त होता था, परन्तु 'आदे परस्य' (७२) से उसका बाध हो शस्=अस् के आदि अर्थात् अकार के स्थान पर होता है।

'युष्मद्+अस् अस्मद्+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से अकार को नकार आदेश हो 'युष्मद्+न् स्, अस्मद्+न् स्'। अब 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) सूत्र से दकार को आकार तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो— युष्मान्स्, अस्मान्स्। पुनः 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से सकार का लोप करने पर—'युष्मान्, अस्मान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'न लोपः—' (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता किञ्च 'युष्मान् स अट्कु—' (१३८) द्वारा प्राप्त णत्व का भी 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है।

युष्मद्+आ (टा), अस्मद्+आ (टा)—यहां एकवचन होने के कारण 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त त्व और म आदेश हो— त्व अद्+आ म अद्+आ हुए। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२० योऽचि ।७।२।८९॥

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

अर्थः—अनादेश अजादि विभक्ति पर होने पर युष्मद् और अस्मद् का यकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] यः ।१।१। अनादेशे ।७।१। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'अचि' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादि विधि होकर 'अजादौ विभक्तौ' ऐसा बन जाता है। अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों को (यः) य् आदेश हो जाता है।

जिन अजादि विभक्तियों के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता वे अनादेश अजादि विभक्तियां कहाती हैं। उनके परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को य् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'त्व अद्+आ, म अद्+आ' यहां 'आ' यह अनादेश अजादि विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को यकार आदेश होकर 'अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप करने पर—त्वय्+आ='त्वया', मय्+आ='मया' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'अनादेश' कथन के कारण 'युष्मत्, अस्मत्' आदि रूपों में यकारादेश नहीं होता।

क्योंकि यहां पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर 'पञ्चम्या अत्' (३२५) द्वारा 'अत्' यह अजादि आदेश हुआ है ।

युष्मद् + भ्याम्, अस्मद् + भ्याम्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से क्रमशः मपर्यन्त युव और आव आदेश होकर 'युव अद् + भ्याम्, आव अद् + भ्याम्' । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२१ युष्मदस्मदोरनादेशे ।७।२।८६।।

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

अर्थः—अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। अनादेशे ।७।१। हलि ।७।१। ['रायो हलि' से] विभक्तौ ।७।१। आ ।१।१। [अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (हलि = हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है । यह आकार आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है ।

'युव अद् + भ्याम्, आव अद् + भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह अनादेश हलादि विभक्ति परे है अतः दकार को आकार होकर पररूप तथा सवर्णदीर्घ करने से—'युवाभ्याम्, आवाभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

अनादेश के फलस्वरूप 'युष्मभ्यम्' में 'भ्यम्' पक्ष में यह आ—आदेश नहीं होगा ।

'युष्मद् + भिस्, अस्मद् + भिस्' यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा सवर्णदीर्घ होकर 'युष्माभिः, अस्माभिः' प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

'युष्मद् + ङे, अस्मद् + ङे' यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) से अम् आदेश होकर 'युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्' । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२२ तुभ्यमह्यौ ङयि ।७।२।९५।।

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

अर्थः—'ङ' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः मपर्यन्त तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तुभ्यमह्यौ ।१।२। ङयि ।७।१। अर्थः—(ङयि) ङे परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तुभ्यमह्यौ) तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं ।

युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम् यहां स्थानिवद्भाव से अम् को ङे मानकर प्रकृतसूत्र से तुभ्य और मह्य आदेश होकर 'तुभ्य अद्+अम्, मह्य अद्+अम्' अत्र टिलोपपक्ष में 'शेषे लोपः' (३१८) से अद् का लोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'तुभ्यम्, मह्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । अन्त्यलोपपक्ष में 'प्रथम अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर पुनः 'शेषे लोपः' (३१८) से दकारलोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—तुभ्यम्, मह्यम् प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२३ भ्यसोऽभ्यम् ।७।१।३०॥

आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] भ्यसः ।६।१। अभ्यम् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अभ्यम्) अभ्यम् आदेश हो जाता है ।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां भ्यस् को अभ्यम् आदेश होकर टिलोप* करने से 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

ध्यान रहे कि 'शेषे लोपः' (३१८) में अन्त्यलोप मानने वाले 'भ्यसो भ्यम्' इस प्रकार सूत्र पढ़ कर उस का 'भ्यस् के स्थान पर भ्यम् हो' ऐसा अर्थ करते हैं । अतः उनके मत में भी यथेष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

'युष्मद्+ङसि, अस्मद्+ङसि' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२४ एकवचनस्य च ।७।१।३२॥

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ।

---

*यहां अनादेश अजादि विभक्ति न होने से (३२०) सूत्र से यकारादेश नहीं होता । एवम्—'भ्यम्' पक्ष में भी (३२१) से आकारादेश की अप्रवृत्ति जाननी चाहिये ।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङसि का 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। [पञ्चम्या अत्' से] एकवचनस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अत् ।१।१। ['पञ्चम्या अत्' से] अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर (च) भी (अत्) 'अत्' यह आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+ङसि अस्मद्+ङसि' यहां प्रकृतसूत्र से अत् आदेश (ध्यान रहे कि अत् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है) होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्'। 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त 'त्व म' होकर—'त्व अद्+अत्, म अद्+अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'त्वत्, मत्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में 'अतो गुणे' से पररूप 'शेषे लोपः' से दकारलोप तथा पुनः पररूप करने पर 'त्वत् मत्' रूप सिद्ध होते हैं।

सूचना—'अत्' आदेश में 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तकार की इत्संज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध करता है।

युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां 'भ्यसोऽभ्यम्' (३२३) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२५ पञ्चम्या अत् ।७।१।३१॥

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। भ्यसः ।६।१। ['भ्यसोऽभ्यम्' से] अत् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां प्रकृतसूत्र से पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप होकर 'युष्म्+अत्=युष्मत्, अस्म्+अत्=अस्मत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में अन्त्य दकार का लोप होकर पररूप करने से—'युष्मत्, अस्मत्' सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+ङस् अस्मद्+ङस्' यहां 'त्वमावेकवचने' (३१७) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२६ तवममौ ङसि ।७।२।९६॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि ।

अर्थ —ङस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त को क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] तवममौ ।१।२। ङसि ।७।१। अर्थ —(ङसि) ङस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तवममौ) तव और मम आदेश होते हैं।

युष्मद्+ङस्, अस्मद्+ङस् यहां प्रकृतसूत्र से मपर्यन्त को 'तव, मम' आदेश करने पर—तव अद्+ङस् मम अद्+ङस्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२७ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ।७।१।२७॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात् । तव । मम । युवयोः । आवयोः ।

अर्थ —युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङस् के स्थान पर 'अश्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ङसः ।६।१। अश् ।१।१। अर्थ —(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङसः) ङस् के स्थान पर (अश्) अश् आदेश हो जाता है। 'अश्' आदेश शित् होने से 'आदेः परस्य' को बाध कर सर्वादेश होता है।

'तव अद्+ङस् मम अद्+ङस्' यहां अश् आदेश होकर—तव अद्+अ (अश्), मम अद्+अ (अश्)'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से अद् का लोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से—'तव, मम' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में भी दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने से रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'युष्मद्+ओस्, अस्मद्+ओस्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त

क्रमश युव, आव होकर— युव अद्+ओस्, आव अद्+ओस्'। 'योऽचि (३२०) से दकार को यकारादेश होकर— युव अय्+ओस्, आव अय्+ओस्'। 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'युवयो, आवयो' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+आम्, अस्मद्+आम्' अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२८ साम आकम् ।७।१।३३।।

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयो। आवयो। युष्मासु। अस्मासु।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् को आकम् आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। [युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से] साम ।६।१। आकम् ।१।१। अर्थ—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (साम) साम् के स्थान पर (आकम्) आकम् आदेश हो।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अवर्णान्त न होने से इनसे परे आम् को 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् न हो सकने के कारण जब साम् ही नहीं होता तो पुन उसके स्थान पर आकम् आदेश कैसे सम्भव हो सकता है? यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि यहां 'साम्' निर्देश भावी (आगामी=आगे होने वाले) 'सुट्' की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् आकम् आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में 'शेषे लोप' (३१३) सूत्र से जब अन्त्य दकार का लोप हो जाता है तब युष्मद् अस्मद् के अदन्त हो जाने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) सूत्र से जो 'सुट्' का आगम प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिये यहां 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश कर रहे हैं। इससे 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष में अवर्णान्त हो जाने पर भी सुट् का आगम नहीं होता।

बालोपयोगी सार यह है कि यह सूत्र दो कार्य करता है। एक तो यह आम् के स्थान पर आकम् आदेश करता है। दूसरा यह दकारलोप हो जाने पर प्राप्त सुडागम का निषेध करता है।

'युष्मद्+आम्, अस्मद्+आम्' यहां 'साम आकम्' सूत्र से आम् को आकम् करने पर—युष्मद्+आकम्, अस्मद्+आकम्। अब अन्त्यलोपपक्ष में 'शेषे लोप' (३१३) से दकार का लोप होकर सवर्णदीर्घ करने पर 'युष्माकम्, अस्माकम्' ये रूप सिद्ध होते हैं। टिलोपपक्ष में भी 'शेषे लोप' से टि=अद् का लोप होकर—'युष्म्+

आकम् = युष्माकम् अस्म् + आकम् = अस्माकम्' सिद्ध हो जाते हैं।

सूचना—यदि आकम् की बजाय अकम् इस प्रकार कहा होता तो अन्य लोपपक्ष में शेष लोप से दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने पर युष्मकम् अस्मकम् इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाते। अतः आकम् आदेश ही युक्त है।

युष्मद् + ङि अस्मद् ङि यहां ङकार अनुबन्ध का लोप होकर 'त्वमा वेकवचने' (३१७) से क्रमशः मपर्यन्त त्व और म आदेश करने से— त्व अद + इ म अद—इ। 'योऽचि' (२७०) से दकार को यकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश होकर त्वयि, मयि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद् + सु (सुप्) अस्मद् + सु (सुप्) यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) से दकार को आकार होकर सवर्णदीर्घ करने से 'युष्मासु अस्मासु' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

—:०:—

अब युष्मद् अस्मद् विषयक सूत्रों पर कुछ अत्यन्त उपयोगी नोट लिखे जाते हैं। इनसे निश्चय ही बालकों को अपूर्व लाभ होगा। ध्यान देकर पढ़ें—

१ (मपर्यन्त आदेशों के विषय में)

(क)—एकवचन में—सु और अम् को छोड़कर अन्य सब स्थानों में 'त्वमावेक वचने' (३१७) प्रवृत्त हो जाता है। सु में 'त्वाहौ सौ' (३१४) से, ङे में 'तुभ्यमह्यौ ङयि' (३२२) से, ङस् में 'तवममौ ङसि' (३२६) अपवाद हैं। तथाहि—

ङस सु ङेविभक्तिश्च विनैकवचने सदा।
एकोक्तौ तु त्वमादेशौ मपर्यन्ताविती रितौ ॥१॥
तुभ्यमह्यौ ङयि स्याता त्वाहौ सौ मुनिचोदितौ।
ङस्यादेशौ तथा ख्यातौ तवेति च ममेत्यपि ॥२॥

(ख)—द्विवचनों में सर्वत्र मपर्यन्त युव आव आदेश होते हैं। इनका कोई अपवाद नहीं। तथाहि—

अपवाद विनादेशौ युवावौ भवतः सदा।

(ग)—बहुवचन में जस् को छोड़कर अन्य कहीं भी मपर्यन्त आदेश नहीं होता। जस् में 'यूयवयौ जसि' से यूय, वय आदेश होते हैं। तथाहि—

जसमेकम्परित्यज्य आदेशो भूम्नि नो भवेत्।

जसि यूयवयादेशौ मपर्यन्ताविती रितौ ॥

—ॐ—

२ (विभक्तिस्थानिक आदेशों के विषय में)

शस त्यक्त्वा द्वितीयाया प्रथमायास्तथैव ङे ।
अमादेशो बुधैः प्रोक्तः शसोऽकारस्य न स्मृत ॥१॥
साम आक ङसोऽश्प्रोक्तोऽत् पञ्चम्येकबहुत्वयो ।
ऋत एभ्यो न चादेशो विभक्तीना क्वचिद्भवेत् ॥२॥

अर्थ —शस् को छोडकर द्वितीया के तथा प्रथमा और ङे के स्थान पर अम् आदेश हो जाता है। शस के अकार को नकार आदेश होता है ॥१॥ साम् (आम्) को आकम्, ङस् का अश पञ्चमी के एकवचन और बहुवचन का अत् आदेश होता है। इन आदेशों के बिना अन्य किसी विभक्ति के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता ॥२॥

—ॐ—

३ (आत्व और यत्व के विषय मे)

(क)— सुपि चौङि भिसि भ्यामि द्वितीयाया तथैव च ।
आत्वमेषु दकारस्य त्रिभि सूत्रैर्मुनीरितै ॥

अर्थ —प्रथमा के द्विवचन (औ), द्वितीया, भ्याम्, भिस् तथा सुप् मे दकार को आकार हो जाता है। दकार का आकार करने वाले तीन सूत्र हैं—१ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (३१५) २ द्वितीयाया च (३१८) ३ युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१)

(ख)—योऽचिसूत्रेण यादेश आङि ओसि तथैव ङौ ।

अर्थ —आङ् (टा), ओस तथा ङि परे होने पर दकार को यकार आदेश हो जाता है।

—ॐ—

४ ('शेषे लोप' सूत्र के विषय में)

पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र तेषु लोपो विधीयते ॥

अर्थ —पञ्चमी चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा के एकवचन और बहुवचन के पर होने पर शेष लोप सूत्र प्रवृत्त हुआ करता है।

—०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२६ युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ।८।१।२०॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ इत्यादेशौ स्तः ।

अर्थ —पद से पर पाद के आदि में न ठहरे हुए षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति से युक्त युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः वाम् नौ आदेश होते हैं।

व्याख्या—पदात् ।५। १। [यह अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः । ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। वान्नावौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [यह अधिकृत है।] समासः -न पादादौ = अपादादौ, प्रसज्यप्रतिषेध । नञ्समास । अर्थ — (पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वान्नावौ) वाम् नौ आदेश हो जाते हैं। (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र केवल षष्ठ्यादि के द्विवचन में ही प्रवृत्त होता है एकवचन व बहुवचन में नहीं। एकवचन और बहुवचन में अग्रिम तीन सूत्र इसके अपवाद हैं। सूत्र के उदाहरण यथा—

द्वितीया—लोको वां (युवाम्) पश्यति। लोको नौ (आवाम्) पश्यति।
चतुर्थी—ईशो वां (युवाभ्याम्) ददाति। ईशो नौ (आवाभ्याम्) ददाति।
षष्ठी—धनमिदं वाम् (युवयोः) अस्ति। धनमिदं नौ (आवयोः) अस्ति।

यहां कोष्ठ में लिखे शब्दों के स्थान पर वाम्, नौ आदेश हुए हैं।

'पद से परे' इसलिए कहा गया है कि—युवामीशो रक्षतु। आवां तुष्टस्तुदति। युवाभ्यां माता ददाति। आवाभ्यां माता ददाति। युवयोर्धनमस्ति। आवयोर्धनमस्ति। इत्यादि स्थानों पर आदेश न हों। यहां 'युवाम्' आदि पद से पर नहीं हैं।

'अपादादौ' इसलिए कहा है कि श्लोक के पाद के आदि में युवाम्, आवाम्'

आदि के स्थान पर वाम् नौ आदेश न हो जाए*। यथा—

दयालो! देव! विख्यात! आवयार्हरसि व्यथाम्।
अत शरणमापन्नौ आवां रक्ष निजाङ्कित ॥

यहा 'आवया' और 'आवाम्' के पद से परे होने पर भी पाद के आदि में वर्तमान होने के कारण नौ आदेश प्राप्त नहीं होता।

युष्मदस्मदो षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो म 'स्थ' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि षष्ठयादि विभक्तिय के साथ रहने पर ही 'युष्मद् अस्मद्' शब्दों को 'वाम् नौ' आदेश हो समास में विभक्ति के लुप्त हो जाने पर न हो। यथा—'इमौ युष्मत्पुत्रौ गच्छत। इमावस्मत्पुत्रौ वदत' यहा युवयो पुत्रौ=युष्मत्पुत्रौ, आवयो पुत्रौ=अस्मत्पुत्रौ इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। समास में विभक्ति का लुक् हो जाने से 'वाम्, नौ' आदेश नहीं होते।

अब इस सूत्र के अपवाद आरम्भ किये जाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३० बहुवचनस्य वस्नसौ।८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयो षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्त।

अर्थ—पद से पर, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचनों से युक्त युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रमश वस् नस् आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात्।५।१। [अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो।६।२। [पूर्वसूत्र से] युष्मदस्मदो।६।२। [पूर्वसूत्र से] बहुवचनस्य।६।१। [यह 'युष्मदस्मदो' का विशेषण है, अत विभक्तिविपरिणाम तथा तदन्तविधि से 'बहुवचनान्तयो' बन जाता है।] वस्नसौ।१।२। अपादादौ।७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थ—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया सहित वर्तमान (बहुवचनस्य=बहुवचनान्तयो) बहुवचनान्त (युष्मदस्मदो) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश (वस्नसौ) वस्, नस् आदेश हो जाते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। इसके

---

*यह निषेध श्लोक के द्वितीय तृतीयादि पादों के लिए किया गया है, प्रथम पाद के लिए नहीं। क्योंकि प्रथम पाद में तो 'पदात्' इस अधिकार से ही व्यभिचार निवृत्ति हो सकती थी।

उदाहरण यथा—

षष्ठी—गावो न (युष्माकम्) सन्ति। गावो न (अस्माकम्) सन्ति।

चतुर्थी—गावो वो (युष्मभ्यम्) दीयन्ते। गावो नो (अस्मभ्यम्) दीयन्ते।

द्वितीया—गावो व (युष्मान्) पश्यन्ति। गावो न (अस्मान्) पश्यन्ति।

पद से पर निम्नलिखित उदाहरण— युष्माकं धनमस्ति। २ अस्माकं बलमस्ति। ३ युष्मभ्यं दीयते। ४ अस्मभ्यं दीयते। ५ युष्माकं श्रद्धाऽस्ति। ६ अस्माकं श्रद्धाऽस्ति। इत्यादियों में वस् नस् आदेश न हो।

'अपादादौ' इसलिये कहा गया है कि—

"न शृणोति हितं पापी, युष्माकं वित्तहारकः।"

इत्यादियों में युष्माकम् के स्थान पर वस् आदेश न हो।

'स्थ' ग्रहण का प्रयोजन पूर्ववत्— अयं युष्मत्पुत्रो (युष्माकं पुत्रः) गच्छति, अयम् अस्मत्पुत्रो (अस्माकं पुत्रः) गच्छति' इत्यादियों में वस्, नस् आदेश न करना ही है।

अब वाम्, नौ का दूसरा अपवाद लिखते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३१ तेमयावेकवचनस्य।८।१।२२॥

उक्तविषयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः।

अर्थ—पद से पर पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनों से युक्त, युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'ते मे' आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या— पदात् ।५।१। [अधिकृत है] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोः षष्ठी' से] एकवचनस्य। ६।१। [युष्मदस्मदोः' का विशेषण होने से पूर्ववत् 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है।] तेमयौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [अधिकृत है] अर्थः—(पदात्) पद से परे, (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया के सहित वर्तमान (एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः) एकवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तेमयौ) 'ते, मे' आदेश होते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र 'युष्मदस्मदोः षष्ठी०' (३२९) सूत्र का अपवाद है। इसका भी 'त्वामौ द्वितीयायाः' (३३२) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है। अतः यह सूत्र षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनान्तों में ही प्रवृत्त होता है। ग्रन्थकार ने भी वृत्ति में इसीलिए द्वितीया

का ग्रहण नहीं किया। इसके उदाहरण यथा—

षष्ठी—ईश ! अहं ते (तव) दासोऽस्मि। त्वं मे (मम) दासोऽसि।

चतुर्थी—नमस्ते (तुभ्यम्) ऽस्तु। भोजनं मे (मह्यम्) प्रयच्छतु।

पद से पर इसलिए कहा है कि—तव दास एव जनः। ममास्ति प्रयोजनम्। तुभ्यं धनं दास्यामि। मह्यम् मोदकम् रोचते। इत्यादियों में 'ते मे' आदेश न हो जाए।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि —

"पुरा पश्यन्नरो मूर्खः, तव कार्यं करिष्यति" इत्यादि में आदेश नहीं जाय।

अब इस सूत्र के अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३२ त्वामौ द्वितीयायाः ।८।१।२३॥

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः ॥

अर्थः—पद से पर, पाद के आदि में न ठहरे हुए, द्वितीया के एकवचन से युक्त युष्मद्, अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'त्वा मा' आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात्।५।१। [अधिकृत है।] द्वितीयायाः ।६।१। एकवचनस्य।६।१। [तेमयावेकवचनस्य से। 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः विभक्ति विपरिणाम तथा तदन्तविधि होकर 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है।] युष्मदस्मदोः। ६।२। [युष्मदस्मदोः षष्ठी' से] त्वामौ।१।२। अपादादौ।७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थः—(पदात्) पद से पर (द्वितीयायाः) द्वितीया के (एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः) एकवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (त्वामौ) त्वा मा आदेश हो जाते हैं (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र तेमयावेकवचनस्य' (३३१) सूत्र का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

लोकस्त्वा (त्वाम्) पश्यति। लोको मा (माम्) पश्यति।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—"त्वा लोकाः पश्यन्ति। मा लोकाः पश्यन्ति" इत्यादियों में त्वा मा' आदेश न हो।

अपादादौ' इसलिये कहा है कि—"स जगद्रक्षको त्वां मां सदा पालयिष्यति" इत्यादियों में आदेश न हो।

अब ग्रन्थकार इन सब सूत्रों के उदाहरण दो श्लोकों में दर्शाते हैं—

[लघु०] श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वाम् अपि नौ विभुः ॥१॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वाम् अपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् वो नः, शिवं वो नो दद्यात्, सेव्योऽत्र वः स नः ॥२॥

अर्थ—(इह) इस लोक में (श्रीशः) भगवान् विष्णु (त्वा = त्वाम्) तुझे (अपि) तथा (मा = माम्) मुझे (अवतु) बचावें। (सः) वह भगवान् विष्णु (ते = तुभ्यम्) तेरे लिये (अपि) तथा (मे = मह्यम्) मेरे लिये (शर्म) कल्याण को (दत्तात्) दें। (सः) वह (हरिः) भगवान् विष्णु (ते = तव) तेरा (अपि) तथा (मे = मम) मेरा (स्वामी) स्वामी है। (विभुः) सर्वव्यापक हरि (वाम् = युवाम्) तुम दोनों को (अपि) तथा (नौ = आवाम्) हम दोनों को (पातु) बचावें ॥१॥ (ईशः) भगवान् (वाम् = युवाभ्याम्) तुम दोनों के लिये तथा (नौ = आवाभ्याम्) हम दोनों के लिये (सुखम्) सुख (ददातु) दें। (हरिः) श्रीविष्णु (वाम् = युवयोः) तुम दोनों का (अपि) तथा (नौ = आवयोः) हम दोनों का (पतिः) पति है। (सः) वह भगवान् विष्णु (वः = युष्मान्) तुम सबको तथा (नः = अस्मान्) हम सबको (अव्यात्) बचावें। (सः) वह जगत्प्रसिद्ध विष्णु (वः = युष्मभ्यम्) तुम सबके लिये तथा (नः = अस्मभ्यम्) हम सबके लिये (शिवम्) कल्याण (दद्यात्) प्रदान करें। (सः) वह विष्णु (वः = युष्माकम्) तुम सबका तथा (नः = अस्माकम्) हम सबका (सेव्यः) सेवनीय है।

व्याख्या—यहाँ पहले द्वितीया चतुर्थी तथा षष्ठी के एकवचन का पाठ, द्विवचन का तदनन्तर बहुवचन का उदाहरण दिया गया है। हमने अर्थ करते समय कोष्ठ में स्पष्ट कर दिया है।

[लघु०] वा०—(२६) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ।
एकतिङ् वाक्यम् । तेनेह न—ओदनं पच तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनान्ते ओदनं दास्यामि ॥

अर्थ—युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले वम्, नौ आदि आदेश समानवाक्य अर्थात् एक वाक्य में होते हैं। एकतिङ् इति—एक तिङन्त वाला वाक्य कहाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त वाम्, नौ' आदि आदेश समान वाक्य मे प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् इन सूत्रो के विषय में निमित्त और निमित्ती का एक ही वाक्य मे वर्त्तमान होना आवश्यक है। पद से पर 'वाम् नौ' आदि आदेशो का विधान है। यहा पद निमित्त तथा वाम् नौ' आदि आदेश निमित्ती है। यदि निमित्त अन्य वाक्य में तथा निमित्ती अन्य वाक्य मे स्थित होगा तो ये आदेश न होंगे।

इस वार्त्तिक के उदाहरण देने से पूर्व वाक्य क्या होता है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये वाक्य का लक्षण करते हैं— एकतिङ् वाक्यम्"। एक = मुख्य तिङ् = तिङन्तो यस्य यस्मिन् वा स एकतिङ्। जिसमे एक तिङन्त मुख्य व विशेष्य ❀ हो—उसे वाक्य' कहते हैं।

अब वार्त्तिक का प्रयोजन दिखाते हुए प्रत्युदाहरण देते हैं—

ओदन पच तव भविष्यति'। यहा एक वाक्य नही दो वाक्य है। ओदन पच' यह पहला वाक्य तथा 'तव भविष्यति यह दूसरा वाक्य है। यहा दूसरे वाक्य मे स्थित तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं होता, क्योंकि उसका निमित्त पद (पच) एक वाक्य मे स्थित नहीं।

'शालीना ते ओदन दास्यामि" यहा 'शालीनाम् यह निमित्त एक वाक्य मे स्थित है अत इससे परे 'तुभ्यम्' के स्थान पर ते आदेश हो जाता है।

[लघु०] वा०—(२७) एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्या । धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्तीति वा । अन्वादेशे तु नित्य स्यु —तस्मै ते नम इत्येव ।

अर्थ—अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश विकल्प से होते हैं। [तात्पर्य यह है कि अन्वादेश मे नित्य होते हैं।]

व्याख्या— किसी कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुन दूसरे कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण अन्वादेश कहाता है' यह हम पीछे 'इदम् शब्द पर स्पष्ट कर चुके हैं। जहा अन्वादेश न होगा वहा पूर्वोक्त 'वाम् नौ, वस्, नस, ते, मे त्वा मा आदेश विकल्प से प्रवृत्त होगे। जहा अन्वादेश होगा वहा नित्य होंगे। यथा—

❀ 'विशेष्य' के कथन से—' पश्य मृगस्ते धावति" (अपने दौडते हुए मृग को देखो) इत्यादि दो तिङन्ता वाले भी वाक्य हो जाते है। इनमे भी 'पश्य' इस एक तिङन्त की ही विशेष्यता है।

'धाता ते भक्तोऽस्ति । धाता तव भक्तोऽस्ति ।' यहां अन्वादेश न होने से 'तव' को 'ते' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होता है ।

'योऽग्निहृव्यवाट् तस्मै ते नमः ।' इत्यादि वाक्यों में अन्वादेश होने से तुभ्यम् के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश होता है ।

इति दान्तेषु युष्मदस्मत्प्रकरणम् ।

— —

[लघु०] सुपात्, सुपाद् । सुपादौ ।

व्याख्या—सु=शोभनौ पादौ यस्य स=सुपात् । बहुव्रीहिसमास । सङ्ख्या-सुपूर्वस्य (५ । ४ । १४०) इति पादस्यान्त्यलोपः समासान्तः । सुन्दर पैरों वाले को 'सुपाद्' कहते हैं ।

सुपाद्+स् (सुँ)=सुपाद् [हल्ङ्याब्भ्यो— (१७९)]=सुपात्—द् ['वाऽवसाने (१४६)] । सुपाद्+औ=सुपादौ । सुपादः । सुपाद्+अस् (शस्) । अब यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३३ पादः पत् ।६।४।१३०।।

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात् । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् ।।

अर्थः— पाद् शब्दान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है ।

व्याख्या—पादः । ६ । १ । [यह अङ्गस्य का विशेषण है अतः इससे तदन्त विधि होकर पादन्तस्य बन जाता है ।] भस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अङ्गस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] पत् । १ । १ । अर्थः—(पादः=पादन्तस्य] 'पाद्' अन्त वाले (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (पत्) पद् आदेश हो जाता है ।

'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (पृष्ठ २३४) इस पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'पाद्' के स्थान पर ही पद् आदेश होगा ।

सुपाद्+अस् (शस्) । यचि भम् (१६५) के अनुसार 'सुपाद्' की भसञ्ज्ञा है । इसके अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होकर—सुपद्+अस्

=सुपद् । इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी समझ लेना चाहिये । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सुपात्-द्	सुपादौ	सुपादः	पं०	सुपदः ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्यः
द्वि०	सुपादम्	,,	सुपदः ×	ष०	,, ×	सुपदोः ×	सुपदाम् ×
तृ०	सुपदा ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भिः	स०	सुपदि ×	,, ×	सुपात्सु †
च०	सुपदे ×	,,	सुपाद्भ्यः	सं०	हे सुपत्-द् !	हे सुपादौ !	हे सुपादः !

× सर्वत्र 'पादः पत्' (३३३) से पद् आदेश होता है ।

† 'खरि च' (७४) से चर्त्व-तकार हो जाता है ।

इसी प्रकार—द्विपाद्, त्रिपाद् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं ।

अभ्यास (४१)

(१) 'शेषे लोपः' सूत्र की व्याख्या करते हुए दोनों प्रकार का अर्थ सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) 'युष्मद्, अस्मद्' शब्द अवर्णान्त नहीं होते अतः 'सुट्' का आगम स्वतः ही प्राप्त नहीं हो सकता तो पुनः 'साम आकम्' में ससुट् निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(३) किस किस विभक्ति में 'शेषे लोपः' सूत्र की प्रवृत्ति होती है ?

(४) 'शसो न' द्वारा होने वाला नकारादेश किसके स्थान पर होता है ? सप्रमाण लिखो।

(५) 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' में 'योऽचि' द्वारा यकारादेश क्यों नहीं होता ?

(६) वाम्, नौ आदेशों के कौन २ अपवाद हैं ससूत्र सोदाहरण लिखो ।

(७) 'ङे प्रथमयोरम्' सूत्र के अर्थ में 'द्वितीया' विभक्ति का कहां से ग्रहण हो जाता है ?

(८) 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के दो प्रकार के अर्थों का विवेचन करते हुए उनका पृथक् २ प्रयोजन लिखो।

(९) { अकाये कार्यवच्छ्रासन्मम कार्ये न युज्यते ।
न शृणोति महामूर्खो युष्माकं वित्तहारकः ॥" }

यहां पर 'मम' और 'युष्माकम्' के स्थान पर क्या कोई आदेश हो सकता है ? सप्रमाण लिखो ।

(१०) 'युवावौ द्विवचने' और 'त्वमावेकवचने' सूत्रों की व्याख्या करते हुए रेखाङ्कित पदों का विशेष स्पष्टीकरण करो ।

(११) "एष, त्वम्, युष्माकम्, त्वयि, अस्मान्, आवाभ्याम्, सुपदः, त्वत्, मम, माम्, एनयोः, एतेषाम्, तस्मिन्, यस्मै, आवयोः"—इन रूपों की ससूत्र साधन-प्रक्रिया लिखो ।

(१२) अधोलिखित सूत्रों का व्याख्या करो—

१ पाद पत्। २ योऽचि। ३ द्वितीयायाञ्च। ४ वाहा सा। ५ तवा स साव नन्त्ययो। ६ समानवाक्य युष्मदस्मदाञ्शा वक्त या।

(१३) एसा शब्द बताओ जिसके नाना भ्यसा तथा दोनो 'आ म रूप का वा सिद्धि का भेद पडा हो।

यहा दकारान्त पुल्ँलिंग समाप्त होत है।

— —

अब थकारान्त पुल्ँलिङ्ग का वणन करते ह—

[लघु०] अग्निमत्, अग्निमद। अग्निमथौ। अग्निमथ॥

व्याख्या—अग्नि मथ्नातीति—अग्निमत्। अग्नि कर्मोपपदाद् मन्थ विलोडन' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् क्विपि अनिन्दिता हल उपधाया क्ङिति' (३२४) इति नलोपे अग्निमथ् इतिशब्द सिध्यति।।

'अग्निमथ् शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अग्निमत, द् +	अग्निमथौ	अग्निमथ	प०	अग्निमथ	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भ्य
द्वि०	अग्निमथम्	,,	,,	ष०	,,	अग्निमथो	अग्निमथाम्
तृ०	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम् *	अग्निमद्भि	स०	अग्निमथि	,,	अग्निम सु†
च०	अग्निमथे	,,	अग्निमद्भ्य	स०	अग्निमत् द्।	हे अग्निमथौ।	हे अग्निमथ।

+ हल्ङ्याब्भ्य—(१७१), झला जशोऽन्ते (६७) वाऽवसाने (१४६)।

* झला जशोऽन्ते (६७)। झला जशोऽन्ते, खरि च (७४)

यहा थकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होत हैं।

———

अब चकारान्त पुल्ँलिङ्गों का वणन करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२४ अनिदिता हल उपधाया क्ङिति ।६।४।२४॥

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोप किति ङिति।

† इदितो मथेस्तु नलोपाभावाद् अग्निमन्, अग्निमन्थावित्यादि।

नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ॥

अर्थः—जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे हलन्त अङ्गों की उपधा के नकार का कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अनिदिताम् ।६।३। हलः ।६।१। ['अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'हलन्तस्य' बन जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] उपधायाः ।६।१। न ।६।१। [श्नान्नलोपः से यहां षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। [श्नान्नलोपः से] क्ङिति ।७।१। समास—इत् (ह्रस्वेकार) इत् (इत्सञ्ज्ञक) येषान्ते=इदितः, बहुव्रीहिसमासः । न इदितः=अनिदितः, तेषाम्=अनिदिताम्, नञ्समासः । क् च ङ् च=क्ङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्=क्ङिति, बहुव्रीहिसमासः । 'अनिदिताम्' इस प्रकार बहुवचननिर्देश करने से 'हलः' और 'अङ्गस्य' दोनों में वचनविपरिणाम अर्थात् बहुवचन हो जाता है । अर्थः—(अनिदिताम्) जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे (हलः=हलन्तानाम्) हलन्त (अङ्गस्य=अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के (न=नस्य) नकार का (लोपः) लोप हो जाता है (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो ।

'प्र' पूर्वक 'अञ्चुँ गतिपूजनयोः' (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहारी लोप हो जाने से—'प्र अञ्च्' । अब यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा कित् क्विन् प्रत्यय को मान कर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३८४) सूत्र से नकार❀ का लोप हो जाने पर 'प्र अच्' हुआ । अब इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा† होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

प्र अच्+स् (सुँ) । 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् का आगम—'प्र अनुम्च्+

/ यहाँ केवल गति अर्थ ही विवक्षित है पूजन अर्थ नहीं । अन्यथा 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) सूत्र से नकारलोप का निषेध हो जायगा । पूजा अर्थ में रूप आगे दर्शाए जावेंगे ।

❀ 'अञ्चु' धातु में ञकार की उत्पत्ति नकार से ही समझनी चाहिये । ['स्तोः श्चुना श्चुः']

†इस प्रकरण में 'प्र अच्, प्रति अच्, सम् अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है । यह सब शसादियों में 'अचः' (३३५) आदि द्वारा अकार लोपादि प्रक्रिया की सुविधा के लिये ही किया गया है ।

स् । उम् अनुबन्ध का लोप होकर प्र अनूच+स् । हल्ङ्याब्भ्यो —' (७६) से सुलोप संयोगान्तस्य लोपः (२) से चकारलोप — प्र अन् । अब क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३ ४) से नासिकास्थानीय नकार के स्थान पर तादृश ङकार होकर—प्र अङ् । अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर प्राङ् प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र अच+औ । उगिदचाम्— (२८) से नुम् आगम उम् अनुबन्ध का लोप नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार के स्थान पर अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) से परसवर्ण ञकार करने पर—प्र अञ्च+औ=प्राञ्चौ। । इसी प्रकार सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में प्रक्रिया होती है।

प्र अच्+अस् (शस्) । अब सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा न होने से उगिदचाम्— (२८६) सूत्र से नुम् आगम नहीं हो सकता। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३५ अचः ।६।४।१३८॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात् ॥

अर्थ —लुप्त नकार वाली अञ्च धातु के भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—अचः । ६ । १ । [यहां 'अच्' से लुप्तनकार वाली अञ्चु धातु का निर्देश किया गया है ।] भस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अत् । ६ । १ । लोपः । १ । १ । [अल्लोपोऽनः से] अर्थः - (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चु धातु के (भस्य) भसञ्ज्ञक (अत्=अतः) अकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'प्र अच्+अस्' । यहां अच् यह लुप्तनकार अञ्चु है यचि भम्' (१६५) से इसकी भसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसके अकार का लोप होकर — प्रच+अस् । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है। —

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३६ चौ ।६।३।१३७॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । प्राचः । प्राचा ।

---

*क्विन् उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम्—' (३३४) द्वारा नकारलोप—इतनी प्रक्रिया स्वयं सब विभक्तियों में जान लेनी चाहिये। हम इसे बार बार नहीं लिखेंगे।

† नस्य श्चुत्वं तु न भवति, अनुस्वारं प्रति श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्

प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीच । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ॥

अर्थ —लुप्त अकार नकार वाली अञ्चु' धातु के परे होने पर पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—चौ । ७ । १ [यहा चु से लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चु' धातु का ग्रहण होता है ।] पूर्वस्य । ६ । १ । अण । ६ । १ । दीर्घ । १ । १ । ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण ' से] अर्थ —(चौ) लुप्त अकार नकार वाली अञ्चु' धातु के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अण) अण् के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है ।

प्र च्+अस' यहा लुप्ताकारनकारवाली 'च्' यह अञ्चु' धातु परे है अत पूर्व अण अर्थात् 'प्र' के रफोत्तर अकार का दीर्घ होकर—प्राच्+अस='प्राच ' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञक मे जान लेना चाहिये ।

नोट– यद्यपि यहा 'अच (३३५) और चौ' (३३६) सूत्रों के विना भी प्र अच्+अस्' इस अवस्था मे 'अक सवर्णे दीर्घ (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'प्राच ' प्रयोग सिद्ध हो सकता था तथापि इन सूत्रो की 'प्रतीच ' आदि के लिये परमावश्यकता थी अत यहा भी न्यायवशात् प्रवृत्ति कर दी गई है ।

'प्राच्' (पूर्वदिशा देश व काल) शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण यथा—

प्र०	प्राङ	प्राञ्चौ	प्राञ्च	प०	प्राच	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्य
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राच	ष	,,	प्राचो	प्राचाम्
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्ॐ	प्राग्भि	स०	प्राचि	,,	प्राक्षु †
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्य	स०	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्च !

ॐ यहा चो कु' (३०६) की दृष्टि मे 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) तथा झला जशोऽन्ते (६७) दोनो के असिद्ध होने से प्रथम चकार को ककार होकर पुन 'झला जशोऽन्ते' से गकार करने पर 'प्राग्भ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं । यहाँ पर भत्व न होने से 'अच ' तथा 'चौ' न होंगे, सवर्णदीर्घ होकर उक्त प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार हलादि विभक्तियों मे आगे भी जानना ।

† यहाँ 'चो कु' (३०६) द्वारा कुत्व होकर 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) स सकार को षकार हो जाता है ।

'प्रति' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'ऋत्विग्दधृक् ' (३०१) से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिता हल ' (३३४) से नकारलोप, प्रातिपदिकसञ्ज्ञा

व्याख्या—उदः ।५।१। अचः ।६।१। [अच इसे] भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अत् ।६।१। ['अल्लोपोऽनः' से] ईत् ।१।१। अर्थः—(उदः) उद् से परे (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के (अत्) अकार के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है।

उद् अच्+अस्। यहां प्रकृतसूत्र से अकार को ईकार होकर—उद् ईच्+अस्= 'उदीचः' प्रयोग सिद्ध होता है। उदच्' (उत्तरदिशा, देश व काल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः	प०	उदीचः	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
द्वि०	उदञ्चम्	,,	उदीचः	ष०	,,	उदीचोः	उदीचाम्
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः	स०	उदीचि		उदक्षु
च०	उदीचे	,,	उदग्भ्यः	सं०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः!

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३८ समः समि ।६।३।६२॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [समः सम्यादेशः स्यात्।]। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्॥

अर्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे हो तो सम् के स्थान पर समि आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्यये ❀ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये से] अञ्चतौ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च से] समः ।६।१। समि ।१।१। समासः—वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्ययः। तस्मिन्=वप्रत्यये। बहुव्रीहिसमासः। व से यहाँ क्विन्, क्विप् आदि वकारघटित प्रत्यय अभिप्रेत हैं। अर्थः—(वप्रत्यये) जिससे व' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (समः) सम् के स्थान पर (समि) समि आदेश हो जाता है।

'समि' में इकार अनुनासिक नहीं अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से उसकी इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

❀ कई लोग 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६.३.६१) ऐसा पाठ मान कर 'समः समि' (३३८) सूत्र में 'अप्रत्यये' का अनुवर्तन किया करते हैं। तब इस सूत्र का—"अविद्यमान प्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु के परे होने पर सम् को समि आदेश हो" ऐसा अर्थ होता है। 'अविद्यमान प्रत्यय' से क्विन्, क्विप् आदि प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ये प्रत्यय सर्वापहारलोप के कारण सदा अविद्यमान ही रहते हैं।

'सम् पूर्वक अञ्चु' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) द्वारा क्विन् उसका सर्वापहारलोप तथा अनिदिता हल (३३४) से नकारलोप होकर— सम् अच । अब वप्रत्ययान्त या अप्रत्ययान्त अञ्चु' पर होने के कारण सम सभि' (३३८) द्वारा सम् को समि आदेश होकर सु आदि की उत्पत्ति होती है—

समि अच्+स। 'उगिदचाम् (२८६) से नुम् उम् अनुबन्ध का लोप सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'समि अन्'। क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) से नकार को ङकार तथा 'इको यणचि (१५) से यण करने पर— सम्यङ् प्रयोग सिद्ध होता है। सम्यञ्चो, सम्यञ्च —यहाँ पूर्ववत् नुम् अनुस्वार तथा परसवर्ण जान।

सम् अच+अस् (शस्)। सम समि' से समि आदेश अच' (३३५) से अकारलोप तथा चौ' (३३६) से पूर्व इकार को दीर्घ करने से— समीच'। 'सम्यञ्च' (ठीक चलने वाला) शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्र० सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्च	प० समीच	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्य
द्वि० सम्यञ्चम्	,,	समीच	ष० ,,	समीचो	समीचाम्
तृ० समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भि	स० समीचि	,,	सम्यक्षु
च० समीचे	,,	सम्यग्भ्य	सं० हे सम्यङ्!	हे सम्यञ्चौ!	हे सम्यञ्च!

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३९ सहस्य सध्रिः ।६।३।९४॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [सहस्य सध्र्यादेश स्यात्]।

अर्थ —वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु परे होने पर 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्ययान्ते ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च ' से] सहस्य ।६।१। सध्रि ।१।१। अर्थ —(वप्रत्यये) जिस से 'व प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चु धातु के परे होने पर (सहस्य) 'सह' के स्थान पर (सध्रि) 'सध्रि' आदेश हो।

यहा भी अनुनासिक न होने से सध्रि के इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

सह' पूर्वक अञ्चु' धातु से पूर्ववत् क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा 'सहस्य सध्रि' (३३९) से सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होकर—'सध्रि अच्'। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।

सध्रि अच्+स्। नुम् आगम, उम्लोप, सुँलोप संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्र

यस्य कु' (३०४) से नकार को ङकार करने से—सध्रि अङ्='सध्र्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्च—आदि में पूर्ववत् 'अनुस्वारपरसवर्णों' कर लेने चाहियें।

सह अच्+अस (शस्)। सहस्य सध्रिः' द्वारा सध्रि आदेश, 'अचः' (३३५) द्वारा अकारलोप तथा 'चौ' (३३६) द्वारा पूर्व अण्=इकार को दीर्घ करने से 'सध्रीचः'।

'सध्र्यच्' (साथ चलने वाला, साथी) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः	प० सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
द्वि० सध्र्यञ्चम्	,,	सध्रीचः	ष० ,,	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
तृ० सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः	स० सध्रीचि		सध्र्यक्षु
च० सध्रीचे	,,	सध्र्यग्भ्यः	सं० हे सध्र्यङ्! हे सध्र्यञ्चौ! हे सध्र्यञ्चः!		

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३४० तिरसस्तिर्यलोपे ।६।३।९३॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात्।

तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम् ॥

अर्थः—जिस के अकार का लोप नहीं हुआ ऐसी वप्रत्ययान्त 'अञ्चुँ' धातु के परे होने पर 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

व्याख्या—अलोपे ।७।१। वप्रत्यये ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये से] तिरसः ।६।१। तिरि ।१।१। समासः—नास्ति लोपो यस्य सोऽलोपस्तस्मिन्=अलोपे। नञ्बहुव्रीहिसमासः। यहां लोप से तात्पर्य 'चौ' द्वारा किये अकारलोप से ही है। अर्थः—(अलोपे) अलुप्त अकार वाली (वप्रत्यये) वप्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (तिरसः) तिरस् के स्थान पर (तिरि) तिरि आदेश हो जाता है।

अञ्चुँ धातु के अकार का लोप भसञ्ज्ञकों में ही 'अचः' (३३५) द्वारा हुआ करता है। अतः भसञ्ज्ञा के अभाव में ही तिरस् को तिरि आदेश होता है। भसञ्ज्ञको में 'तिरि' आदेश नहीं होता।

'तिरस्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहार लोप, नकारलोप, 'तिरसस्तिर्यलोपे' (३४०) से तिरस् के स्थान पर तिरि आदेश होकर—'तिरि अच्'। अब सुँ प्रत्यय आकर नुम् आगम, उम् लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व अर्थात् नकार को ङकारादेश और पुनः 'इको यणचि' (१५) से यण् होकर 'तिर्यङ्' (तिर्यङ् योनि, पशु पक्षि आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्च	पं०	तिरश्च	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्य
द्वि०	तिर्यञ्चम्	,,	तिरश्च ×	ष०		तिरश्चो	तिरश्चाम्
तृ०	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भि	स०	तिरश्चि		तिर्यक्षु
च०	तिरश्चे	,,	तिर्यग्भ्य	सं०	हे तिर्यङ् ! हे तिर्यञ्चौ ! हे तिर्यञ्च !		

+ तिरस अच्+अस्। यहां अच (३४) सूत्र से अकार का लोप होकर 'स्तो श्चुना श्चु' (६२) से श्चुत्व हो जाता है। इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये। ध्यान रहे कि इन स्थानों पर तिरि नहीं होगा क्योंकि यहाँ अल्लोप है।

[लघु०] विधि सूत्रम् ३४१ नाञ्चेः पूजायाम्।६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपा भावादल्लोपो न। प्राञ्च। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवम् पूजार्थे प्रत्यङ्ङादय॥

अर्थ—पूजार्थक 'अञ्चुँ' धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता।

व्याख्या—पूजायाम् ।७।१। अञ्चे ।६।१। उपधाया ।६।१। ['अनिदिता हल उपधायाः—' से] न ।६।१। [श्नान्नलोप' से यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] लोप ।१।१। ['श्नान्नलोप' से] न इत्यव्ययपदम्। अर्थ—(पूजायाम्) पूजा अर्थ में (अञ्चे) अञ्चुँ धातु के (उपधाया) उपधा के (न=नस्य) नकार का (लोप) लोप (न) नहीं होता।

अञ्चुँ धातु के दो अर्थ होते हैं। एक गति और दूसरा पूजा। पूजा अर्थ में अनिदिताम्—' (३३४) द्वारा नकारलोप प्राप्त होने पर नाञ्चे पूजायाम्' (३४१) से निषेध कर दिया जाता है। अतः गति अर्थ होने पर ही नकार का लोप होता है पूजा अर्थ में नहीं। पीछे 'प्राङ् से लेकर तिर्यङ्' तक सर्वत्र गत्यर्थक अञ्चुँ धातु का ही प्रयोग हुआ है। अब पूजा अर्थ में प्रयोग दिखलाते हैं—

प्राञ्च्—'प्र पूर्वक पूजार्थक अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिता हल—' (३३४) से उपधाभूत नकार का लोप प्राप्त होने पर—'नाञ्चे पूजायाम्' (३४१) से निषेध, सवर्णदीर्घ हो प्रातिपदिक सञ्ज्ञा करने से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। नलोपी अञ्चुँ न होने से उगिदचाम्—' (२८६) वाला नुम् भी न होगा।

प्राञ्च्+स्। सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) से नकार को ङकार होकर—'प्राङ्'।

नोट—नकारलोप के निषेध का फल शसादियो में स्पष्ट होता है। सर्वनामस्थान तक तो गत्यर्थक और पूजार्थक दोनो अवस्थाओ मे प्रक्रियाओं का अन्तर होने पर भी रूप एक समान होते हैं।

प्र	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्च	प०	प्राञ्च	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्य
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	×	ष०	,,	प्राञ्चो	प्राञ्चाम्
तृ	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम् †	प्राङ्भि	स०	प्राञ्चि	,,	प्राङ्क्षु, ङ्षु, ङ्क्षु❀
च०	प्राञ्चे	,,	प्राङ्भ्य	स०	हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्च!

× 'प्राञ्च्+अस्' यहा नकारलोप न होने से 'अच' (३३५) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप नहीं होता, उसके अर्थ मे 'लुप्तनकारस्याञ्चते' ऐसा लिख चुके हैं। फिर 'चौ' से दीर्घ भी नहीं होता। कि तु सवर्णदीर्घ होकर कार्यनिष्पत्ति होती है।

† 'प्राञ्च्+भ्याम्' यहाँ सयोगान्तलोप होकर क्विन्प्रत्ययस्य कु (३०४) द्वारा नकार को ङकार हो जाता है।

❀ 'प्राञ्च्+सु' यहा सयोगान्तलोप तथा नकार को ङकार हो—'ङणो कुक्टुक शरि' (८६) द्वारा विकल्प कर के कुक् आगम होकर एकपक्ष मे 'चयो द्वितीया शरि—' (वा० १४) वार्त्तिक द्वारा ककार को खकार हो जाता है। पुन दोनों पक्षों मे 'आदेश प्रत्यययो' (१५०) से षत्व हो जाता है।

पूजायाम्—'प्रत्यञ्च्'

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्च	प	प्रत्यञ्च	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भ्य
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	प्रत्यञ्चो	प्रत्यञ्चाम्
तृ	प्रत्यञ्चा	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भि	स०	प्रत्यञ्चि	,,	प्रत्यङ्क्षु, ङ्क्षु, ङ्षु
च०	प्रत्यञ्चे	,,	प्रत्यङ्भ्य	स०	हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्च!

पूजायाम्—'उदञ्च्'

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्च	प०	उदञ्च	उदङ्भ्याम्	उदङ्भ्य
द्वि०	उदञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	उदञ्चो	उदञ्चाम्
तृ०	उदञ्चा	उदङ्भ्याम्	उदङ्भि	स०	उदञ्चि	,,	उदङ्क्षु ङ्क्षु, ङ्षु
च०	उदञ्चे	,,	उदङ्भ्य	स०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्च

नकारलोप न होने से शसादियों में 'उद ईत्' (३०७) प्रवृत्त न होगा।

पूजायाम्—'सम्यञ्च्

०	सम्यट	सम्यञ्चौ	सम्यञ्च	प०	सम्यञ्च	सम्यड्भ्याम्	सम्यड्भ्य
द्वि०	सम्यञ्चम्			ष०		सम्यञ्चो	सम्यञ्चाम्
तृ०	सम्यञ्चा	सम्यग्भ्याम्	सम्यटभि	स०	सम्यञ्चि		सम्यड्क्षु क्षु, षु
च०	सम्यञ्चे		सम्यड्भ्य	स०	हे सम्यड !	हे सम्यञ्चौ !	हे सम्यञ्च !

भसज्ञा म अकार का लाप तथा दीघ न होगा। सम समि' (३३८) तो लोप वा अलोप दोनों पक्षों म सवत्र हो ही जाता हे।

पूजाया— सध्रञ्च

प्र०	सध्राड	सध्राञ्चौ	सध्राञ्च	प०	सध्राञ्च	सध्राड्भ्याम्	सध्राड्भ्य
द्वि०	सध्राञ्चम्	,,		ष०		सध्राञ्चो	सध्राञ्चाम्
तृ	सध्राञ्चा	सध्राड्भ्याम्	सध्राडभि	स०	सध्राञ्चि	,	सध्रयटत्षु, त्सु षु
च०	सध्राञ्चे		सध्रयड्भ्य	स०	हे सध्रान् !	हे सध्राञ्चौ !	हे सध्राञ्च !

भत्व म अच से अ का लोप तथा चौ से दीघ न होगा। सध्रि' तो लोप तथा अलोप दानो मे ही सर्वत्र हो जाता है।

पूजाया— तियञ्च्'

प्र०	तियङ	तियञ्चौ	तियञ्च	प०	तियञ्च	तिर्यङ्भ्याम्	तिर्यङ्भ्य
द्वि०	तियञ्चम्		,	ष०		तियञ्चो	तियञ्चाम्
तृ०	तिर्यञ्चा	तिर्यङ्भ्याम्	तियङ्भि	स०	तियञ्चि		तिर्यङ्क्षु, क्षु, षु
च०	ति ञ्चे		तिर्यङ्भ्य	स०	हे तिर्यङ् !	हे तियञ्चौ !	हे तियञ्च !

इसम नकारलोप न हाने स अच' (३३५) द्वारा अकारलाप कहीं नहीं होता, अत तिरसस्तियलोपे (३४०) द्वारा सवत्र तिरि' आदेश हो जाता है।

[लघु०] क्रुड्। क्रुञ्चौ। क्रुड्भ्याम्॥

व्याख्या—'क्रुञ्चँ गतिकौटिल्याल्पीभावयो (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्द धृक् (३०१) द्वारा क्विन्प्रयय उसका सवापहारलोप तथा 'अनिदिताम् ' (३३४) द्वारा नलोप प्राप्त होने पर लोपाभाव का निपातन करने से क्रुञ्च्' शब्द निष्पन्न होता है। भाष्यकार के मत में यह नोपध धातु है, अत लोप की प्राप्ति ही नही है। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	क्रुङ्†	क्रुञ्चौ	क्रुञ्च	प०	क्रुञ्च	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भ्य
द्वि०	क्रुञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	क्रुञ्चो	क्रुञ्चाम्
तृ०	क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्×	क्रुङ्भि	स०	क्रुञ्चि	,,	क्रुङ्क्षु त्सु, षु
च०	क्रुञ्चे	,,	क्रुङ्भ्य	सं०	हे क्रुङ् !	हे क्रुञ्चो !	हे क्रुञ्च !

† क्रुञ्च्+स्। सुँलोप संयोगान्तलोप, निमित्तापाये ' द्वारा ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कुत्व=ङकार हो जाता है।

× संयोगान्तलोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) से कुत्व हो जाता है।

[लघु०] पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्॥

व्याख्या—पयो जलं मुञ्चतीति—पयोमुक् [क्विप्प्रत्यय]। 'पयोमुच्' शब्द क्विन्नन्त नहीं किन्तु क्विबन्त है अतः सर्वत्र पदान्त में 'चोः कुः' (३०६) प्रवृत्त होता है। पयोमुच् (बादल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	पयोमुक् ग्†	पयोमुचौ	पयोमुच	प०	पयोमुच	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्य
द्वि०	पयोमुचम्	,,		ष०	,,	पयोमुचो	पयोमुचाम्
तृ०	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्%	पयोमुग्भि	स०	पयोमुचि	,,	पयोमुक्षु*
च०	पयोमुचे	,,	पयोमुग्भ्य	सं०	हे पयोमुक् ग् !	हे पयोमुचौ !	हे पयोमुच !

†हल्ङ्याब्भ्य-(१७९), चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

%चोः कुः (३०६) झलां जशोऽन्ते (६७)।

*चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), खरि च (७४)।

अभ्यास (४२)

(१) अप्रत्यय और वप्रत्यय से क्या अभिप्राय है? इस प्रकरण में इनका कहां कहां उपयोग किया गया है?।

(२) पूजापक्ष में अञ्च् के नकार का लोप (?) कैसे हो जाता है? लोप करने वाला सूत्र लिखें।

(३) 'क्रुञ्च्' शब्द से क्विन् प्रत्यय होने पर भी नकार का लोप नहीं होता—इसमें क्या कारण है?

(४) पूजापक्ष में शसादि में 'तिर्यञ्च्' शब्द की भसञ्ज्ञा होने पर भी 'अचः' द्वारा अकार का लोप क्यों नहीं होता?

(५) उदञ्च् शब्द म पूर्वापक्ष म 'उद ईत्' सूत्र क्या प्रवृत्त नहा होता ?

(६) प्र+अच् प्रति+अच समि+अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव म ही इनकी प्रतिपादिकसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन ह ?

(७) निम्नलिखित रूपा का सूत्रोपन्यासपूर्वक साधनप्रक्रिया दर्शाओ—

१ प्राच २ प्रतीच ३ उदीच ४ समीच ५ तिरश्च ६ पयोमुक ७ अग्निमत् ८ प्रङ्खु ९ तियङ् १ प्राङ्।

(८) निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखो—

१ क्रुञ्च २ अग्निमथ ३ सह+अञ्च् (दोनो पक्षो म), ४ तिरस+अञ्च (दोनो पक्षो म) ५ प्रति+अञ्च् (दोनों पक्षो म)।

(९) निम्नलिखित सूत्रो की व्याख्या करो—

१ अनिदिता हल उपधाया क्ङिति। २ अच । ३ चौ। ४ तिरसस्तिर्यलोपे। ५ उद ईत्। ६ सहस्य सध्रि ॥

यहा चकारान्त पुल्लिंग समाप्त होते है ।



अब तकारान्त पुल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] उगित्वान्नुम्।

व्याख्या—'महत्' (बडा) शब्द 'वर्तमाने पृषन्महद्—' (उणा० २४१) इस सूत्र से अप्रत्ययान्त निपातित तथा शतृवत् अतिदेश किया गया है।

महत्+स् (सुँ)। यहा शतृवत् अतिदेश। ['शतृ' प्रत्यय के 'ऋ' की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अत वह उगित् है। शतृवत् अतिदेश के कारण यह 'महत्' शब्द भी उगित हो जाता है।] के कारण उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थाने ' (२८९) से नुम् आगम होकर—महनुँम्त्+स्=महन्त्+स्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्— ३४२ सान्तमहतः संयोगस्य ।६।४।१०॥

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घ स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्। महान्तौ। महान्त। हे महन्। महद्भ्याम् ॥

अर्थ —सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर सकारान्त संयोग तथा महत्

शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—सान्त ।६।१। [यहाँ षष्ठीविभक्ति का लुक् हुआ है। यह 'संयोगस्य' का विशेषण है।] संयोगस्य ।६।१। महत ।६।१। न ।६।१। ['नोपधायाः' से। यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से) अर्थ — (सान्त) सकारान्त (संयोगस्य) संयोग के तथा (महत) महत् शब्द के (न = नस्य) नकार की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ आदेश हो जाता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर। सकारान्त संयोग की उपधा को दीर्घ करने के उदाहरण आगे-विद्वांसौ, विद्वांस यशांसि मनांसि आदि आ जाएंगे।

महन्त्+स् । यहां प्रकृतसूत्र से महत् शब्द के अवयव नकार की उपधा—हकारोत्तर अकार को दीर्घ हो कर 'महान्त्+स'। अब सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर 'महान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। 'महत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० महान्	महान्तौ†	महान्त	प०	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
द्वि० महान्तम्	,,	महतः	ष०	,,	महतोः	महताम्
तृ० महता	महद्भ्याम्+	महद्भिः	स०	महति	,,	महत्सु
च० महते	,,	महद्भ्यः	सं०	हे महन्* !	हे महान्तौ !	हे महान्तः !

† 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम्, 'सान्तमहत—' (३४२) से उपधादीर्घ तथा अनुस्वार परसवर्णप्रक्रिया जान लेनी चाहिये।

+ 'झलां जशोऽन्ते' (६७)

* यहां उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् होकर सुँलोप तथा संयोगान्तलोप हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां सम्बुद्धि परे होने से 'सान्तमहत—' (३४२) प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०]—विधि सूत्रम्—३४३ अत्वसन्तस्य चाधातोः ।६।४।१४।

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्।

अर्थ—सम्बुद्धि भिन्न सुँ परे होने पर 'अतु' जिसके अन्त में हो उसकी उपधा

को दीर्घ होता है एवम् धातु को छोड़कर अस् जिसके अन्त में हो उसकी उपधा को भी दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—अतु ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'अत्वन्तस्य' बन जाता है।] असन्तस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। [ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। [सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से] सौ ७।१। [सौ च से] अर्थः—(अतु+अत्वन्तस्य) अत्वन्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (च) तथा (अधातोः) धातुभिन्न (असन्तस्य) अस् अन्त वाले (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो।

अतु से 'मतुँप्, वतुप्, डवतु' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। अस्—अन्त' का उदाहरण आगे मूल में हो जायेगा स्पष्ट हो जायगा। यहां अत्वन्त का उदाहरण दर्शाया जाता है—

धीमत् = बुद्धिमान्

[धीरस्त्यस्यति धीमान्। धीशब्दात् तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुप्]

धी' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'धीमत्' शब्द निष्पन्न होता है।

धीमत्+स्' यहां धीमत् शब्द के अतु+अन्त (मतु=म्+अतु) होने से प्रथम † 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ होकर—धीमात्+स्। पुनः 'उगिदचाम्' (२८६) से नुम् आगम—धीमान् त्+स्। अब सुँलोप और संयोगान्त लोप होकर—'धीमान्' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धीमत्' की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः	पं०	धीमतः	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्यः
द्वि०	धीमन्तम्	,,	धीमतः	ष०	,,	धीमतोः	धीमताम्
तृ०	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भिः	स०	धीमति		धीमत्सु
च०	धीमते	,,	धीमद्भ्यः	सं०	हे धीमन्!	हे धीमन्तौ!	हे धीमन्तः!

† ध्यान रहे कि 'धीमत्+स्' में 'अत्वसन्तस्य—' (४५) द्वारा उपधादीर्घ तथा 'उगिदचाम्' (८६) से नुम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। नुम् आगम नित्य तथा पर होने पर भी प्रथम नहीं होता। क्योंकि यदि ऐसा किया जाए तो पुनः कहीं अत्वन्त ही न मिल सके। अतः वचनसामर्थ्य से प्रथम उपधादीर्घ होकर पश्चात् नुम् आगम होता है।

+ सम्बुद्धि मे 'अत्वसन्तस्य०' (३४३) द्वारा दीर्घ नहीं होता।

इसी प्रकार—भगवत्, बुद्धिमत्, धनवत्, मतिमत् आदि मत्वन्त व वत्वन्त शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] भातेर्डवतु। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य—भवन्।

व्याख्या— भवतु=भवत् (आप)

'भा दीप्तौ' (अदा० प०) धातु से 'भातेर्डवतुः' (उणा० ६३) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'डवतु' प्रत्यय करने से—'भा+डवतु'। डवतु के अनुबन्धों का लोप कर 'अवत्' शेष रह जाता है—'भा+अवत्' अब 'भा' की भसञ्ज्ञा न होने पर भी डवतु को डित् करने के सामर्थ्य से भकारोत्तर आकार का 'टेः' (२४२) से लोप होकर—'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है।

भवत्+स् (सु)। अत्वन्त होने से 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ, 'उगिदचाम्०' (२८९) से नुम् आगम, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप करने से 'भवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'धीमत्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः	प०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः	ष०	,,	भवतोः	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	,,	भवद्भ्यः	स०	हे भवन्+!	हे भवन्तौ!	हे भवन्तः!

+ सम्बुद्धि में 'अत्वसन्तस्य०' (३४३) प्रवृत्त नहीं होता।

'भवत्' शब्द त्यदाद्यन्तर्गत सर्वनाम है। सर्वनामसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'भवकान्' आदि में 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (१२२९) द्वारा अकच् प्रत्यय आदि करना है। त्यदादियों का यद्यपि सम्बोधन नहीं होता तथापि ऊपर सम्भावनामात्र से दर्शाया गया है।

भवत्=भवत् [होता हुआ]

'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से लट्, उसके स्थान पर शतृँ प्रत्यय, शतृँ के सार्वधातुक होने से शप् विकरण, गुण, अवादेश तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है। 'यह भवत्' शब्द शतृँप्रत्ययान्त है। शतृँ प्रत्यय के ऋकार की 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञा होती है। अतः 'भवत्' शब्द

उगित् है। उगित् होने से सर्वनामस्थान में इसे नुम् आगम हो जायगा। इसका रूपमाला यथा—

प्र०	भवन्†	भवन्तौ	भवन्त	प०	भवत	भवद्भ्याम्	भवद्भ्य
द्वि०	भवन्तम्		भवत	ष०		भवतो	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भि	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते		भवद्भ्य	स०	हे भवन्!	हे भवन्तौ!	हे भवन्त!

† यहाँ अत्वन्त न होने से 'अ वसन्तस्य चाधातो' (२४३) सूत्र से उपधादीर्घ नहीं होता। नुम्, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप पूर्ववत् होते हैं।

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ) पतत् (गिरता हुआ) खादत् (खाता हुआ) प्रभृति शत्रन्त शब्दों के रूप होते हैं। शत्रन्तों का बृहत् सग्रह उत्तरार्ध में शतृ प्रकरण में देखें।

अब शत्र त शब्दों में कुछ विशेष प्रक्रिया वाले शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३४४ उभे ॥ अभ्यस्तम् ।६।१।५॥

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्त ।

अर्थ —छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वित्व से जिन दो शब्दस्वरूपों का विधान किया जाता है वे दोनों समुदित (इकट्ठे हुए, न कि पृथक्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—उभे ।१।२। द्वे ।१।२। ['एकाचो द्वे प्रथमस्य' से] अभ्यस्तम् ।१।१। अर्थ - (उभे) समुदित (द्वे) दोनों शब्दस्वरूप (अभ्यस्तम्) अभ्यस्त सञ्ज्ञक होते हैं।

द्वित्व अर्थात् एक शब्द को दो शब्द विधान करने वाले अष्टाध्यायी में दो प्रकरण आते हैं। पहला— छठे अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक। दूसरा अष्टम अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर १५वें सूत्र तक। यहां अभ्यस्त सञ्ज्ञा षष्ठाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की होती है अष्टमाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की नहीं। इसका कारण यह है कि—"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" (प०) अर्थात्

॥ 'उभे + अभ्यस्तम्' में 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा और प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (५०) द्वारा प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि नहीं होती। एवम् वृत्ति में 'ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे' यहाँ पर भी सन्ध्यभाव जानना चाहिए।

विधि और निषेध समीप पठित के होते हैं दूरपठित के नहीं। 'उभे अभ्यस्तम्' (६ १ ५) सूत्र छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में पढ़ा गया है अतः अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में विहित समुदित शब्दस्वरूपों की ही होगी।

'द्वे' पद का अनुवर्तन होने पर भी 'उभे' का ग्रहण इस बात को बतलाने के लिये है कि दोनों की इकट्ठी अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो प्रत्येक की पृथक् २ न हो। इससे 'ननिजति' आदि में 'अभ्यस्तानामादिः' (६ १ १८६) द्वारा प्रत्येक का आद्युदात्त न होकर समुदित को होता है। इसका विशेष विवेचन काशिका और महाभाष्य में देखना चाहिये।

ददत्='ददत्' (देता हुआ)

दा (डुदाञ् दाने जुहो० उभ०) धातु से लट्, उसको शतृ, शप् प्रत्यय, शप् का श्लु (लोप), श्लु परे होने पर षष्ठाध्यायस्थ 'श्लौ' (६ १ १०) सूत्र से द्वित्व, अभ्यासह्रस्व तथा 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६१९) से आकारलोप होकर 'ददत्' शब्द निष्पन्न होता है।

षाष्ठद्वित्वप्रकरणस्थ 'श्लौ' (६ १ ७) सूत्र से द्वित्व होने के कारण 'दद्' की 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अभ्यस्तसञ्ज्ञा का प्रयोजन बतलाते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्— ३४५ नाभ्यस्ताच्छतुः ।७।१।७८।।

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

अर्थः—अभ्यस्त से परे शतृ प्रत्यय को नुम् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तात्। ५।१। शतुः।६।१। नुम्।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) शतृ का अवयव (नुम्) नुम् (न) नहीं होता।

ददत्+स् (सुँ)। यहाँ 'उगिदचाम्—' (२८९) से प्राप्त नुम् आगम का 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से निषेध हो जाता है। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँलोप कर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया से—'ददत्, ददद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में नुम् का निषेध कर लेना चाहिये। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्-द्	ददतौ	ददतः	पं० ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	ददतम्			ष० ,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्❀	ददद्भिः	स० ददति		ददत्सु
च०	ददते		ददद्भ्यः	सं० हे ददत्-द्!	हे ददतौ!	हे ददतः!

❀ झलां जशोऽन्ते' (६७)

इसीप्रकार—दधत् (धारण करता हुआ), जुह्वत् (हवन करता हुआ), बिभ्यत् (डरता हुआ) बिभ्रत् (धारण करता हुआ) जहत् (छोड़ता हुआ) आदि जुहोत्यादिगणीय शत्रन्त धातुओं के रूप जान लेने चाहियें।

अब कुछ उन शत्रन्तों का वर्णन करते हैं जिन में षाष्ठद्वित्व न होने से अभ्यस्त सञ्ज्ञा तो नहीं होती किन्तु नुम् का निषेध अभीष्ट होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्र—३४६ जक्षित्यादयः षट् ।६।१।६॥

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत् ॥

अर्थः—जागृ आदि छः धातु तथा सातवां 'जक्ष्' धातु ये सब अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—जक्ष् ।१।१। इत्यादयः ।१।३। षट् ।१।३। अभ्यस्तम् ।१।१। ('उभे अभ्यस्तम्' से) समासः—इति (इतिशब्देन जक्षपरामर्शो भवति) आदिर्येषान्ते = इत्यादयः, अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास 'षड' इतिग्रहणात्। अर्थः—(जक्ष्) जक्ष् धातु तथा (इत्यादयः) जक्ष् से अगली (षट्) छः धातुएं (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

इन सात धातुओं का सङ्ग्रह एक श्लोक में किया गया है—

> "जक्षि जागृ-दरिद्रा शास्-दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा।
> अभ्यस्तसञ्ज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥"

१ जक्षँ भक्षहसनयोः (अदा० प०)। २ जागृ निद्राक्षये (अदा० प०)। ३ दरिद्रा दुर्गतौ (अदा० प०)। ४ चकासृँ दीप्तौ (अदा० प०)। ५ शासुँ अनुशिष्टौ (अदा० प०)। ६ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)। ७ वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा० आ०)। इन सात में पिछली दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है। इनके शत्रन्त रूप क्रमशः यथा—१ जक्षत् = खाता व हँसता

हुआ। २ जाग्रत्=जागता हुआ। ३ दरिद्रत्=दुर्गति को प्राप्त होता हुआ। ४ चकासत्=चमकता हुआ। ५ शासत्=शासन करता हुआ। ६ दीध्यत्=क्रीडा करता हुआ। ७ वेव्यत्=गति करता हुआ।

इन सातों शत्रन्तों से सर्वनामस्थान परे होने पर 'उगिदचाम्०' (२८९) द्वारा नुम् आगम प्राप्त था जो अब 'जक्षित्यादयः षट्' (३४६) सूत्र से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) द्वारा निषिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'जक्षत्' की रूपमाला यथा—

प्र०	जक्षत्-द्†	जक्षतौ	जक्षतः	पं०	जक्षतः	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भ्यः
द्वि०	जक्षतम्	,,	,,	ष०	,,	जक्षतोः	जक्षताम्
तृ०	जक्षता	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भिः	स०	जक्षति	,,	जक्षत्सु
च०	जक्षते	,,	जक्षद्भ्यः	सं०	हे जक्षत्-द्!	हे जक्षतौ!	हे जक्षतः!

† सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व।

इसीप्रकार अन्य छः शत्रन्तों के रूप भी बनते हैं।

अभ्यास (४३)

(१) 'अभ्यस्त' सञ्ज्ञाविधायक सूत्र कौन कौन से हैं तथा इस सञ्ज्ञा का लाभ ही क्या है?

(२) 'जक्षित्यादयः षट्' सूत्र में छः धातुओं का उल्लेख है तो पुनः सात धातुओं का ग्रहण कैसे हो जाता है?

(३) 'द्वे' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र में 'उभे' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(४) सर्वनामसञ्ज्ञक भवत् तथा शत्रन्त भवत् शब्द में क्या अन्तर है?

(५) "तकारान्त पुंल्लिङ्ग चार प्रकार के होते हैं" इस कथन की सोदाहरण व्याख्या करें।

(६) सर्वनामसञ्ज्ञक 'भवतु' शब्द में सर्वनामकार्य तो कोई होता नहीं तो पुनः इसके सर्वनामसञ्ज्ञक होने का क्या प्रयोजन है?

(७) जक्षित्यादि धातु कौन २ से हैं?

(८) "अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इस परिभाषा का क्या तात्पर्य है तथा 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र पर इसका क्या उपयोग किया गया है?

(९) 'सान्तमहतः संयोगस्य' और 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र की विस्तृत व्याख्या करें ।

(१०) 'उभे अभ्यस्तम्' मन्त्र में स्त्र संज्ञा क्यों नहीं हुई ?

(११) निम्नलिखित रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें —

महान्तौ, धीमान्, दन्त, जक्षता ।

(१२) भगवत्, भाग्वत, अतिमहत्, विभ्यत्, जवात्, जक्षत्—इन शब्दों की प्रथमा के एकवचन में साधनप्रक्रिया दर्शाते हुए रूप बना दिखाएँ ।

यहां तकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।

—(तकारान्तों के विषय में विशेष सूचना)—

तकारान्त पुंल्लिङ्गों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) महत् शब्द । 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) सूत्र में केवल 'महत्' शब्द का वर्णन होने से यह अपने ढङ्ग का आप ही शब्द है, अतः इसके सदृश अन्य किसी तकारान्त पुंल्लिङ्ग का उच्चारण नहीं होता ।

(२) अत्वन्त शब्द । इस श्रेणी में मतुबन्त, वतुबन्त, क्तवत्वन्त तथा डवतु प्रत्ययान्त सर्वनाम 'भवत्' शब्द आता है । मत्वन्तों और क्तवत्वन्तों का बृहत् सङ्ग्रह उत्तरार्ध में अपने अपने प्रकरणों में देखें ।

(३) शत्रन्त शब्द । इस श्रेणी में अभ्यस्त शत्रन्तों को छोड़ अन्य सब शत्रन्त आ जाते हैं ।

(४) अभ्यस्त शत्रन्त । इस श्रेणी में ददत्, दधत् प्रभृति जुहोत्यादिगण के शत्रन्त तथा जक्षत् आदि अदादिगण के सात शत्रन्तों के प्रयोग सम्मिलित हैं ।

बालकों के अभ्यासार्थ कुछ तकारान्त शब्द नीचे साथ लिखे जाते हैं इन के आगे १, २, ३, ४ के अङ्क इन की श्रेणी के बोधक हैं—

१	विद्यावत् (२) = विद्या वाला, विद्वान्	५	भक्तिमत् (२) = भक्तिवाला, भक्त
२	पचत् (३) = पकाता हुआ	६	महत् (१) = बड़ा
३	वविषत् (४) = व्याप्त होता हुआ	७	नेनिजत् (४) = पवित्र व पुष्ट करता हुआ
४	चकासत् (४) = चमकता हुआ	८	गुणवत् (२) = गुणों वाला

९	दरिद्रत् (४) = दुर्गति को प्राप्त करता हुआ	१६	जुह्वत् (४) = हवन करता हुआ
१०	चिन्तयत् (३) = सोचता हुआ	१७	भूतवत् (२) = जो गुज़र चुका है
११	जाग्रत् (४) = जागता हुआ	१८	पृच्छत् (३) = पूछता हुआ
१२	विचारयत् (३) = विचार करता हुआ	१९	शासत् (४) = शासन करता हुआ
१३	विचारवत् (२) = विचार वाला विचारवान्	२०	हतवत् (२) = जो मार चुका है
		२१	जहत् (४) = छोड़ता हुआ
		२२	दीप्यत् (३) = चमकता हुआ
१४	मधुमत् (२) = मिठासयुक्त मीठा	२३	व्रजत् (४) = गमन करता हुआ
१५	सुमहत् (१) = बहुत बड़ा	२४	सृष्टवत् (२) = जो पैदा कर चुका है

[लघु०] गुप् । गुबौ । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

व्याख्या — गुप् = रक्षा करने वाला ।

गोपायतीति—गुप् । गुपू रक्षणे' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् 'क्विप् च' (८०२) इति क्विपि 'गुप्' शब्दः सिध्यति । रूपमाला यथा—

प्र०	गुप्, ब❀	गुपौ	गुपः	पं०	गुपः	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
द्वि०	गुपम्	,,	,,	ष०	,,	गुपोः	गुपाम्
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्+	गुब्भिः	स०	गुपि	,,	गुप्सु†
च०	गुपे	,,	गुब्भ्यः	सं०	हे गुप्, ब् !	हे गुपौ !	हे गुपः !

❀ सुंलोप, जश्त्व, चर्त्व । + झलां जशोऽन्ते । † जश्त्व, चर्त्व ।

यहां पकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं ।

—❀—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३४७ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ।३।२।६०॥

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन् ।

अर्थ —त्यद् आदि शब्दों के उपपद रहने पर ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक 'दृश्' धातु से कञ् और क्विन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— त्यदादिषु । ७ ३ । दृश । ५ । । अनालोचने । ७ । १ । कञ् । १ । १ । च' इत्यव्ययपदम् । क्विन् । १ । १ । [स्पृशोऽनुदके क्विन्' से] समास— आलोचनं ज्ञानम्, न आलोचनम् = अनालोचनम्, तस्मिन् = अनालोचने । नञ्समास । अर्थ —(त्यदादिषु) त्यद् आदि उपपद अर्थात् समीप ठहरने पर (अनालोचने) ज्ञान से भिन्न अर्थ में (दृश) दृश् धातु से (कञ्) कञ् प्रत्यय (च) तथा (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में धातोः (७६६) यह अधिकार चलाया गया है । यह अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त जाता है इस अधिकार में सप्तम्यन्त पदों की 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (५५३) सूत्र द्वारा उपपदसञ्ज्ञा की जाती है । उपपदसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'उपपदमतिङ्' (५८४) द्वारा समास होकर पूर्वनिपात करना है । यह सब समासों में स्पष्ट हो जायगा । यहां पर 'त्यदादिषु' सप्तम्यन्त होने से उपपद है ।

तादृश् = उसके समान, वैसा ।

स इव पश्यतीति विग्रहः । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । दृशेरत्र ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थता । 'तद्' पूर्वक अज्ञानार्थक*दृश् (भ्वा० प०) धातु से 'त्यदादिषु' (३४७) सूत्र से कञ् और पक्ष में क्विन् प्रत्यय होकर—१ कञ् पक्ष में—तद् दृश् + कञ्‡ = तद् दृश । २ क्विन् पक्ष में—तद् दृश् + क्विन्† = तद् दृश् । अब दोनों पक्षों में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३४८ आ सर्वनाम्नः ।६।३।६०॥

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक्, तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् ॥

अर्थः—दृग् दृश और वतुँ परे होने पर सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो जाता है ।

---

* यह विषय सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में स्पष्ट है ।

‡ लशक्वतद्धिते (१३६), हलन्त्यम् (१) ।

† सर्वापहारी लोप ।

व्याख्या—दृग्दृशवतुषु । ७ । ३ । ['दृग्दृशवतुषु' से] सर्वनाम्नः । ६ । १ । आ । १ । १ । ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस अतिदेश से यहां 'सुपां सुलुक्०' द्वारा प्रथमा का लुक् हो जाता है ।] अर्थः—(दृग्दृशवतुषु) दृग्, दृश और वतु परे होने पर (सर्वनाम्नः) सर्वनाम के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है ।

यहाँ 'दृग्' से तात्पर्य क्विबन्त दृश् से तथा 'दृश' से तात्पर्य कञन्त दृश् से है ।

इस सूत्र से दोनों पक्षों में 'तद्' इस सर्वनाम के दकार को आकार होकर सवर्णदीर्घ करने से कञ्पक्ष में 'तादृश' और क्विन्पक्ष में 'तादृश्' बना । कञ्पक्ष वाले 'तादृश' शब्द का उच्चारण 'राम' शब्दवत् होता है । यथा—

प्र०	तादृशः	तादृशौ	तादृशाः	पं०	तादृशात्	तादृशाभ्याम्	तादृशेभ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	तादृशान्	ष०	तादृशस्य	तादृशयोः	तादृशानाम्
तृ०	तादृशेन	तादृशाभ्याम्	तादृशैः	स०	तादृशे	,,	तादृशेषु
च०	तादृशाय	,,	तादृशेभ्यः	सं०	हे तादृश !	हे तादृशौ !	हे तादृशाः !

सम्बोधन का प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता । इसी प्रकार—१ यादृश = जैसा । २ एतादृश = ऐसा । ३ त्वादृश = तुझ जैसा । ४ मादृश = मुझ जैसा । ५ अस्मादृश = हम जैसा । ६ युष्मादृश = तुम सब जैसा । ७ भवादृश = आप जैसा । ८ कीदृश❀ = कैसा । ९ ईदृश❀ = ऐसा । इत्यादि शब्दों के कञ्पक्ष में रूप बनते हैं[1] ।

'तादृश्' यहां क्विन्नन्तपक्ष में प्रक्रिया यथा—'तादृश् + स्' यहां सुँ-लोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र के असिद्ध होने से 'व्रश्च-भ्रस्ज०' (३०७) सूत्र द्वारा शकार को षकार हो जाता है—तादृष् । 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को गकार होकर—तादृग् । अब 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'तादृक्, तादृग्' ये दो रूप बनते हैं । क्विन्नन्त 'तादृश्' की समग्र रूपमाला यथा—

❀ 'इदंकिमोरीश्की' (११६७) सूत्र से इदम् को ईश् तथा किम् को की आदेश होता है ।

१ स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर 'नदी' की तरह रूप और नपुंसक में 'ज्ञान' की तरह रूप होंगे । वत्वन्त के उदाहरण—'यावत्, तावत्, एतावत्, कियत्, इयत्' इत्यादि समझने चाहियें ।

प्र०	तादृक् ग	तादृशा	तादृश	प०	तादृश	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्य
द्वि०	तादृशम्	,,	,	ष०	,	तादृशो	तादृशाम्
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्¹	तादृग्भि	स०	तादृशि	,	तादृक्षु†
च०	तादृशे	,	तादृग्भ्य	सं०	हे तादृक् ग!	हे तादृशो!	हे तादृश!

सम्बोधन का प्रयोग प्राय नहीं देखा जाता।

१ क्रमश षत्व डत्व और कुत्व हो जाता है।

† षत्व डत्व और कुत्व होकर खरि च (७४) के असिद्ध होने से प्रथम आदेशप्र यययो' (१५०) से षत्व होकर पुन चर्त्व करने से प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—१ यादृश्=जैसा। २ एतादृश्=ऐसा। ३ त्वादृश्=तुझ जैसा। ४ मादृश्=मुझ जैसा। ५ अस्मादृश्=हम जैसा। ६ युष्मादृश्=तुम सब जैसा। ७ भवादृश्=आप जैसा। ८ कीदृश=कैसा। ९ ईदृश=ऐसा। इत्यादि क्विन्नन्त शब्दों के रूप बनते हैं। स्त्रीलिङ्ग म भी क्विन् प्रत्ययान्त के इसी प्रकार रूप बनते हैं। नपुंसक में प्रथमा द्वितीया को छोड़कर इसी तरह।

[लघु०] व्रश्चेति ष। जश्त्व चर्त्वे। विट्, विड्। विशौ। विश। विड्भ्याम्॥

व्याख्या— विश्=वैश्य अथवा प्रजा।

'विशँ प्रवेशने (तुदा प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विश्' शब्द निष्पन्न होता है।

विश्+स्। सुँलोप 'व्रश्चभ्रस्ज ' (३०७) से शकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) द्वारा वैकल्पिक चर्त्व=टकार करने पर 'विट्, विड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'विश्' की रूपमाला यथा—

प्र०	विट्-ड्	विशौ	विश	प०	विश	विड्भ्याम्	विड्भ्य
द्वि०	विशम्	,	,	ष०	,	विशो	विशाम्
तृ०	विशा	विड्भ्याम्※	विड्भि	स०	विशि	,	विट्त्सु, ट्सु†
च०	विशे	,	विड्भ्य	सं०	हे विट्-ड्!	हे विशौ!	हे विश!

※ व्रश्च—' (३०७) द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व हो जाता है।

† षत्व, डत्व तथा धुट्प्रक्रिया।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३४९ नशेर्वा ।८।२।६३॥

नशे कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्, नग्, । नट्, नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ॥

अर्थः—पदान्त मे नश् शब्द को विकल्प करके कवर्ग अन्तादेश होता है ।

व्याख्या—नशेः । ६ । १ । वा इत्यव्ययपदम् । कुः । १ । १ । ['क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से] पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्को संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(नशेः) नश् के स्थान पर (वा) विकल्प करके (कुः) कवर्ग आदेश होता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

नश्=नाश होने वाला, नश्वर ।

'णशँ अदर्शने' (दिवा० प० रधादित्वाद्वेट्) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नश्' शब्द सिद्ध होता है ।

नश्+स् । सुँलोप होकर 'नशेर्वा' (८.२.६३) के असिद्ध होने से 'व्रश्च भ्रस्ज—' (८.२.३६) द्वारा शकार को षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार होकर—नड् । अब एक पक्ष में 'नशेर्वा' (३४९) से कवर्ग—गकार हो जाता है, तब वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'नक्, नग्' । दूसरे पक्ष में केवल चर्त्व करने से—नट्, नड् । इस प्रकार चार प्रयोग सिद्ध होते हैं । रूपमाला यथा—

प्रथमा	नक्, नग्, नट्, नड्	नशौ	नशः
द्वितीया	नशम्	,,	,,
तृतीया	नशा	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्❀	नग्भिः, नड्भिः
चतुर्थी	नशे	,, ,,	नग्भ्यः, नड्भ्यः❀
पञ्चमी	नशः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	नशोः	नशाम्
सप्तमी	नशि		नक्षु, नट्त्सु, नटसु
सम्बोधन	हे नक्, ग्, ट्, ड् !	हे नशौ !	हे नशः !

❀ षत्वे, जश्त्वेन डत्वे, 'नशेर्वा' (३४९) इतिविकल्पेन कत्वे रूपद्वयम् ।

[लघु०] विधिसूत्रम्—३५० स्पृशोऽनुदके क्विन् ।३।२।५८।

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशे क्विन। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृश।

अर्थ — उदक' शब्द से भिन्न अन्य सुबन्त उपपद हो तो 'स्पृश्' धातु से क्विन् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्पृश। ५। १। अनुदके। ७। १। क्विन्। १। १। सुपि। ७। १। [सुपि स्थः से] अर्थ —(अनुदके) उदकभिन्न† (सुपि) सुबन्त उपपद हो तो (स्पृश) स्पृश धातु से (क्विन्) क्विन प्रत्यय होता है।

घृतस्पृश् = घी को छूने वाला।

घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक्। यहाँ स्पृश (तुदा० प) धातु के उपपद उदक शब्द नहीं है किन्तु घृत सुबन्त है अतः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (२९०) से क्विन् प्रत्यय उसका सर्वापहार लोप तथा उपपदसमास करने से घृतस्पृश शब्द निष्पन्न होता है।

घृतस्पृश + स्। सुलोप व्रश्चभ्रस्ज (३०७) से शकार को षकार झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से डकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्व ककार करने पर— घृतस्पृक्, घृतस्पृग् ये दो रूप सिद्ध होते हैं। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	घृतस्पृक्, ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
द्वि०	घृतस्पृशम्	,,	,,
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्[1]	घृतस्पृग्भिः
च०	घृतस्पृशे		घृतस्पृग्भ्यः
पं०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
ष०		घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
स०	घृतस्पृशि		घृतस्पृक्षु
सं०	हे घृतस्पृक्, ग्!	हे घृतस्पृशौ!	हे घृतस्पृशः!

१ क्रमशः षत्व डत्व, कुत्व।

इसी प्रकार—मन्त्रस्पृश्, जलस्पृश्, तृणस्पृश्, वारिस्पृश्, स्पृश् (यह क्विबन्त

---

† यदि 'उदक' उपपद हो तो स्पृश् से क्विन् नहीं होगा, किन्तु 'कर्मण्यण्' (७०६) द्वारा सामान्यविहित अण् प्रत्यय होकर 'उदकस्पर्श' बन जायगा। यद्यपि 'उदक' उपपद होनेपर क्विप् प्रत्यय करने से भी 'उदकस्पृश्' शब्द निष्पन्न हो सकता है और 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) में बहुव्रीहिसमास के आश्रयण से कुत्व भी हो सकता है तथापि 'अनुदके' कथन के कारण क्विप् भी नहीं होता, ऐसा काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत है, परन्तु नव्य लोगों का कथन है कि क्विप् प्रत्यय तो हो जाता है परन्तु 'अनुदके' कथनसामर्थ्य से कुत्व नहीं होता। अतः 'उदकस्पृट्' आदि रूप बनते हैं।

है, यहां भी 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहि के आश्रयण से कुत्व हो जाता है) आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

यहां शकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं।

अब षकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्॥

व्याख्या—'दधृष्' शब्द 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) सूत्र से 'ञिधृषा' (स्वा० प०) धातु से क्विन्नन्त निपातित होता है।

दधृष्+स्। सुंलोप, जश्त्व से डकार, क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से ककार होकर—'दधृक्, दधृग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

दधृष् (तिरस्कार करने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दधृक्-ग्	दधृषौ	दधृषः	पं० दधृषः	दधृग्भ्याम्	दधृग्भ्यः
द्वि०	दधृषम्	,,	,,	ष० ,,	दधृषोः	दधृषाम्
तृ०	दधृषा	दधृग्भ्याम्†	दधृग्भिः	स० दधृषि	,,	दधृक्षु
च०	दधृषे	,,	दधृग्भ्यः	सं० हे दधृक्-ग्!	हे दधृषौ!	हे दधृषः!

† क्रमशः जश्त्व से डकार और कुत्व से गकार हो जाता है।

[लघु०] रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्॥

व्याख्या— रत्नमुष् = रत्न चुराने वाला।

रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। रत्नकर्म उपपद होने पर 'मुषँ स्तेये' (क्र्या० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपपदसमास होकर 'रत्नमुष्' शब्द निष्पन्न होता है। यह क्विन्नन्त नहीं अतः 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' द्वारा कुत्व नहीं होता।

रत्नमुष्+स्। सुंलोप, जश्त्व से डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार होकर—'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	रत्नमुट्-ड्	रत्नमुषौ	रत्नमुषः	पं० रत्नमुषः	रत्नमुड्भ्याम्	रत्नमुड्भ्यः
द्वि०	रत्नमुषम्	,,	,,	ष० ,,	रत्नमुषोः	रत्नमुषाम्
तृ०	रत्नमुषा	रत्नमुड्भ्याम्†	रत्नमुड्भिः	स० रत्नमुषि	,,	रत्नमुट्त्सु, ट्सु
च०	रत्नमुषे	,,	रत्नमुड्भ्यः	सं० हे रत्नमुट्-ड्!	हे रत्नमुषौ!	हे रत्नमुषः!

† झलां जशोऽन्ते (६७)।

[लघु०] षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २। षण्णाम् । षट्सु ॥

व्याख्या—'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० प०) धातु से 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र द्वारा षष् शब्द निष्पन्न होता है। षष् (छः) शब्द नित्य बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है—

षष्+अस (जस व शस)। 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षट्संज्ञा होकर 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस व शस का लुक् हो जाता है। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार होकर—षट्, षड् ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

भिस् व भ्यस् में जश्त्व हो जाता है—षड्भिः, षड्भ्यः।

षष्+आम्। षट्संज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र से आम् को नुट् आगम हो जाता है—षष्+नाम्। अब आम् अजादि नहीं रहा अतः भसंज्ञा न हुई, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदसंज्ञा होकर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार, 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) से डकार को णकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से नकार को णकार करने पर 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहाँ पदान्त होने पर भी 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं होता क्योंकि उसमें 'अनाम्' कहकर नाम् के विषय में छूट दे दी गई है।

षष्+सु (सुप्)। यहाँ पदान्त में जश्त्व—डकार होकर 'डः सि धुट्' (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम तथा 'खरि च' (७४) से यथासम्भव दोनों पक्षों में चर्त्व करने से—'षट्त्सु, षट्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	षट्, षड्	पं०		०	षड्भ्यः
द्वि०	०	०	,, ,,	ष०	०	०	षण्णाम्
तृ०	०	०	षड्भिः	स०	०	०	षट्त्सु, षट्सु
च०	०	०	षड्भ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।			

ध्यान रहे कि 'षष्' शब्द षट्संज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में एक समान रहता है।

[लघु०] रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' (१०५) इति रुत्वम्।

विधि सूत्रम्— ३५१ र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ।८।२।७६।।

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते ।

पिपठी । पिपठिषौ । पिपठिष । पिपठीर्भ्याम् ॥

अर्थ —रेफान्त और वान्त धातु क उपधा इक् को पदान्त में दीघ हो जाता है।

व्याख्या—र्वो ।६।२। [यह धातो ' का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि होती है] धातो । ६ । १ । ['लिपि धातो रुर्वा' से] उपधाया । ६ । १ । इक । ६ । १ । दीघ । १ । १ । पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्को सया गाद्योरन्ते च' स] समास —र् च व् च = वौं तयो = र्वो , इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(र्वो) रफान्त और वा त (धातो) धातु की (उपधाया) उपधा के (इक) इक का (दीघ) दीघ हो जाता हैं (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त म ।

पिपठिष् = पढने की इच्छा करने वाला ।

पठितुमिच्छतीति—पिपठी । 'पठ॑ यक्ताया वाचि' (भ्वा० प०) धातु से सन्प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यासकाय, अभ्यास का इकारादेश, इट् आगम तथा आदशप्रत्यययो ' (१५०) से सकार को षकार होकर— पिपठिष' । अब 'सनाद्यन्ता धातव ' (४६८) सूत्र से धातुसञ्ज्ञा कर क्विप्प्रत्यय उसका सर्वापहारलोप तथा 'अता लोप ' (४७०) से अकार का लोप करने पर—'पिपठिष्' शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

पिपठिष् + स् । हल्ङयाभ्य — (१७९) से सुँलोप होकर—'पिपठिष्' । 'ससजुषो रु ' (८ २ ६६) की दृष्टि मे 'आदशप्रत्यययो ' (८ ३ ५९) के असिद्ध होने से यहा षकार को सकार मानकर रुँत्व करने पर—पिपठिरुँ = पिपठिर् । अब 'र्वोरुपधाया दीघ इक ' (३५१) सूत्र से रेफान्त धातु 'पिपठिर्' की उपधाभूत इकार को दीर्घ होकर—'पिपठीर्' । 'खरवसानयो —' (९३) से विसग आदेश करने पर 'पिपठी ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पिपठिष् + औ = पिपठिषौ । इत्यादि ।

'पिपठिष् + भ्याम्' । यहाँ भी रुँत्व तथा दीघ होकर—पिपठीर्भ्याम् ।

'पिपठिष् + सु' (सुप्) । रुँत्व तथा दीघ होकर—पिपठीर + सु । अब 'आदेश प्रत्यययो ' (१५०) से षत्व तथा 'खरवसानयोर्विसजनीय ' (९३) से विसर्ग आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु षत्व के असिद्ध होने से प्रथम विसर्ग आदेश हो जाता है—पिपठी सु । पुन 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्गों को विसर्ग और पक्ष में 'विसजनीयस्य स ' (१०३) से सकार आदेश हो जाता है—१ पिपठी सु, २ पिपठीस्सु । अब इन दोनों रूपों में क्रमश विसग और सकार का यवधान पडने से ईकार-इण् से

परे सकार का 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर षत्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[ल०सु०] विधि सूत्रम् - ३५२ नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि। ।८।३।५८॥

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः—पिपठीष्षु। पिपठीः षु।

अर्थ—नुम्, विसर्जनीय और शर् इन में किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण् कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। [यह अधिकृत है।] नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम्। सः ।६।१। [सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः ।१।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] समास—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च=नुम्विसर्जनीयशरः, इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां व्यवायः (व्यवधानम्)=नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायः, तस्मिन्=नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये, षष्ठीतत्पुरुषः। यहां भाष्यकार ने प्रत्येक का व्यवधान स्वीकार किया है [प्रत्येकं व्यवायशब्दः परिसमाप्यत इति भाष्यम्]। अर्थः—(इण्कोः) इण् प्रत्याहार अथवा कवर्ग से परे (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश (नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये) नुम्, विसर्ग अथवा शर् इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर (अपि) भी हो जाता है। सकार को मूर्धन्य (मूर्धा स्थान वाला) षकार हो जाता है—यह पीछे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'पिपठीः सु' यहां विसर्ग का व्यवधान तथा 'पिपठीस्सु' यहां शर् सकार का व्यवधान होने पर भी इण् ईकार से पर दोनों जगह प्रकृतसूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है—१ पिपठीः षु, २ पिपठीस्षु। अब सकारपक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से सकार को षकार होकर—"१ पिपठीः षु, २ पिपठीष्षु" इस प्रकार दो रूप निष्पन्न होते हैं। इसकी समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
द्वि०	पिपठिषम्	"	"
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
च०	पिपठिषे	"	पिपठीर्भ्यः
पं०	पिपठिषः	"	"
ष०	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
स०	पिपठिषि	"	पिपठीः षु / पिपठीष्षु
सं०	हे पिपठीः !	हे पिपठिषौ !	हे पिपठिषः !

—*—

[लघु०] चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु ॥

व्याख्या—चिकीर्ष् = करने की इच्छा वाला । कर्तुमिच्छतीति चिकीः । डुकृञ् करणे (तना० उभ०) धातु से 'धातोः कर्मणः—' (७०५) से सन्प्रत्यय, 'इको झल्' (७०६) से कित्त्व के कारण गुणाभाव, 'अज्झनगमां सनि' (७०८) से दीर्घ, 'ऋत इद्धातोः' (६६०) से इत्त्व रपर, 'हलि च' (६१२) से उपधादीर्घ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'कुहोश्चुः' (४५६) से चुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व होकर—चिकीर्ष । अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्ता में क्विप्, उसका सर्वापहार लोप तथा 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर—'चिकीर्ष्' शब्द निष्पन्न होता है ।

'चिकीर्ष्+स्' यहाँ सुँलोप होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) के प्राप्त होने पर 'रात्सस्य' (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है—'चिकीर्' । अब अवसान में 'खरवसानयोः—' (६३) से रेफ को विसर्ग करने पर—'चिकीः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	चिकीः	चिकीर्षौ	चिकीर्षः	प०	चिकीर्षः	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
द्वि०	चिकीर्षम्	,,	,,	ष०	,,	चिकीर्षोः	चिकीर्षाम्
तृ०	चिकीर्षा	चिकीर्भ्याम्†	चिकीर्भिः	स०	चिकीर्षि	,,	चिकीर्षु❀
च०	चिकीर्षे	,,	चिकीर्भ्यः	सं०	हे चिकीः !	हे चिकीर्षौ !	हे चिकीर्षः !

† यहां पदान्त में 'रात्सस्य' (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है । ध्यान रहे कि 'रात्सस्य' (८.२.२४) की दृष्टि में षत्व (८.३.५६) असिद्ध है । वह इसे सकार ही समझता है ।

❀ यहां 'रोः सुपि' (११०) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग नहीं होते हैं ।

अभ्यास (४४)

(१) (क) उपपद किसे कहते हैं ? सूत्र बता कर व्याख्यान करें ।

(ख) 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' सूत्र में 'अनुदके' कथन का क्या प्रयोजन है ?

(ग) 'चिकीर्षौ' में षकार खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(२) पिपठिष्, तादृश्, चिकीर्ष्, घृतस्पृश्—शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर शब्दनिष्पत्ति करो ।

(३) 'चिकीर्ष्+सुप्' यहां षकार होने से 'रात्सस्य' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

किञ्च रफ को विसर्गादेश भी क्या नहीं होता ?

(४) निम्नलिखित शब्दों की सूत्रनिर्देशपुरःसर सिद्धि करो—

१ षट् । २ षाढक । ३ नक । ४ षण्णाम् । ५ ष्ठ्याभ्याम् । ६ घृतस्पृक् । ७ पिपठी । ८ विट् । ९ चिकी । १० पिपठीःषु ।

(५) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि वोरुपधाया दीर्घ इकः, आ सर्वनाम्नः — इन सूत्रों की सविस्तर व्याख्या करें ।

(६) चिकीर्ष् पिपठिष् ईदृश उदश्वस्पृश—शब्दों की रूपमाला लिखें ।

यहां षकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं ।



[लघु०] विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ।।

व्याख्या—'विद् ज्ञाने' (अदा० प०) धातु से लट्, उसके स्थान पर शतृ, शप् उसका लुक तथा 'विदेः शतुर्वसुः' (८३८) से शतृ को वसु आदेश करने से विद्वस् शब्द निष्पन्न होता है। वसु आदेश में उकार की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः 'विद्वस्' शब्द उगित् है ।

विद्वस्+स् । उगित् होने से 'उगिदचाम्०' (२८६) द्वारा नुम् आगम, 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) से सान्तसंयोग के नकार की उपधा को दीर्घ होकर—विद्वान्स्+स् । अब सुलोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्तलोप करने से विद्वान् प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता । किञ्च सान्त वस्वन्त न होने से 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' (२६२) द्वारा दत्व भी नहीं होता ।

विद्वस्+औ । नुम् आगम तथा 'सान्तमहतः०' (३४२) से दीर्घ हो—विद्वान्स्+औ । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने पर 'विद्वांसौ' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यय् के परे न होने से 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । कई लोग 'विद्वाँसौ' वा 'विद्वान्सौ' लिखते हैं—वे ठीक नहीं । इसी प्रकार—'विद्वांसः' आदि बनते हैं ।

विद्वस्+अस् (शस्) । यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५३ वसोः सम्प्रसारणम् ।६।४।१३१।।

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। विदुषः । वसुस्रंसु—(२६२) इति दः—विद्वद्भ्याम् ।

अर्थः— वसुप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो जाता है ।

व्याख्या—वसोः । ६ । १ । ['भस्य' का विशेषण होने से अथवा प्रत्यय होने से तदन्तविधि हो जाती है ।] भस्य । ६ । १ । [अधिकृत है ।] अङ्गस्य । ६ । १ । [अधिकृत है] सम्प्रसारणम् । १ । १ । अर्थ —(वसोः =वस्वन्तस्य) वसुँप्रत्ययान्त (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है ।

विद्वस्+अस् । यहां 'विद्वस्' यह वसुँप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग है अतः इस के द्वितीय वकार ('न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' का ध्यान कर लें) को उकार सम्प्रसारण होकर—विदु अस्+अस् । 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०)† से प्रत्यय के सकार को षकार करने पर—विदुषस्='विदुषः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में प्रक्रिया होती है ।

'विद्वस्+भ्याम्' यहां 'वसुस्रंसु०' (२६२) से दकार होकर 'विद्वद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है । इसीप्रकार अन्य हलादि विभक्तियों में प्रक्रिया जान लेनी चाहिये ।

हे विद्वस्+स् । यहां नुम्, सुलोप तथा संयोगान्तलोप करने से—'हे विद्वन्' । सम्बुद्धि होने से 'सान्तमहतः०' (३४२) से दीर्घ न होगा ।

विद्वस् (विद्वान्) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
द्वि०	विद्वांसम्	,,	विदुषः	ष०	,,	विदुषोः	विदुषाम्
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	स०	विदुषि	,,	विद्वत्सु
च०	विदुषे	,,	विद्वद्भ्यः	सं०	हे विद्वन् !	हे विद्वांसौ !	हे विद्वांसः !

† ऋग्वेद । १ । २५ । ६ । के भाष्य में सायणमाधव ने 'दाशुषे' प्रयोग में 'शासिवसिघसीनां च' (५५४) से षत्व किया है, पर यह ठीक नहीं । पूर्वोत्तरसाहचर्य से इस सूत्र में 'वस्' धातु ही इष्ट है आदेश व प्रत्यय नहीं । अतः यहाँ 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व करना चाहिये ।

इसीप्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	प्रत्यय	शस् का रूप
१ ऊषिवस्	जो रह चुका है	क्वसु	ऊषुष
२ तस्थिवस	जो ठहर चुका है		तस्थुष
३ सेदिवस	जो गमन कर चुका है	,	सेदुष
४ शुश्रुवस	जो सुन चुका है		शुश्रुष
५ उपेयिवस्	जो प्राप्त कर चुका है		उपेयुष
६ अनाश्वस	जिसने भोजन न किया		अनाशुष
७ अधिजग्मिवस्	जो प्राप्त कर चुका है		अधिजग्मुष

ईयसुन्प्रत्ययान्तों के रूप भी प्रायः 'विद्वस्' शब्द की तरह होते हैं। केवल शसादियों में सम्प्रसारणकार्य तथा 'वसु' आदि में भी नहीं होता। जिसप्रकार 'श्रेयस्' (बहुत अच्छा) शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांस	पं०	श्रेयस	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्य
द्वि०	श्रेयांसम्	,	श्रेयस	ष०	,	श्रेयसो	श्रेयसाम्
तृ०	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्[1]	श्रेयोभि	स०	श्रेयसि	,	श्रेयःसु श्रेयस्सु†
च०	श्रेयसे	,,	श्रेयोभ्य	सं०	हे श्रेयन् ! हे श्रेयांसौ ! हे श्रेयांस !		

१ ससजुषो रुः (१०५), हशि च (१०७)। †वा शरि (१०८)

इसीप्रकार— १ अल्पीयस्=दोनों में थोड़ा। २ कनीयस्=दोनों में छोटा। ३ यवीयस्=दोनों में जवान अथवा छोटा। ४ प्रेयस्=बहुत प्यारा। ५ वर्षीयस= बहुत बूढ़ा। ६ गरीयस्=बहुत भारी। ७ वरीयस्=बहुत श्रेष्ठ। ८ स्थेयस्=बहुत स्थिर। प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—जब ईयसुन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में आते हैं तब 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप् प्रत्यय होकर—श्रेयसी, अल्पीयसी, कनीयसी प्रभृति शब्द बन जाते हैं। वसुँप्रत्ययान्तों से भी स्त्रीत्व में ङीप् होता है परन्तु सम्प्रसारण विशेष होता है।

---

* इन में इट् आगम भसंज्ञक में प्रवृत्त नहीं होता। 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' (प०) अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर तत्प्रयुक्त कार्य नहीं करना चाहिये। जब 'वसु' प्रत्यय, भसंज्ञक में वकार का सम्प्रसारण हो जाने से वलादि ही नहीं रहता तब तत्प्रयुक्त कार्य वलादिलक्षण इट आगम भी नहीं होता।

यथा — विदुषी, ऊषुषी आदि । इन सब का उच्चारण नदीवत् समझना चाहिये । नपुंसक में पदान्त मे दत्व होगा—विद्वत् आदि ।

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३५४ पुंसोऽसुङ् ।७।१।८९॥

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात् । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु ॥

अर्थः —सर्वनामस्थान की विवक्षा होने पर 'पुंस्' शब्द को असुङ् हो जाता है ।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने । ७ । १ । ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] पुंसः । ६ । १ । असुङ् । १ । १ । 'सर्वनामस्थाने' में परसप्तमी मानने से 'परमपुमान्' यहां अनिष्ट स्वर प्राप्त होता है । अतः 'विवक्षिते' का अध्याहार कर भावसप्तमी मान लेते हैं । अर्थः — (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान विवक्षित होने पर (पुंसः) पुंस् शब्द के स्थान पर (असुङ्) असुङ् आदेश हो जाता है ।

सर्वनामस्थान (सुँ औ, जस् अम् औट्) लाने से पूर्व उसके लाने की इच्छा मात्र होने पर ही असुङ् आदेश हो जाता है । असुङ् ङित् है, अतः वह 'ङिच्च' (४६) द्वारा 'पुंस्' के अन्त्य अल् सकार के स्थान पर होता है ।

पुंस्=पुरुष

'पूञ् पवने (क्र्या० उभ०) धातु से 'पूञो डुम्सुन्' ※ (उणा० ६१८) द्वारा डुम्सुन्' प्रत्यय होकर उणादयो बहुलम्' (३ ३ १) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्य से 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) द्वारा डु की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु 'चुटू' (१२९) से केवल डकार की ही इत्सञ्ज्ञा होकर उस् अनुबन्ध का लोप करने से—पु + उम्स् । डित्व करणसामर्थ्य से टि का भी लोप होकर—प + उम्स् = पुम्स् । अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) द्वारा मकार को अनुस्वार करने पर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

अब 'सुँ' सर्वनामस्थान करने की इच्छामात्र में, प्रत्यय करने से पूर्व ही 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा सकार को असुङ् आदेश होने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से अनुस्वार भी अपने पूर्वरूप मकार में परिणत हुआ—पुमस् । अब सुँप्रत्यय लाने पर

※ 'पातेर्डुम्सुन्' इति पाठान्तरम् । सूते सस्य पः ह्रस्वो म्सुः प्रत्यय इति स्त्रियामिति सूत्रे भाष्य उक्तम् । न्यासे तु—'पुनातेर्मक्सुन् ह्रस्वश्चे' ति पठितम् । उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता इति तत्त्वम् ।

उगिदचाम् ' (२८६) से नुम्, अनुबन्धलोप सान्तमहत (३४२) से दीर्घ सुँलोप तथा सयोगान्तलोप होकर—'पुमान्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि म केवल 'सान्तमहत —' (३४२) म दीर्घ नहीं होता शेष सब प्रक्रिया सुँ प्रत्ययवत् जाने —हे पुमन् !।

पुस्+औ=पुमस+औ। नुम् दीर्घ तथा अनुस्वार होकर— पुमांसौ । इसी प्रकार अन्य सर्वनामस्थान प्रत्यया म भी जान ले ।

अब आगे की विभक्तियों की विवक्षा म असुङ न होगा। पुंस्+अस (शस्)= पुंस ।

पुंस+भ्याम्। यहां 'सयोगान्तस्य लोप' (२०) से सयोगान्त† सकार का लोप होकर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय' इस न्यायानुसार अनुस्वार पुन मकाररूप म परिणत हो जाता है—पुम्+भ्याम्। अब 'मोऽनुस्वार' (७७) से पुन मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) द्वारा उसे विकल्प करके परसवर्ण—मकार करने से—'पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते है।

पुंस्+सुप। सयोगान्तलोप, अनुस्वार की मकाररूप म परिणति तथा मोऽनुस्वार ' (७७) से अनुस्वार होकर 'पुंसु' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां यय परे न रहने से वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

पुंस् शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांस	प०	पुंस	पुम्भ्याम्	पुम्भ्य
द्वि०	पुमांसम्	,,	पुंस	ष०	,,	पुंसो	पुंसाम्
तृ०	पुंसा	पुम्भ्याम्†	पुम्भि	स०	पुंसि	,,	पुंसु
च०	पुंसे		पुम्भ्य	स०	हे पुमन !	हे पुमांसौ !	हे पुमांस !

† भ्याम्, भिस् और भ्यस् म अनुस्वारपक्षीय रूप भी जान लेनें।

[लघु०] 'ऋदुशनस्—' (२०५) इत्यनङ्। उशना। उशनसौ।

वा०—(२८) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्य ॥

---

† ध्यान रहे कि अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) की गणना अट्प्रत्याहार तथा शर्प्रत्याहार म भाष्यकार ने स्वीकार की है। इससे अनुस्वार को हल् मानकर सयोगसञ्ज्ञा हो जाती है।

हे उशन् !, हे उशनन् !, हे उशन !। हे उशनसौ। उशनोभ्याम्। उशनःसु। उशनस्सु।

अर्थः— उशनस् शब्द के सकार को विकल्प करके अनङ् होता है तथा नकार का लोप भी विकल्प करके हो जाता है।

व्याख्या— उशनस्=शुक्राचार्य्य।

'वशँ कान्तौ' (अदा० प०) धातु से 'वशेः कनसिः' (उणा० ६७८) द्वारा 'कनसि' प्रत्यय तथा 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण और सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप होकर 'उशनस्' शब्द निष्पन्न होता है।

उशनस्+सुँ। यहां ऋदुशनस्० (२०५) सूत्र से सकार को अनङ् आदेश होकर ङ अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—उशन अन्+स्। 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप हो—उशनन्+स। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से नान्त की उपधा को दीर्घ हो—उशनान्+स। हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) सूत्र से सुँलोप तथा 'न लोपः०' (१८०) से नकार का लोप होकर—'उशना' प्रयोग सिद्ध होता है।

उशनस्+औ=उशनसौ। इत्यादि।

सम्बुद्धि में हे उशनस्+सुँ। यहां 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः' वार्त्तिक से विकल्प कर के 'अनङ्' होकर अनङ्पक्ष में अनुबन्धलोप, पररूप, सुँलोप तथा विकल्प करके नकार का लोप करने से—'हे उशन, हे उशनन्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। 'अनङ्' के अभाव में सुलोप, रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हे उशनः' यह एक रूप सिद्ध होता है। सब मिलाकर सम्बुद्धि में तीन रूप बनते हैं—

१ हे उशन !। २ हे उशनन् !। ३ हे उशनः !।	"सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपम्, सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्॥"

उशनस्+भ्याम्। यहां पदान्त में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण होकर—'उशनोभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उशनस्+सुप्। यहां पदान्त में रुँत्व, 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र के प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'वा शरि'

(१०४) सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग आदेश करने से— उशनः सु उशनस्सु ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	उशना	उशनसौ	उशनसः
द्वितीया	उशनसम्	„	„
तृतीया	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
चतुर्थी	उशनसे	„	उशनोभ्यः
पञ्चमी	उशनसः		
षष्ठी	„	उशनसोः	उशनसाम्
सप्तमी	उशनसि	„	उशनः सु उशनस्सु
सम्बोधन	हे उशन उशनन् उशनः ! हे उशनसौ !		हे उशनसः !

नोट— अस्य सम्बुद्धौ यह वस्तुतः वार्त्तिक नहीं काशिकाकार का वचन है। पता नहीं लग सका कि यह वचन उन्होंने कहां से लिया है। भाष्य में इसका कुछ पता नहीं चलता। अतः कई लोग इसे अप्रमाण मानते हैं।

[लघु०] अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः ।।

व्याख्या— अनेहस् = समय।

नञ् उपपद वाली हन हिंसागत्योः (अदा० प०) धातु से 'नञि हन एह च' (उणा ६६३) सूत्र द्वारा 'असि प्रत्यय* तथा हन् को एह्' आदेश होकर नञ्कार्य करने से—'अनेहस्' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी प्रक्रिया भी उशनस् शब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि में इसका एक रूप बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अनेहा†	अनेहसौ	अनेहसः
द्वि०	अनेहसम्		„
तृ०	अनेहसा	अनेहोभ्याम्×	अनेहोभिः
च०	अनेहसे	„	अनेहोभ्यः
पं०	अनेहसः	अनेहोभ्याम्	अनेहोभ्यः
ष०	„	अनेहसोः	अनेहसाम्
स०	अनेहसि	„	अनेहःसु, स्सु[1]
स	हे अनेहः[2] !	हे अनेहसौ !	हे अनेहसः !

† ऋदुशनस्—' (२ ४) से अनङ् अनुबन्धलोप, पररूप, नान्त की उपधा का दीर्घ सुँलोप तथा नलोप होकर— अनेहा' सिद्ध होता है।

× 'ससजुषो रुः' (१ ४), 'हशि च' (१०७), आद्गुणः' (२१)।

१ रुँत्व विसर्ग होकर वा शरि' (१०४) हो जाता है।

२ सुलोप, रुँत्व तथा अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं।

* शेखरकार तथा उसके अनुयायी बालमनोरमाकार का 'अनेहस्' शब्द को असुन्नन्त बतलाना ठीक नहीं, क्योंकि वैसा मानने से 'उगिदचाम् ' द्वारा नुम् आगम प्राप्त होगा।

[लघु०] वेधा । वेधसौ । हे वेध ।। वेधोभ्याम् ।

व्याख्या— वेधस् = ब्रह्मा ।

विपूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयो' (जुहो० उभ०) धातु से 'विधाञो वेध च (उणा० ६६४) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'असि' प्रत्यय तथा सोपसर्ग 'धा' को 'वेध्' आदेश होकर 'वेधस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

वेधस + सुँ । अत्वसन्तस्य चाधातो' (३४३) से दीर्घ, हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) से सुँलोप तथा प्रकृति के सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—'वेधा प्रयोग सिद्ध होता है ।

आगे की विभक्तियों में समस्त प्रक्रिया अनेहस्' की तरह होती हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	वेधा	वेधसौ	वेधस	प०	वेधस	वेधोभ्याम्	वेधोभ्य
द्वि०	वेधसम्	,	,	ष०	,	वेधसो	वेधसाम्
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्+	वेधोभि	स०	वेधसि		वेध सु, वेधस्सु
च०	वेधसे	,,	वेधोभ्य	सं०	हे वेध !×	हे वेधसौ !	हे वेधस !

+ रुँत्व उत्व तथा गुण हो जाता है । × सुँलोप, रुँत्व तथा विसर्ग होते हैं ।

इसीप्रकार—१ वनौकस् (बन्दर) २ दिवौकस् (देवता), ३ हिरण्यरेतस् (सूर्य व अग्नि) ४ चन्द्रमस् (चन्द्रमा) ५ सुमनस् (देवता), ६ प्रचेतस् (वरुण), ७ सुमेधस (अच्छी बुद्धि वाला) ८ नृचक्षस् (मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला । अथर्व० ७।४२।१, ८।३।१०), ९ जातवेदस् (अग्नि) १० अङ्गिरस् (एक ऋषि), ११ विश्ववेदस् (सब कुछ जानने वाला) १२ पुरोधस् (पुरोहित), १३ वयोधस् (तरुण, जवान)—प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं ।

[लघु०]—विधि सूत्रम्—३५५ अदस औ सुँलोपश्च ।७।२।१०७॥

अदस औत् स्यात् सौ परे सुँलोपश्च । तदो —(३१०) इति स ।
असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धि ॥

अर्थ —सुँ परे होने पर अदस् शब्द के अन्त सकार को औकार तथा सुँ का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—सौ ।७।१। [तदो स सावनन्त्ययो' से] अदस ।६।१। औ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हुआ है ।] सुँलोप ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समास —सोर्लोप = सुलोप, षष्ठीतत्पुरुष । अर्थ —(सौ) सुँ परे होने पर (अदस) अदस् शब्द के

स्थान पर (औ) 'औ' आदेश होता है (च) तथा (सुँलोप) सुँ का भी लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह औकार आदेश अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर होगा। 'अदस औ' इस अंश में यह सूत्र 'त्यदादीनाम' (१९३) सूत्र का अपवाद है।

अदस्*+सुँ । यहां 'त्यदादीनाम' (१९३) के प्राप्त होने पर 'अदस औ सुँलोपश्च' (३५५) सूत्र से सकार को औकार तथा सुँ का लोप होकर—अद+औ। 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—'अदौ'। अब लुप्त हुए सुँप्रत्यय को मान कर 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) सूत्र से दकार को सकार करने पर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अदौ' इस अवस्था में अदसोऽसेर्दादु दो मः (८.२.८०) सूत्र भी प्राप्त होता है परन्तु 'तदोः सः ...' (७.२.१०६) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से वह प्रवृत्त नहीं होता।

अदस्+औ। यहां 'त्यदादीनाम' (१९३) सूत्र से सकार को अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर—'अद+औ'। अब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर—'अदौ'। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५६ अदसोऽसेर्दादु दो मः ।८।२।८०॥

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उ, दीर्घस्य ऊ। अमू। जसः शी। गुणः।

अर्थः—जिस के अन्त में सकार न हो ऐसे अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उकार और ऊकार हो जाता है तथा दकार को मकार भी होता है।

व्याख्या—अदसः ।६।१। असेः ।६।१। दात् ।५।१। उ ।१।१। दः ।६।१। मः ।१।१। समासः—नास्ति सिः = सकारः (सकाराद् इकार उच्चारणार्थः।) यस्मिन् सः = असिः तस्य = असेः। नञ्बहुव्रीहिसमासः। यह 'अदसः' का विशेषण है अतः इससे तदन्तविधि हो जाती है। उश्च ऊश्च = उ, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(असेः) असान्त अर्थात् जिस के अन्त में सकार विद्यमान नहीं ऐसे (अदसः) अदस् शब्द के (दात्) दकार से पर वर्ण को (उ) उकार तथा ऊकार हो जाता है तथा (दः) दकार के स्थान पर (मः) म् भी हो जाता है।

असान्त अदस् शब्द के दकार से परे वाला वर्ण प्रायः ह्रस्व या दीर्घ हुआ करता

---

* अदस् शब्द का सर्वादिगणान्तर्गत त्यदादियों में पाठ आया है। अतः इसकी 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वनाम सञ्ज्ञा भी यथावसर समझ लेनी चाहिये।

है×। 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार होगा+।

'अदौ' यहां असान्त अदस् शब्द के दकार से परे दीर्घ औकार विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से औकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अस (जस)। यहां 'त्यदादीनाम' (१९३) से सकार को अकार 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप 'जसः शी' (१५२) से जस को शी तथा 'आद्गुणः' (२७) सूत्र से गुण होकर— 'अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३५७ एत ईद् बहुवचने ।८।२।८१॥

अदसो दात्परस्य एत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चाद् उत्व-मत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसञ्ज्ञाया नाभावः॥

अर्थः—अदस शब्द के दकार से परे एकार को ईकार तथा दकार को मकार हो जाता है बहुत अर्थों की उक्ति में।

व्याख्या—अदसः।६।१। दात्।५।१। ['अदसोऽसे—' से] एतः।६।१। ईत्।१।१। दः।६।१। मः।१।१। ['अदसोऽसे—' से] बहुवचने।७।१। समासः—बहूनां वचनम् उक्तिः = बहुवचनम्, तस्मिन् = बहुवचने❀। षष्ठीतत्पुरुषसमासः।

× कहीं अपवादवश 'हल' भी हो जाता है, जैसे—अदद्र्यङ, अमुमुयङ्। यहाँ दकार से परे 'र्' है।

+ आन्तर्य अर्थात् सादृश्य चार प्रकार का होता है—यह हम पीछे 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) सूत्र पर लिख चुके हैं। यहाँ प्रमाणकृत आन्तर्य द्वारा ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व तथा दीर्घ के स्थान पर दीर्घ होता है।

❀ यहां 'बहुवचन' शब्द से पारिभाषिक बहुवचन—जस्, शस् आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैसा अर्थ करने से 'अदेभ्यः = अमीभ्यः, अदेभिः = अमीभिः' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर भी 'अदे = अमी' यहां प्रयोगसिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि 'अदे' में एकार स्वयं बहुवचन है इससे परे अन्य कोई बहुवचन नहीं है। अतः यहाँ 'बहुवचने' पद को यौगिक स्वीकार कर 'बहुतों की उक्ति अर्थात् बहुत्व की विवक्षा में' ऐसा अर्थ करना उचित है। इस अर्थ से 'अदे' आदि सब स्थानों पर बहुत्व की विवक्षा वर्तमान रहने से कोई दोष प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र पर भाष्यकार ने लिखा है—

{ नेदं पारिभाषिकस्य बहुवचनस्य ग्रहणम्। किं तर्हि ?
अन्वर्थग्रहणमेतत्। बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम्॥ }

अथ —(बहुवचने) बहु व की विवक्षा म (अन्स) अदस शब्द के अवयव (दात्) दकार स परे (एत) ए' के स्थान पर (ईन) ई' आदेश हो जाता है तथा (द) उस दकार के स्थान पर (म) म् आदश हो जाता ह।

अदे' यहा प्रकृतसूत्र से एकार को इकार तथा दकार का मकार होकर—'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अम्। यहा यन्याद्यत्र और पररूप होकर— अन+अम्। अब यहा अमि पूव (६ १ १०४) म पूवरूप तथा अदसोऽन्दात्तु दो म (८ २ ८०) से उत्व मत्व युगपत् प्राप्त हाते ह। पूवत्रासिद्धम् (३१) द्वारा उत्वम'वविधायक सूत्र के असिद्ध होने स प्रथम पूवरूप हाकर 'अन्म् बन जाता ह। तन्न तर उत्व मत्व हो अमुम्' प्रयोग सिद्ध हाता हं।

"पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्य प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे।"

अर्थात् पूवत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र स—'अदसोऽसे — (३५६) तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) सूत्र के असिद्ध होने स प्रथम 'अमि पूर्व' (१३५) आदि सूत्रों द्वारा विभक्तिकाय होगा तदनन्तर उन सूत्रों की प्रवृत्ति होगी। परन्तु अब इस पर यह विचार उपस्थित होता ह कि क्या 'पूर्वत्रासिद्धम् से कार्य असिद्ध किया जाता है या शास्त्र असिद्ध ?

यदि किये हुए काय को असिद्ध मानेंगे ता प्रथम काय का विद्यमान होना आवश्यक होगा क्योंकि यदि कार्य ही विद्यमान न रहेगा तो पुन वह असिद्ध कैस हो सकेगा ? अत कार्यासिद्धपक्ष म प्रथम 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) सूत्र के बल से भावी असिद्ध कार्य कर चुकने पर पश्चात् 'पूवत्रासिद्धम्' से वह पूव की दृष्टि म असिद्ध होगा अन्यथा नहीं। इस पक्ष मे 'अद+अम् यहा प्रथम 'विप्रतिषधे पर कायम्' द्वारा पूवरूप की अपेक्षा पर हाने से उत्व-मत्व होकर—'अमु+अम्' बन जायगा। तदनन्तर 'पूवत्रासिद्धम्' द्वारा मुकार्य को पूवरूप की दृष्टि म असिद्ध माना जायगा। अब इस मुकाय के असिद्ध माने जाने पर भी पूवरूप नहीं हो सकगा, क्योंकि—"देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य पुनरुन्मज्जनं न भवति" अथात् देवदत्त के हन्ता के मारे जाने पर भी देवदत्त की पुनरुत्पत्ति नहीं हा सकती। इस न्यायानुसार द' के हन्ता 'मु' के असिद्ध होने पर भी पुन 'द' नहीं आ सकेगा, क्योंकि उसका तो विनाश हो चुका है। इस प्रकार 'द' के न आने से अ् नहीं मिलेगा तब 'अमि पूर्व' द्वारा पूर्वरूप न हो सकेगा। अत यह पक्ष ठीक नहीं।

अब यदि शास्त्रासिद्ध पक्ष स्वीकार करते हैं तो इस पक्ष मे दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा परशास्त्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। इससे पूर्वले सवासात अध्यायों के सूत्रों की दृष्टि मे वह सूत्र नहा रहता उसके न रहने से विप्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि विप्रतिषेध वहा होता है जहा अ यत्रान्यत्रलब्धावकाश सूत्र परस्पर की दृष्टि मे भावात्मक होते हुए एक स्थान पर प्राप्त हो। यहा पूर्व की दृष्टि में पर सूत्र अभावात्मक होने से वतमान नहीं रहता अत प्रथम पूर्वसूत्र प्रवृत्त होता है और तदनन्तर असिद्ध सूत्र। इस प्रकार इस पक्ष क स्वीकार करने से 'अद + अम्' यहा पर 'अदसोऽस —' तथा अमि पूर्व ' इन दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रा सिद्धम्' द्वारा 'अमि पूर्व (६ १ १०४) की दृष्टि मे अदसोऽसे -- (८ २ ८०) सूत्र असिद्ध अथात् अभावात्मक हो जाता है। अत प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' हो जाने पर पश्चात् उत्व मत्व करने से 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

अत पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र मे शास्त्रासिद्ध पक्ष ही स्वीकार करना चाहिये कार्यासिद्ध नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र की वृत्ति में इसी पक्ष का अनुमोदन किया है—" सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति पर शास्त्रम् असिद्धम्'। विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) सूत्र पर भी यही स्वीकार किया है—'पूर्वत्रासिद्धमिति 'रोरी' त्यस्यासिद्धत्वाद् उत्वमेव"। भाष्यकार भी इसी पक्ष के पक्षपाती हैं—"पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य"। इस विषय का अन्यविस्तृत विचार व्याकरण के उच्चग्रन्थों मे देखे।

अदस + अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर— अद + अस्। अब अदसोऽसे —' (३५६) के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ और शस् के सकार का नकार करने से—'अदान्'। अब 'अदसोऽसे —' से दकारोत्तर आकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर 'अमून्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + आ (टा)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—अद + आ। अब यहा यद्यपि अदसोऽसे —' के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य अर्थात् 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) सूत्र से टा को इन आदेश प्राप्त होता है तथापि 'न मुने' (३५८) सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से† वह नहा होता अत 'अदसोऽसे —' से दकारोत्तर अकार को उकार

† यदि यहाँ टा को इन कर दें तो 'न मु ने' (३५८) सूत्र बनाने का कुछ प्रयोजन नहा रहता। अत इसका बनाना तभी सार्थक किया जा सकता है जब 'इन' आदेश न होकर 'मु' हो जाए। यही इसका आरम्भसामर्थ्य है।

तथा दकार को मकार हो जाता है—अमु + आ। अब यहां मु' भाव के असिद्ध होने से 'शेषो घ्यसखि' (१७०) द्वारा घिसञ्ज्ञा नहीं हो सकती और बिना घिसञ्ज्ञा के 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) सूत्र से टा को ना नहीं हो सकता पर हम ना' करना अभीष्ट है। अत 'मु' भाव को सिद्ध करने के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्— २५८ न मु ने ।८।२।३॥

'ना' भावे कर्त्तव्ये कृते च मु' भावो नासिद्ध । अमुना । अमूभ्याम् । अमीभि । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयो २ । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमीषु ॥

अर्थ —— ना आदेश करना हो या कर चुके हो तो मु' आदेश असिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । मु । १ । १ । ने । ७ । १ । असिद्धम् । १ । १ । [पूर्वत्रासिद्धम् से] समास —म् च उश्च = मु । समाहारद्वन्द्व । 'ने यह ना शब्द का सप्तमी का एकवचन है—ना + ङि = ना + इ = ने । यहां भावसप्तमी या वैषयिक सप्तमी समझनी चाहिये । अर्थ —(ने) ना' के विषय में अथवा ना' परे होने पर × (मु) 'मु आदेश (असिद्धम्) असिद्ध (न) नहीं होता।

अमु + आ' यहां ना के विषय में 'मु' आदेश असिद्ध न हुआ तो घिसञ्ज्ञा होकर आङो नाऽस्त्रियाम् (१७१) से टा को ना करने पर— अमुना' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

सूचना—ध्यान रहे कि 'अमुना' में ना' के परे होने पर 'मु' आदेश के असिद्ध होने से 'सुपि च' (१४१) द्वारा दीर्घ प्राप्त होता है। वह भी न मु ने' (२५८) से 'मु' आदेश के सिद्ध हो जाने पर नहीं होता । इसीलिये तो 'ने' में दो प्रकार की सप्तमी स्वीकार कर के 'ना करने में या ना परे होने पर" ऐसा अर्थ किया गया है।

अदस् + भ्याम् । त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'सुपि च (१४१) से दीर्घ हो जाता है—अदाभ्याम् । अब 'अदसोऽसे —' (३५६) से उत्व म व करने से—'अमूभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + भिस् । त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'अद + भिस्' । इस अवस्था में 'अतो भिस ऐस्' (१४२) प्राप्त होता है परन्तु उसका 'नेदमदसोरको' (२७६) से निषेध हो जाता है। अब 'बहुवचने झल्येत्' (१४२) द्वारा एकारादेश कर 'एत ईद् बहुवचने'

× भावसप्तमी का 'पर' अर्थ में पर्यवसान हुआ करता है—यह रहस्य पीछे 'तस्मिन्निति '(१६) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

(३५६) से एकार को इकार तथा दकार को मकार करने से— अमीभि प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+ए (ङे)। त्यदाद्यत्व पररूप, 'सर्वनाम्न स्मै (१५३) से ङे को स्मै, उत्व तथा 'आदेशप्रत्ययो, (१५०) से षत्व होकर—'अमुष्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+भ्यस्। यदाद्यत्व, पररूप 'बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) से ईत्व मत्व होकर—'अमीभ्य'।

अदस्+अस् (ङसि)। त्यदाद्यत्व पररूप तथा ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ' (१५४) से 'स्मात् आदेश उत्व मत्व तथा षत्व होकर— अमुष्मात्'।

अदस्+अस (ङस)। त्यदाद्यत्व, पररूप टङसिङसामिनात्स्या' (१४०) से स्य आदेश उत्व मत्व तथा षत्व होकर—'अमुष्य'।

अदस्+आस्'। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'ओसि च' (१४७) से एत्व, एचोऽयवा याव (२२) से अय् आदेश होकर—अदया। अब उत्व मत्व होकर— अमुयो'।

'अदस्+आम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, आमि सर्वनाम्न सुट्' (१५५) से सुट आगम, 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व मत्व और षत्व करने से—'अमीषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+इ (ङि)। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर 'ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि को स्मिन् सु आदेश तथा षत्व करने पर—'अमुष्मिन्'।

अदस्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व पररूप, 'बहुवचने' झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व मत्व तथा आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व करने पर—'अमीषु। अदस् (वह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमी	प०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्य
द्वि०	अमुम्	,	अमून्	ष०	अमुष्य	अमुयो	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभि	स०	अमुष्मिन्	,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्य		सम्बोधन प्राय नहीं होता।		

अभ्यास (४५)

१ (क) विद्वान्' में वसुस्र सु ' सूत्र से दत्व क्यों नहीं होता ?

(ख) 'विद्वांसौ' मे अनुस्वार को परसवर्ण क्यों नहीं होता ?

(ग) 'अनेहस्' को असुन्नन्त मानने में क्या दोष उत्पन्न होगा ?

२ व्याख्या करो—

(क) 'सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।

(ख) "आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उ दीर्घस्य ऊ।'

(ग) "अकृत यूहा पाणिनीया।'

(घ) अन्स आ सुलोपश्च, अदसोऽसेर्दादु दो म, वसो सम्प्रसारणम्।"

३ पुंसु, नेदोभ्याम्, अमी, विद्वद्भ्याम् अमुना, अयासौ अमू, तस्थुष, अमुष्मिन् विद्वन्"— इन रूपों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

४ एत इद बहुवचने सूत्र की व्याख्या करते हुए 'बहुवचनपद पारिभाषिक नहीं किन्तु यौगिक है"—इसकी व्याख्या करो।

५ जब अनुस्वार का पाठ हल्प्रत्याहार में नही आता तो पुन पुंस्+भ्याम्' आदि में कैसे सयोगसञ्ज्ञा होकर सयोगान्तलोप हो जाता है?

६ निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखकर प्रथमा के एकवचन में ससूत्र सिद्धि करें—१ वनौकस्, २ उशनस् ३ अनेहस, ४ पुंस् ५ वरीयस्, ६ वेधस् ७ अदस्।

७ "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र द्वारा कार्यासिद्ध और शास्त्रासिद्ध पक्षों में से किस पक्ष का प्रतिपादन होता है—सोदाहरण सप्रयोजन सविस्तर व्याख्या करो।

८ 'न मु ने' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'कर्त्तव्ये कृते च' कथन का विवेचन करो।

९ पुंस् और विद्वस् शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर निष्पत्ति लिखो।

१० 'पुंसोऽसुङ् सूत्र पर— सर्वनामस्थाने परे होने पर' ऐसा न कहकर 'सर्वनामस्थाने विवक्षिते' ऐसा क्यों कहा गया है?

यहां सकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

[लघु०] इति हलन्ता पुल्लिङ्गा [शब्दा]।

अर्थ—यहां 'हलन्त पुल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

इति भैमीव्याख्ययो—

पबृंहिताया लघुसिद्धान्त—

कौमुद्या हलन्तपुल्लिङ्ग

प्रकरण पूर्तिमगात्॥

—९—

* अथ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् *

— ❀ —

अब क्रमप्राप्त हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में भी सब शब्द प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। अब प्रथम 'हयवरट्' के क्रमानुसार हकारान्त शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५६ नहो धः ।८।२।३४।।

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च।

अर्थ—नह् धातु के हकार का धकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] नहः ।६।१। धः ।१।१। धकारादकार उच्चारणार्थ। अर्थ—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (नहः) नह् धातु के स्थान पर (धः) ध् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश नह् धातु के अन्त्य अल् हकार के स्थान पर होगा।

इस सूत्र का उपयोग 'उपानह्' शब्द में किया जाता है अतः प्रथम 'उपानह्' शब्द सिद्ध किया जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३६० नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ।६।३।११५।।

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु।

अर्थ—क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु परे हो तो पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनिषु ।७।३। क्वौ ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] यह सूत्र उत्तरपदाधिकार में पढ़ा गया है अतः 'पूर्वस्य' का 'पदस्य' विशेषण उपलब्ध हो जाता है। यद्यपि 'क्वि' ग्रहण से क्विप्,

क्विन् दोनों का ग्रहण हो सकता है तथापि नह् आदि धातु से क्विन् का विधान न होने से अवशिष्ट क्विप् का ही ग्रहण होता है। अथ —(क्वौ) क्विप् पर होने पर (नहि तनिषु) जो नह , वृत्, वृष यध् रुच्, मह और तन् धातु इनके पर होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (पदस्य) पद के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यस्य' (२१) तथा 'अचश्च' (१ २ २८) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर होता है।

"क्विप् पर होने पर जो नह् वृत् आदि धातु उनके पर होने पर —इसका अभिप्राय "क्विबन्त नह वृत् आदि धातु पर होने पर ऐसा समझना चाहिये। अतएव वृत्ति में यही लिखा है।

उपानह् = जूता।

'उप' पूर्वक 'णहँ बन्धने' (दिवा० उभ) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप तथा प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे मानकर 'नहि-वृति (३६०) से पूर्वपद के अन्त्य अच को दीर्घ होकर— उपानह्' शब्द निष्पन्न होता है।

उपानह् + स् (सुँ)। अपृक्त सकार का लोप होकर 'नहो ध (३५९) द्वारा पदान्त हकार को धकार, जश्त्व से दकार और चर्त्व से वैकल्पिक तकार करने पर— 'उपानत्, उपानद् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उपानह् + भ्याम्। यहा पदान्त मे नहो ध' (३५९) से हकार को धकार पुन जश्त्व से दकार करने पर 'उपानद्भ्याम् प्रयोग सिद्ध होता है।

उपानह् + सु (सुप)। 'नहो ध' (३५९) से धकार, जश्त्व से दकार तथा 'खरि च' (७४) से तकार होकर 'उपानत्सु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	उपानत् द्	उपानहौ	उपानह	प०	उपानह	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्य
द्वि०	उपानहम्	,,		ष०	,,	उपानहो	उपानहाम्
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भि	स	उपानहि	,	उपानत्सु
च०	उपानहे	,,	उपानद्भ्य	स०	हे उपानत् द्!	हे उपानहौ!	हे उपानह!

इसी प्रकार—परीणह् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि 'उपानह' प्रभृति शब्दों का स्त्रीत्व, विशेषण लगाते समय प्रकट होता है। यथा— इयम् उपानत्। इमे उपानहौ।

सूचना—ग्रन्थकार का 'नहि वृति ' (३६०) सूत्र यहा लिखना उचित प्रतीत

नहीं होता यदि लिखना ही था तो 'नहो ध' (३५६) सूत्र से पूर्व लिखना अधिक सौन्दर्यावह हो सकता था।

नोट—'नहि वृति ' सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—वृत्—नीवृत् (पु० स्त्री०) =जनपद, देश। वृष्—प्रावृष् (स्त्री०)=वर्षा ऋतु। व्यध्—हृदयावित् (त्रि०)= हृदय को बींधने वाला। रुच—नीरुच् (त्रि०)=नीरोगी। सह्—ऋतीसह (त्रि०) =दुःखों को सहने वाला। तन्—परीतत् (त्रि०)=चारों ओर फैलने वाला।

[लघु०] क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घ। उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्॥

व्याख्या— उष्णिह् = छन्दोविशेष।

'उष्णिह्' शब्द 'उद्' पूर्वक 'ष्णिहँ' (दिवा० प०) धातु से क्विन्नन्त निपातन किया जाता है। [देखो—'ऋत्विग्दधृक' (३०१) सूत्र।]

उष्णिह्+सुँ। सुँलोप, क्विन्नन्त होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा हकार को घकार, जश्त्व से घकार को गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से गकार को ककार हो कर—'उष्णिक्, उष्णिग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	उष्णिक्, ग्	उष्णिहौ	उष्णिहः	प०	उष्णिहः	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्यः
द्वि०	उष्णिहम्	,,	,,	ष०	,,	उष्णिहोः	उष्णिहाम्
तृ०	उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्❀	उष्णिग्भिः	स०	उष्णिहि	,,	उष्णिक्षु†
च०	उष्णिहे	,,	उष्णिग्भ्यः	सं०	हे उष्णिक्, ग्!	हे उष्णिहौ!	हे उष्णिहः!

❀ क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४), झलां जशोऽन्ते (६७)।

† कुत्व, जश्त्व, षत्व, 'खरि च' (७४) से चर्त्व।

यहां हकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—०—

[लघु०] द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्॥

व्याख्या—'दिव्' शब्द विशुद्ध अवस्था में नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है। पुंल्लिङ्ग आदि में इसका प्रयोग बहुव्रीहिसमासवश हुआ करता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुदिव्' (पृष्ठ ४०८) शब्दवत् होती है। 'दिव्' (आकाश व स्वर्ग) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० द्यौ †	दिवौ	दिव	प० दिव	द्युभ्याम्	द्युभ्य
द्वि० दिवम्	,,	,,	ष०	दिवो	दिवाम्
तृ० दिवा	द्युभ्याम्+	द्युभि	स० दिवि	,,	द्युषु
च० दिवे	,,	द्युभ्य	स० हे द्यौ !	हे दिवौ !	हे दिव !

† दिव औत् (२६४)। + दिव उत् (२६५)।

यहां वकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—०—

[लघु०] गी । गिरौ । गिर । एवम्—पू ॥

व्याख्या— गिर् = वाणी।

'गॄ निगरणे (तुदा० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहार लोप, ऋृत इद्धातोः (६६०) से इत्व तथा उरण्रपरः (२६) से रपर करने पर गिर् शब्द निष्पन्न होता है।

गिर्+स् (सुँ)। सुँलोप होकर क्विबन्ता धातुत्वं न जहति (पृष्ठ २६५) इस कथन से धातु होने से पदान्त में 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (३५१) से उपधादीर्घ होकर 'गीर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने से—गीः प्रयोग सिद्ध होता है।

गिर्+औ=गिरौ। यहां पदान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं होता।

गिर्+भ्याम्। यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) द्वारा पद संज्ञा होने से 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (३५१) से उपधादीर्घ हो जाता है—गीर्भ्याम्।

गिर्+सुप्। यहां पदान्त मे उपधादीर्घ होकर सकार को षकार हो जाता है—गीर्षु। ध्यान रहे कि यहां 'रो: सुपि' (२६८) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग आदेश नहीं होते। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० गीः	गिरौ	गिरः	प० गिरः	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
द्वि० गिरम्	,,	,,	ष० ,,	गिरोः	गिराम्
तृ० गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः	स० गिरि	,,	गीर्षु
च० गिरे	,,	गीर्भ्यः	स० हे गीः !	हे गिरौ !	हे गिरः !

इसी प्रकार— पुर् = नगर।

'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व तथा 'उरण्रपरः' (२६) से रपर करने पर पुर्'

शब्द निष्पन्न होता है। इसकी भी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'गिर्' शब्द की तरह होती है।

रूपमाला यथा—

प्र०	पूः❀	पुरौ	पुरः	प०	पुरः	पूर्भ्याम्	पूर्भ्यः
द्वि०	पुरम्	,,	,,	ष०	,,	पुरोः	पुराम्
तृ०	पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः	स०	पुरि	,,	पूर्षु
च०	पुरे	,,	पूर्भ्यः	सं०	हे पूः !	हे पुरौ !	हे पुरः !

इसी प्रकार—धुर् (गाडी का अग्रिम भाग) प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] चतस्रः । चतसृणाम् ॥

व्याख्या— चतुर् = चार।

स्त्रीलिङ्ग मे विभक्ति परे होने पर चतुर् शब्द को त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (२२४) सूत्र से 'चतसृ' आदेश हो जाता है।

चतसृ + अस् (जस्)। ऋतो ङि० ' (२०४) से गुण प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'अचि र ऋतः' (२२५) सूत्र से रेफ आदेश करने पर—'चतस्रः' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ + अस (शस्)। यहा सर्वनामस्थान न होने से पूर्वोक्त गुण प्राप्त नहीं होता। 'प्रथमयोः ' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसका अपवाद रेफ आदेश हो जाता है—चतस्रः।

चतसृ + आम्। 'अचि र ऋतः' (२२५) को बाधकर 'नुमचिर० (वा० १६) की सहायता से पूर्वविप्रतिषेध से ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) से नुट् का आगम हो जाता है—चतसृ + नाम्। अब नामि (१४६) से प्राप्त होने वाले दीर्घ का 'न तिसृ चतसृ' (२२६) सूत्र से निषेध हो जाता है, पुनः 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व होकर 'चतसृणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ (स्त्रीलिङ्ग में चतुर्) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	चतस्रः	प०	०	०	चतसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	चतसृणाम्
तृ०	०	०	चतसृभिः	स०	०	०	चतसृषु
च०	०	०	चतसृभ्यः				

—❀—

यहां रेफान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

❀ इसका भ्रामक रूप इस उक्ति मे प्रसिद्ध है—"का पूर्वः" (का, पूः = नगरी, वः = युष्माकम्। तुम्हारी कौन सी नगरी है।)

[लघु०] का । के । का । सवावत् ।

व्याख्या— किम = कौन ।

किम् शब्द के पुलँ्लिङ्ग म रूप कह चुके हैं। अब स्त्रीलिङ्ग म रूप सिद्ध किये जाते हैं।

विभक्ति परे होने पर मत्रत्र किम क (२७१) द्वारा किम् को 'क' आन्श हो जाता हे। पुन स्त्रीत्व का विवक्षा म अन घतष्टाप् (१२४५) मे टाप प्रयय हाकर का शब्द निष्पन्न होता ह। इसम स्वान्यिा की उपत्ति होन पर सम्पूर्ण प्रक्रिया सवा' शब्दवत् होती है। का' (स्त्रीलिङ्ग म किम् शब्द) की रूपमाला यथा—

प्र०	का	के	का	प०	कस्या †	काभ्याम्	काभ्य
द्वि०	काम्	,,		ष०	†	कयो ⁂	कासाम्×
तृ	कया⁂	काभ्याम्	काभि	स०	कस्याम् †	⁂	कासु
च	कस्यै †	,,	काभ्य		सम्बोधन प्राय नहीं होता।		

⁂ आङि चाप (२१८)। † सवनाम्न स्याड् ढ्रस्वश्च (२२०)। × सुट्।

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६१ यः सौ ।७।२।११०॥

इदमो दस्य य । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । टाप् । 'दश्च' (२७५) इति म । इमे । इमा । इमाम् । अनया । 'हलि लोप' (२७७) आभ्याम् । आभि । अस्यै । अस्या । अनया । आसाम् । अस्याम् । आसु ॥

अर्थ —सुँ परे होने पर इदम् के दकार को यकार हो जाता है।

व्याख्या—इदम ।६।१। ['इदमो म स'] द ।६।१। ['दश्च' से] य ।१।१। सौ ।७।१। अथ —(इदम) इदम् शब्द क (द) द् के स्थान पर (य) य् आदेश हो जाता है (सौ) सुँ परे होने पर।

यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है। क्योंकि पुल्लिङ्ग मे सुँ परे होने पर 'इदोऽय् पुसि' (२७३) सूत्र से इद् को अय आदेश हो जानेसे दकार नहीं मिल सकता। नपुसक में भी सुँ का लुक् हो जाने से इसे अवकाश नहीं मिलता।

'इदम्' शब्द के पुल्लिङ्ग में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध करते हैं—

इदम्+स (सुँ)। यहां प्रकृतसूत्र से दकार को यकार हो कर सुँ का लोप हो जाता है—इयम्। ध्यान रहे कि यहां 'इदमो मः' (२७२) के निषेध के कारण त्यदाद्यत्व नहीं होता।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप कर सवर्णदीर्घ करने से—इदा+औ। अब 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार 'औङ आपः' (२१६) से औकार को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण करने पर—'इमे'।

इदम्+अस (जस)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप, सवर्णदीर्घ तथा 'दश्च' (२७५) से दकार को मकार होकर—इमा+अस। अब 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ और रुत्व कर विसर्ग करने से—'इमाः'।

इदम्+अम्। त्यदाद्यत्व पररूप टाप, सवर्णदीर्घ 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप होकर—'इमाम्'।

इदम्+अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप टाप सवर्णदीर्घ तथा दकार को मकार होकर पूर्वसवर्णदीर्घ करने से—इमास=इमाः।

नोट—जस में सवर्णदीर्घ और शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ यह अन्तर ध्यान रखना चाहिये।

इदम्+आ (टा)=इद+आ=इदा+आ। अब यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से इद् भाग का अन् आदेश 'आङि चापः' (२१८) से प्रकृति के आकार को एकार तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश करने पर—अनया।

इदम्+भ्याम्=इद+भ्याम्=इदा+भ्याम्। 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप होकर—आभ्याम्।

इदम्+भिस्=इद+भिस्=इदा+भिस्=आभिः। ['हलि लोपः']।

इदम्+ए (ङे)=इद+ए=इदा+ए। अब सर्वनामसञ्ज्ञा होकर प्रथम नित्य होने से 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२) सूत्र से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है—इद+स्या ए। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि और 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप करने से—'अस्यै'।

इदम्+अस (ङसिँ व ङस्)=इद+अस्=इदा+अस्। यहां भी पूर्ववत् सर्वनामसञ्ज्ञा, स्याट् आगम तथा आप् को ह्रस्व होकर—इद स्या अस्। अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप होकर—अस्यास्=' अस्याः'।

इदम्+भ्यास्=इद+ओस्=इदा+ओस्। 'अनाप्यक' (२७६) से इद् को अन् आदेश, 'आङि चाप' (२१८) से आप् को एकार तथा एकार को अय् आदेश करने पर—'अनया'।

इदम्+आम्=इद+आम्=इदा+आम्। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट का आगम तथा 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप हो जाता है—'आसाम्'।

इदम्+इ (ङि)=इद+इ=इदा+इ। यहाँ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) से ङि का आम्, 'सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व, 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—'अस्याम्'।

इदम्+सुप्=इद+सु=इदा+सु=आसु ('हलि लोपः')।

'इदम्' (यह) शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	इयम्	इमे	इमाः	प०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
द्वि०	इमाम्	,,	,,	ष०	,,	अनयोः	आसाम्
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः	स०	अस्याम्	,,	आसु
च०	अस्यै	,,	आभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

नोट—अन्वादेश में द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) से इदम् को एन आदेश हो जाता है। तब टाप् प्रत्यय होकर विभक्ति कार्य करने से—"एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः" रूप बन जाते हैं।

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्। टाप्—स्या, त्ये, त्याः। एवं तद्, एतद्॥

व्याख्या— त्यद् = वह।

'त्यद्' शब्द के पुल्लिङ्ग में रूप दर्शाए जा चुके हैं। अब स्त्रीलिङ्ग में रूप दर्शाए जाते हैं—

त्यद्+स् (सुँ)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से अपृक्त सकार का लोप होकर—'स्या'।

त्यद्+औ=त्य+औ=त्या+औ। 'औङ आपः' (२१६) से शी आदेश तथा अनुबन्धलोप कर गुण करने से—'त्ये'।

आगे सर्वत्र त्यदाद्यत्व पररूप और टाप् होकर 'त्या' रूप बन जाता है। तब इस की प्रक्रिया 'सर्वा' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० स्या	त्ये	त्याः	प०	त्यस्याः	त्याभ्याम्	त्याभ्यः
द्वि० त्याम्	,,	,,	ष०	,,	त्ययोः	त्यासाम्
तृ० त्यया	त्याभ्याम्	त्याभिः	स०	त्यस्याम्	,,	त्यासु
च० त्यस्यै	,,	त्याभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

तद् = वह।

'तद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्' शब्द के समान होती है।

तद्+सुँ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ होकर—'ता+स'। अब 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँ का लोप होकर—'सा'। 'तद्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र० सा	ते	ताः	प०	तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
द्वि० ताम्	,,	,,	ष०	,,	तयोः	तासाम्
तृ० तया	ताभ्याम्	ताभिः	स०	तस्याम्	,,	तासु
च० तस्यै	,,	ताभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

एतद् = यह।

'एतद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्, तद्' शब्दों की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्र० एषा	एते	एताः	प०	एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः
द्वि० एताम्	,,	,,	ष०	,,	एतयोः	एतासाम्
तृ० एतया	एताभ्याम्	एताभिः	स०	एतस्याम्	,,	एतासु
च० एतस्यै	,,	एताभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

यहां दकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु॥

व्याख्या— **वाच् = वाणी**

'वच परिभाषणे' (अदा० प०) धातु से 'क्विब्वचि—' वार्त्तिक द्वारा क्विप्, दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव करने पर 'वाच्' शब्द निष्पन्न होता है। पदान्त में इसे 'चोः कुः' (३०६) द्वारा सर्वत्र कवर्गादेश हो जाता है। 'वाच्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाक, वाग्	वाचौ	वाच	प०	वाच	वाग्भ्याम्	वाग्भ्य
द्वि०	वाचम्	,	,	ष०	,,	वाचो	वाचाम्
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्°	वाग्भि	स०	वाचि	,,	वाक्षु†
च	वाचे	,	वाग्भ्य	सं०	हे वाक, ग्!	हे वाचौ!	हे वाच!

* सुँलोप होकर 'चो कु' (३०६) से चकार को ककार होकर नश्त्र चर्त्व हो जाते हैं।

° चो कु झला जशोऽन्ते (६७)।

† चो कु झला जशोऽन्ते आदेशप्रत्यययो (११०), खरि च (७४)।

इसी प्रकार—शुच् (शोक) त्वच् (त्वगिन्द्रिय) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] अप्शब्दो नित्य बहुवचनान्त । 'अप्तृन् ' (२०६) इति दीर्घ । आप । अप ॥

व्याख्या— अप् = जल

'अप् शब्द संस्कृतसाहित्य में नित्य बहुवचनान्त¹ तथा स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

---

१ त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग तो समझ में आ सकता है परन्तु जब अप्, दार आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग सामने आता है तो वैसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता। आधुनिक कई वैज्ञानिक दो गैसों के संयोग को ही जलतत्त्व नाम देते हैं, शायद सूक्ष्म अनुसन्धान से किन्हीं अन्य गैसों का भी मिश्रण प्रतीत हो और उन सब के संयोगात्मक तत्त्व 'अप्' को प्राचीन आर्यों ने नित्यबहुवचनान्त माना हो अथवा जल के अनेक सूक्ष्म बिन्दुओं के कारण यह बहुवचनान्त माना गया हो। किञ्च जल, वारि आदि को बहुवचन न मानकर 'अप्' को ही बहुवचनान्त मानने का कारण शायद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु भी हो जिससे अप् शब्द की निष्पत्ति होती है। 'दार' शब्द शायद इसलिये बहुवचनान्त माना गया हो कि पूर्वकाल में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती थीं। किञ्च 'दॄ विदारणे' धातु भी शायद इस में कारण हो जिस के अन्यत्र भार्या आदि में न होने के कारण वे नित्य बहुवचनान्त न बन सके हों। सिकता और वर्षा शब्द तो सिकताकणों और जलकणों के समूह के कारण ही बहुवचनान्त माना गया प्रतीत होता है जहाँ एक कण की विवक्षा होती है वहाँ एकवचन का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा महाभाष्य में—"एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था"।

ये सब सङ्क्षिप्तरीत्या भिन्न २ विद्वानों की धारणाएं हैं। हमारा तो विचार है कि शायद इन में से एक भी ठीक न हो। यह विषय पर्याप्त अनुसन्धान का है—आशा है 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में इसे कुछ स्पष्ट कर पायेंगे।

अप्+अस (जस्)। जस्' प्रत्यय सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है अत उस के परे होने पर 'अप्तृन् ' (२०६) सूत्र द्वारा 'अप्' की उपधा को दीर्घ होकर— आपस्= आप ' प्रयोग बनता है।

अप+अस् (शस्)। शस की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा नहीं अत इस के परे होने पर उपधादीर्घ नहीं होता। स्वर व्यञ्जन का सयोग होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'अप'।

अप्+भिस्। यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६२ अपो भि।७।४।४८॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भि। अद्भ्य २। अपाम्। अप्सु॥

अर्थ—भकारादि प्रत्यय परे होने पर 'अप्' के पकार को तकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अप।६।१।त।१।१।['अच उपसर्गात्त से] भि।७।१। ['अङ्गस्य' का अधिकार होने से प्रत्यये उपलब्ध हो जाता है। वह प्रत्यये' विशेष्य और 'भि' विशेषण है। विशेषण के अल् होने से तदादिविधि होकर—'भादौ प्रत्यये' बन जाता है।] अर्थ—(भादौ प्रत्यये) भकारादि प्रत्यय परे होने पर (अप) 'अप्' शब्द के स्थान पर (त) त् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् पकार के स्थान पर होगा। सुपों में भकारादि प्रत्यय भ्याम् और भिस् के अतिरिक्त कोई नहीं है।

'अप्+भिस्' यहा प्रकृतसूत्र से पकार को तकार होकर जश्त्व करने से—अद्भि। इसी प्रकार—अद्भ्य।

अप्+आम्=अपाम् अप्+सुप्=अप्सु। यहा भकारादि प्रत्यय न होने से तकार न होगा। समग्र रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	आप	पञ्चमी	०	०	अद्भ्य
द्वितीया	०	०	अप	षष्ठी	०	०	अपाम्
तृतीया	०	०	अद्भि	सप्तमी	०	०	अप्सु
चतुर्थी	०	०	अद्भ्य	सम्बोधन	०	०	हे आप!

यहा पकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] दिक्, दिग्। दिश। दिग्भ्याम्॥

व्याख्या— दिश् = दिशा

यह शब्द 'ऋत्विग्दधृक्' (३०१) सूत्र से क्विन्नन्त निपातन किया गया है।

दिश्+सुँ। सुँलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज' (३०७) से षत्व, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=ककार करने से— दिक्, दिग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

दिश+भ्याम्। पदान्त में षत्व डत्व और कुत्व होकर—दिग्भ्याम्।

'दिश्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दिक् ग्	दिशौ	दिशः	पं०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
द्वि०	दिशम्	,,	,,	ष०	,,	दिशोः	दिशाम्
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः	स०	दिशि	,,	दिक्षु
च०	दिशे	,,	दिग्भ्यः	सं०	हे दिक् ग्!	हे दिशौ!	हे दिशः!

इसी शब्द का 'आप चैव हलन्तानाम्' से आप् करने पर 'दिशा' शब्द बन जाता है, तब 'रमा' की तरह रूप चलते हैं।

[लघु०] 'त्यदादिषु' (३४७) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्॥

व्याख्या— दृश् = आँख, दृष्टि।

दृश्यन्तेऽर्था अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वाद् दृशेः क्विप्। दृश्' शब्द क्विबन्त है क्विन्नन्त नहीं।

दृश्+सुँ। यहां अपृक्त सकार का लोप होकर पदान्त में व्रश्चभ्रस्ज' (३०७) सूत्र से शकार को षकार, झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को कुत्व गकार तथा वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व ककार करने से— दृक्, दृग्' ये दो रूप बनते हैं।

नोट—यद्यपि यहां क्विन् प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) द्वारा कुत्व न होना चाहिये था तथापि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से कुत्व हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस धातु से कहीं भी क्विन्प्रत्यय देखा गया हो चाहे अब उस से वह किया गया हो या न हो उसे कुत्व हो जायगा। 'दृश्' धातु से यहां तो क्विन् नहीं हुआ किन्तु तादृश्' शब्द में 'त्यदादिषु' (३४७) सूत्र द्वारा देखा जाता है अतः यहां क्विन् के अभाव में भी कुत्व हो जायगा।

दृश् + भ्याम् । षत्व, डत्व और कुत्व होकर—दृग्भ्याम् ।

दृश्[1] शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दृक्, ग्	दृशौ	दृशः	प०	दृशः	दृग्भ्याम्	दृग्भ्यः
द्वि०	दृशम्	,,	,,	ष०	,,	दृशोः	दृशाम्
तृ०	दृशा	दृग्भ्याम्	दृग्भिः	स०	दृशि	,,	दृक्षु
च०	दृशे	,,	दृग्भ्यः	सं०	हे दृक्, ग् !	हे दृशौ !	हे दृशः !

इसी प्रकार—एतादृश्, यादृश् आदि के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग समझने चाहियें।

यहां शकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] त्विट्, त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् ॥

व्याख्या— त्विष् = कान्ति ।

'त्विषँ दीप्तौ' (भ्वा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'त्विष्' शब्द निष्पन्न होता है। 'त्विष्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पुंल्लिङ्ग के 'रत्नमुष्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	त्विट्, ड्❀	त्विषौ	त्विषः	प०	त्विषः	त्विड्भ्याम्	त्विड्भ्यः
द्वि०	त्विषम्	,,	,,	ष०	,,	त्विषोः	त्विषाम्
तृ०	त्विषा	त्विड्भ्याम्†	त्विड्भिः	स०	त्विषि	,,	त्विट्त्सु, ट्सु×
च०	त्विषे	,,	त्विड्भ्यः	सं०	हे त्विट्, ड् !	हे त्विषौ !	हे त्विषः !

❀ झलां जशोऽन्ते (६७) वाऽवसाने (१४६)। † झलां जशोऽन्ते (६७)
× जश्त्व और धुट् प्रक्रिया।

इसी प्रकार—प्रावृष् (वर्षा ऋतु), रुष् (क्रोध) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] 'ससजुषो रुः' (१०५) इति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥

व्याख्या— सजुष् = मित्र ।

समानं जुषते = सेवत इति सजूः । 'जुषीँ प्रीतिसेवनयोः' (तुदा० आ०) इति क्विप् । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' (६.३.७८) इति सूत्रेण, 'ससजुषो रुः' इति निपातनाद्वा सहस्य सभावः ।

---

१ 'तादृश्' शब्द के रूपों में से 'ता' हटा दिया जाय तो 'दृश्' के रूप हो जाते हैं।

'सजुष्+सुँ । सुँलोप होकर 'ससजुषो रु'(१०५) सूत्र से सजुष् के षकार को रुँ आदेश, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ तथा रकार का रुँत्व विसर्ग करने से 'सजूः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सजुष+भ्याम्' । पदान्त में रुँत्व और पूर्वोक्तरीत्या उपधादीर्घ होकर—'सजूर्भ्याम्' ।

सजुष्+सुप् । रुँत्व और उपधादीर्घ होकर—सजूर्+सु । अब षत्व के असिद्ध होने से प्रथम 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो जाता है—सजूः+सु । पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्गों का विसर्ग और पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश होकर 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (३५२) सूत्र से दोनों पक्षों में सकार को मूर्धन्य षकार करने से—१ सजूःषु, २ सजूष्षु । अब सकार वाले पक्ष में ष्टुत्व हो जाता है। इस प्रकार—१ सजूःषु, २ सजूष्षु ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'सजुष्' शब्द का रूपमाला यथा—

प्र०	सजूः	सजुषौ	सजुषः	प०	सजुषः	सजूर्भ्याम्	सजूर्भ्यः
द्वि०	सजुषम्	„	„	ष०	„	सजुषोः	सजुषाम्
तृ०	सजुषा	सजूर्भ्याम्	सजूर्भिः	स०	सजुषि	„	सजूःषु, सजूष्षु
च०	सजुषे	„	सजूर्भ्यः	सं०	हे सजूः !	हे सजुषौ !	हे सजुषः !

इसी प्रकार— **आशिष्=आशीर्वाद**

आङ् पूर्वक 'शास्' (अदा० आ०) धातु से क्विप् प्रत्यय 'आशासः क्वावुपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक से इत्व तथा 'शासिवसिघसीनाञ्च' (५५४) द्वारा मूर्धन्य षकार करने पर 'आशिष्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां का षत्व (८.३.६०) 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः पदान्त में सकार समझ कर सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व हो जाता है। शेष सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	आशीः	आशिषौ	आशिषः	प०	आशिषः	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
द्वि०	आशिषम्	„	„ ❀	ष०	आशिषः	आशिषोः	आशिषाम्
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः	स०	आशिषि	„	आशीःषु, आशीष्षु
च०	आशिषे	„	आशीर्भ्यः	सं०	हे आशीः !	हे आशिषौ !	हे आशिषः !

यहां षकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] असौ । उत्व-मत्वे—अमूः, अमूः । अमुया । अमूभिः । अमुष्यै ।

❀ कई लोग शस् में—"परमात्मा जनेभ्य आशीददात' इस प्रकार भ्रम से अशुद्ध लिखते हैं, 'आशिषो ददाति' लिखना चाहिये।

अमूभ्य । अमुष्या । अमुयो । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ॥

व्याख्या—'अदस्' शब्द की पुल्ँलिङ्ग मे प्रक्रिया लिख चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग मे लिखते हैं।

अदस्+सुँ। यहा पुल्ँलिङ्ग क समान ही 'अदस औ सुँ लोपश्च' (३५५) द्वारा सकार को औकार और सुँ का लोप, 'तदो स —' (३१०) से दकार को सकार और वृद्धि होकर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप् और सवर्णदीर्घ होकर—अदा+औ। 'औङ आप' (२१६) से औ को शी हो गुण एकादेश करने से— अदे'। अब 'अदसोऽसे र्दादु दो म' (३५६) स एकार को ऊकार तथा दकार को मकार करने पर—'अमू'।

अदस्+अस (जस्)=अदा+अस्। 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से पूव सवर्णदीघ का निषेध होकर सवर्णदीघ हो जाता है—अदा । अब ऊत्व मत्व करने से—'अमू' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहा अदन्त सवनाम न होने से जस् को शी आदेश तथा एकार न होने के कारण 'एत ईद्' (३५७) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

अदस+अम्=अदा+अम्। पूवरूप कर ऊत्व मत्व करने से—'अमूम्'।

अदस्+अस् (शस)। पूवसवर्णदीघ होकर ऊत्व मत्व हो जाते हैं—'अमू'।

अदस्+आ (टा)=अदा+आ। 'आङि चाप' (२१८) से आप् को एकार आदेश होकर अय् आदेश करने से—अदया। अब ऊत्व मत्व करने से—'अमुया' सिद्ध होता है।

अदस्+भ्याम्=अदा+भ्याम्। ऊत्व मत्व करने से—अमूभ्याम्। इसी प्रकार—अमूभि, अमभ्य।

अदस+ए (ङे)=अदा+ए। सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर 'सर्वनाम्न स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो—अद स्या ए। पुन वृद्धि करके उत्व, मत्व और षत्व करने से—'अमुष्यै'।

अदस्+अस् (ङसि व ङस्)=अदा+अस=अदस्या। अब उत्व, मत्व और षत्व करने पर—'अमुष्या'।

अदस्+ओस्=अदा+ओस्। 'आङि चाप' (२१८) से एकार और 'एचोऽयवायाव' (२२) से अय् आदेश हो—अदयो। पुन उत्व मत्व करने पर—'अमुयो'।

अदस्+आम्=अदा+आम्। सुट आगम कर उत्व मत्व और षत्व हो जाता है—'अमूषाम्'।

अदस्+इ (ङि)=अदा+इ । 'ङेराम्नद्याम्नीभ्य (१६८) से ङि को आम् हो स्याट् आगम और आप को ह्रस्व करनेसे—अदस्याम् । अब उत्व मत्व और षत्व करने पर— अमुष्याम्' ।

अदस्+सुप्=अदा+सु । उत्व मत्व और षत्व होकर— अमूषु' ।

'अदस्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमूः	प०	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
द्वि०	अमूम्	,,	,,	ष०	,,	अमुयोः	अमूषाम्
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः	स०	अमुष्याम्	,,	अमूषु
च०	अमुष्यै	,,	अमूभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

नोट—स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द की सिद्धि करते समय सुँ को छोड़ अन्य सब विभक्तियों में सर्वप्रथम 'अदा' रूप बना लेना चाहिये । तब 'सर्वा' शब्द के समान प्रक्रिया कर के 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र प्रवृत्त करना चाहिये । ऐसा करने से प्रक्रिया में अशुद्धि नहीं हो सकती ।

सूचना—अप्सरस्, उषस्, सुमनस् प्रभृति सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप वेधस् शब्द के तुल्य होते हैं कुछ विशेष नहीं होता है । हां ! कुसुमवाचक 'सुमनस्' बहुवचन में होता है ।

यहां सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहाँ हलन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

अभ्यास (४६)

(१) निम्नलिखित शब्दों के सब विभक्तियों में रूप लिखो—
सुमनस्, त्विष्, उपानह्, दिव्, अप्, सजुष्, इदम् (स्त्रीलिङ्ग के अन्वादेश में), एतद् (स्त्रीलिङ्ग), चतुर् (स्त्रीलिङ्ग) किम् (स्त्रीलिङ्ग), अदस् (पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों) ।

(२) दृश्, उष्णिह्, दिश् आदि शब्द यदि पुल्लिङ्ग में भी मान जाएं तो भी इन के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता तो पुनः इन्हें स्त्रीलिङ्ग में स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है ?

(३) उपानह् + भ्याम् यहा पदान्त मे 'हो ढ' सूत्र प्रवृत्त क्यों नहीं होता ?

(४) अप्शब्दो नित्य बहुवचनान्त ' इस पर यथाधीत नोट लिखे ।

(५) क्विन्' प्रत्यय न होने पर भी 'दृश् मे क्विन्प्रत्ययस्य कु ' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो जाता है ।

(६) निम्नलिखित सूत्रा की सोदाहरण व्याख्या करो—

"१ अपो भि । २ य सौ । ३ नहो ध । ४ नहिवृति ".।

(७) सूत्रोपन्यासपूर्वक निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करो—

१ अद्भि । २ अनया । ३ उपानत् । ४ अमूषाम् । ५ चतस्र । ६ आप । ७ पू । ८ द्यौ । ९ एनया । १० अमू । ११ सजूष्षु । १२ इयम् । १३ गीर्षु । १४ चतसृणाम् । १५ कस्याम् । १६ उष्णिक् । १७ द्युषु । १८ अमुष्यै । १९ तस्या । २० दिक् ।

इति भैमी व्याख्ययो—
पबृंहिताया लघुसिद्धान्त
कौमुद्या हलन्त स्त्रीलिङ्ग-
प्रकरण पूर्त्तिमगात् ॥

——❀——

* अथ हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम् *

[लघु०] स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहो— (२५९) इत्याम् । स्वनड्वाहि । पुनस्तद्वत्* । शेषं पुंवत् ।

व्याख्या— स्वनडुह् = अच्छे बैलों वाला कुल व चक्र आदि ।

सु शोभना, अनड्वाहः—वृषभा यस्य तत् = स्वनडुत् । यहां 'सु' और 'अनडुह' का बहुव्रीहिसमास होता है । समाससञ्ज्ञा होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१५७) द्वारा प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

स्वनडुह् + स् (सुँ) । यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) द्वारा सुँ लोप प्राप्त होता है । परन्तु अपवाद होने के कारण उसे बाधकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो जाता है । पुनः 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा पदसञ्ज्ञा† हो जाने से 'वसुस्रंसु०' (२६२) सूत्र से हकार को दकार× तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व तकार होकर—'स्वनडुत्, स्वनडुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

स्वनडुह् + औ । यहां 'नपुंसकाच्च' (२३९) सूत्र से 'औ' को 'शी' आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से—'स्वनडुही' ।

---

* पुनः उसी प्रकार अर्थात् द्वितीया विभक्ति के रूप भी प्रथमाविभक्ति के समान होते हैं । क्योंकि नपुंसक में सुँ के समान अम् का भी लुक् हो जाता है । 'औ' तथा 'औट्' में तो कोई अन्तर ही नहीं, और शस् को भी जस् के समान 'शि' आदेश होता है । यह नियम प्रायः सर्वत्र नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

† ध्यान रहे कि पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि यह अङ्ग (प्रकृति) और प्रत्यय दोनों की समुदित सञ्ज्ञा है । अतः पदसञ्ज्ञा करने में 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता ।

× 'वसुस्रंसु०' (२६२) यह अङ्गकार्य है, अतः यह तदन्त में भी प्रवृत्त होता है (देखो—"पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च") ।

स्वनडुह् + जस् । यहां 'जश्शसोः शिः' (२३७) से शि आदेश, 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, 'चतुरनडुहोराम् उदात्तः' (२५६) से आम् का आगम तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् का आगम होकर—'स्वनडु आन् ह् + इ' । अब 'इको यणचि' (१५) से यण् और 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने से—'स्वनड्वांहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्वनडुह + अम् । यहां भी सुँ की तरह 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) सूत्र से अम् का लुक् होकर पद के अन्त में हकार को दकार तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से—'स्वनडुत्, स्वनडुद्' ।

औट् में औ की तरह तथा शस् में जस् की तरह रूप बनते हैं । शेष विभक्तियों में पुंवत् (पुँल्लिङ्ग की तरह) रूप होते हैं ।

'स्वनडुह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वनडुत्, द्	स्वनडुही	स्वनड्वांहि
द्वि०	„	„	„
तृ०	स्वनडुहा	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भिः
च०	स्वनडुहे	„	स्वनडुद्भ्यः
पं०	स्वनडुहः	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः
ष०	„	स्वनडुहोः	स्वनडुहाम्
स०	स्वनडुहि	„	स्वनडुत्सु
सं०	हे स्वनडुत्, द् !	हे स्वनडुही !	हे स्वनड्वांहि !

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में दत्व हो जाता है ।

यहां हकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] वाः । वारी । वारि । वार्भ्याम् ॥

व्याख्या— वार् = जल

वार् + सुँ । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं—'वाः' ।

वार् + औ । 'नपुंसकाच्च' (२३५) से औ को शी होकर—वार् + शी = वारी ।

वार + जस् । 'जश्शसोः शिः' (२३७) से जस् को शि होकर—वार् + शि = वारि' । ध्यान रहे कि रेफ का झलों में पाठ न होने से यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् आगम नहीं होता ।

'वार् (जल) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वा	वारा	वारि	प०	वार	वाभ्याम्	वाभ्य
द्वि०	,,	,	,,	ष०	,	वारो	वाराम्
तृ०	वारा	वार्भ्याम्	वाभि	स०	वारि	,,	वाषु †
च०	वारे	,,	वाभ्य	स०	हे वा !	ह वारी !	ह वारि !

† यहा रुँ का रेफ न होने से विसर्ग आदेश नही होते—'रो सुपि' (२६८)।

[लघु०] चत्वारि ॥

व्याख्या— 'चतुर्' शब्द त्रिलिङ्गी नित्य बहुवचनान्त होता है। यहा नपुसक मे इसकी प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

चतुर्+जस्=चतुर्+शि। 'शि सर्वनामस्थानम्' (२८८) द्वारा 'शि' की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होकर 'चतुरनडुहो'—(२५६) से आम् का आगम तथा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् आदेश होकर—'चत्वारि'। इसी प्रकार शस् मे। शेष विभक्तियो में पुंवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	चत्वारि	पञ्चमी	०	०	चतुर्भ्य
द्वितीया	०	०	,,	षष्ठी	०	०	चतुर्णाम्
तृतीया	०	०	चतुर्भि	सप्तमी	०	०	चतुर्षु
चतुर्थी	०	०	चतुर्भ्य		सम्बोधन नहीं होता।		

यहा रेफान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] किम्। के। कानि ॥

व्याख्या—किम्+सुँ। 'स्वमोर्नपुसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'किम्'। अब विभक्ति परे न होने से 'किम क' (२७१) से 'क' आदेश नहीं हो सकता प्रत्ययलक्षण भी 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण नहीं हो पाता।

किम्+औ। यहा विभक्ति परे होने के कारण 'किम क' (२७१) से क आदेश हो औ को शी और गुण करने से— 'के'।

किम्+जस्। क आदेश होकर ज्ञानशब्द की तरह प्रक्रिया चलती है—कानि। रूपमाला यथा—

प्र०	किम्	के	कानि	प०	कस्मात्॥	काभ्याम्	केभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	कस्य	कयो	केषाम्†
तृ०	केन	काभ्याम्	कै	स०	कस्मिन्॥	,,	केषु
च०	कस्मै+	,,	केभ्य		सम्बोधन नहीं होता।		

+ सर्वनाम्नः स्मै (१५३)। ❀ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)।

[लघु०] इदम्। इमे। इमानि ॥

व्याख्या—नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' शब्द की प्रक्रिया यथा—

इदम्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'इदम्'। विभक्ति का लुक् होने से 'इदमो मः' (२७२) तथा त्यदाद्यत्व आदि नहीं होते।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश, गुण और 'दश्च' (२७५) द्वारा दकार को मकार होकर—'इमे'।

इदम्+जस्। त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, अकारान्त होने से नुम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार करने पर—'इमानि'।

द्वितीया में भी इसी तरह रूप बनते हैं। शेष पुंवत् जानें। रूपमाला यथा—

प्र०	इदम्	इमे	इमानि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	,,	एभ्यः
प०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	,,	एषु

सम्बोधन नहीं होता।

[लघु०] वा०—(२९) अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः ॥

एनत्, एनद्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः ॥

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः यह तद्विषयक ही है।

यह 'एनत्' आदेश अम् के लिये ही किया गया है, क्योंकि अन्य विभक्तियों (औट्, शस्, टा, ओस्) में तो द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०) से भी कार्य निकल सकता है। भाष्यकार ने भी यही स्वीकार किया है—"एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्, कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्"।

इदम्+अम्। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से अम् का लुक् होकर प्रत्ययलक्षण का निषेध होने पर भी एनद्विधानसामर्थ्य से अम् को मानकर प्रकृतवार्त्तिक से

'एनत्' आदेश हो जाता है। पुनः जश्त्व चर्त्व करने पर—'एनत्, एनद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इदम् + औट् = इदम् + शी = एनत् + ई। त्यदाद्यत्व, पररूप, तथा गुण एकादेश होकर—'एने'।

इदम् + शस = इदम् + शि = एनत् + इ। त्यदाद्यत्व पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर—'एनानि'।

इदम् + टा = एन त + आ। त्यदाद्यत्व पररूप तथा 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) से टा को इन आदेश और गुण एकादेश करने पर—'एनेन'।

इदम् + आम् = एनत् + आम = एन + आम्। 'ओसि च' (१४७) से अकार को एकार होकर अय आदेश करने से—'एनयोः'।

नोट—वस्तुतः अम् से भिन्न अन्य विभक्तियों में उपर्युक्त भाष्य के वचन से 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) द्वारा 'एन' आदेश ही होता है, एनत् नहीं। हम ने यह सब मतान्तर के आश्रय से ही लिखा है।

नपुंसकलिङ्ग के अन्वादेश में 'इदम्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	इदम्	इमे	इमानि	पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	एनत् द्	एने	एनानि	ष०	अस्य	एनयोः	एषाम्
तृ०	एनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।		

यहां मकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं

[लघु०] अहः। विभाषा ङिश्योः (२४८)—अह्नी, अहनी। अहानि॥

व्याख्या— अहन् = दिन।

अहन् + सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'रोऽसुपि' (११०)❀ से नकार को रेफ आदेश और 'खरवसानयोः—' (९३) से उसे विसर्ग करने पर 'अहः'† प्रयोग सिद्ध होता है।

अहन् + औ। यहां 'यचि भम्' (१६५) सूत्र द्वारा भसञ्ज्ञा होने के कारण 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से अन् के अकार का विकल्प से लोप हो जाता है—'अह्नी, अहनी'।

❀ यहाँ 'अहन्' (३६३) सूत्र से रुँत्व न होकर 'असुपि' के सामर्थ्य से रत्व होगा।

† 'अहः इदम्' की सन्धि 'अहरिदम्'। इसी प्रकार 'अहर्भाति'। देखो सन्धिप्रकरण सूत्र (११०)।

अहन्+जस=अहन्+शि। यहां सर्वनामस्थाने चा ' (१७७) से उपधा दीर्घ हो जाता है—'अहानि'।

अहन्+आ (टा)। भसञ्ज्ञा होकर 'अल्लोपोऽन' (२४७) से अन् के अकार का नित्य लोप हो जाता है—'अह्ना'।

अहन्+भ्याम्। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६३ अहन् ।८।२।६८॥

अहन् इत्यस्य रुँ पदान्ते। अहोभ्याम् ॥

अर्थः—पदान्त में 'अहन्' के नकार के स्थान पर रुँ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अहन्।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] रुँ।१।१। ['ससजुषो रुँः' से] पदस्य।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते।७।१। ['स्कोः ' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होता है।

अहन्+भ्याम्। यहां प्रकृतसूत्र से नकार को रुँ आदेश होकर 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण करने पर—अहोभ्याम्। इसी प्रकार—अहोभिः, अहोभ्यः।

अहन्+इ (ङि)। भसञ्ज्ञा होकर 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से विकल्प कर के अन् के अकार का लोप हो जाता है—अह्नि, अहनि।

अहन्+सुप्। रुँत्व विसर्ग होकर—अहःसु। 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग तथा पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (६६) से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर—'अहःसु, अहस्सु'।

समग्र रूपमाला यथा—

प्रथमा	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वितीया	,,	,, ,,	,,
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	,,	अहोभ्यः
पञ्चमी	अह्नः	,,	,,
षष्ठी	,,	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	,,	अहःसु, अहस्सु
सम्बोधन	हे अहः !	हे अह्नी, अहनी !	हे अहानि !

[लघु०] दण्डि ॥

व्याख्या—दण्डोऽस्यास्तीति—दण्डि कुलम। 'अत इनिठनौ' (११८७)।

दण्डिन्+सुँ। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'न लोपः ०' (१८०) से नकार का भी लोप हो जाता है—दण्डि।

हे दण्डिन्+सुँ। सुँ का लुक् होकर नकारलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से विकल्प होता है—

[लघु०] वा०—(३०) "सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः" ॥

हे दण्डिन्!, हे दण्डि!। दण्डिनी। दण्डीनि। दण्डिना। दण्डिभ्याम् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर नपुंसकों के नकार का विकल्प कर के लोप होता है।

व्याख्या—'हे दण्डिन्' यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा सम्बुद्धि के परे होने से नकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है। लोपपक्ष में—हे दण्डि!, लोपाभावपक्ष में— हे दण्डिन्!।

दण्डिन्+औ=दण्डिन्+शी=दण्डिनी।

दण्डिन्+अस् (जस्)=दण्डिन्+शि। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ होकर—'दण्डीनि†'।

दण्डिन् (दण्ड वाला कुल आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि	पं०	दण्डिनः	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
द्वि०	"	"	"	ष०	"	दण्डिनोः	दण्डिनाम्
तृ०	दण्डिना	दण्डिभ्याम्	दण्डिभिः	स०	दण्डिनि	"	दण्डिषु
च०	दण्डिने	"	दण्डिभ्यः	सं०	हे दण्डि(न्)!	हे दण्डिनी!	हे दण्डीनि!

[लघु०] सुपथि। टेर्लोपः—सुपथी। सुपन्थानि ॥

व्याख्या—सुन्दराः पन्थानो यस्मिन् तत् सुपथि नगरम्।

सुपथिन्+सुँ। यहां 'दण्डिन्' के समान सुँलुक् तथा नकारलोप होकर—'सुपथि'।

सुपथिन्+औ=सुपथिन्+ई (शी)। भसञ्ज्ञा होकर 'भस्य टेर्लोपः' (२६६) से 'इन्' भाग का लोप हो जाता है—'सुपथी'।

सुपथिन्+जस्=सुपथिन्+शि। यहां 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) से इकार को अकार तथा 'थो न्थः' (२६५) सूत्र से

† यहाँ 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८८) के नियम के कारण दीर्घनिषेध नहीं होता है।

थकार को न्थ आदेश हो जाता है। अब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधा दीर्घ करने पर—'सुपन्थानि'।

सुपथिन् (सुन्दर मार्गों वाला नगर आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि	प०	सुपथः	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपथोः	सुपथाम्
तृ०	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः	स०	सुपथि	,,	सुपथिषु
च०	सुपथे	,,	सुपथिभ्यः	स०	हे सुपथि, न्!	हे सुपथी!	हे सुपन्थानि!

यहां नकारान्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त होते हैं।

[लघु०] ऊर्क्, ऊर्ग्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः॥

व्याख्या— ऊर्ज् = बल व तेज।

'ऊर्ज बलप्राणनयोः' (चु० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'ऊर्ज्' शब्द निष्पन्न होता है।

ऊर्ज् + सुँ। सुँ का लुक् होकर 'चोः कुः' (३०६) द्वारा जकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक ककार करने पर—'ऊर्क्, ऊर्ग्'।

ऊर्ज् + औ = ऊर्ज् + शी = ऊर्जी।

ऊर्ज् + जस् = ऊर्ज् + शि। यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम होकर—'ऊर्न्जि'† सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ऊर्क्, ग्	ऊर्जी	ऊर्न्जि	प०	ऊर्जः	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ऊर्जोः	ऊर्जाम्
तृ०	ऊर्जा	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भिः	स०	ऊर्जि	,,	ऊर्क्षु
च०	ऊर्जे	,,	ऊर्ग्भ्यः	स०	हे ऊर्क्, ग्!	हे ऊर्जी!	हे ऊर्न्जि!

यहां जकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

---

†'ऊर्ंजि' लिखने वाले सावधान रहें। क्योंकि वैसा लिखने से रेफ सब से पहले पढ़ा जायगा, जैसे—'कार्त्स्न्य' आदि में होता है। परन्तु हमें नकार (नुम्) का पाठ रेफ से पूर्व करना इष्ट है। अतः 'ऊर्न्जि' इस ढंग से ही लिखना चाहिये। ग्रन्थकार ने भी लेखकों की इस भ्रान्ति की ओर ध्यान देते हुए—"नरजानां संयोगः" (नकार, रेफ और जकार का संयोग है) ऐसा स्पष्ट लिख दिया है। अत एव रेफ का बीच में व्यवधान पड़ने से नकार को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ॥

व्याख्या—तद् + सुँ । सुँ का लुक् होकर वैकल्पिक चर्त्व हो जाता है—'तत्, तद्' । ध्यान रहे कि यहां सुँ का लुक् हो जाने से 'तदोः सः ' (२१०) द्वारा सकारादेश नहीं होता । इसी प्रकार यद् और एतद् शब्दों में भी समझ लेना चाहिये ।

तद् + औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, औ को शी आदेश तथा गुण एकादेश करने पर—'ते' ।

तद् + जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप जस् को शि आदेश, नुम् आगम और उपधादीर्घ होकर—'तानि' ।

द्वितीया में भी इसी प्रकार होता है । शेष पुंवत् जाने ।

'तत्' (वह) शब्द की नपुंसकलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	तत्, तद्	ते	तानि	पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में यद् (जो) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	यत्, यद्	ये	यानि	पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में 'एतद्' (यह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	एतत्, एतद्	एते	एतानि	पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	स०	एतस्मिन्	,,	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

यहां दकारान्त नपुंसक-शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] गवाक् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥

व्याख्या— गो अञ्च् = गौ के पास प्राप्त होने वाला ।

गामञ्चतीति—गवाक् । 'गो' कर्म उपपद होने पर गत्यर्थक अञ्चु (भ्वा० प०)

धातु से 'ऋत्विग्दधृक ' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम् ' (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर— गो अच् । अब इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुँ में—गो अच्+स् । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) स सुँ का लुक्, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८ २ ६२) के असिद्ध होने से 'चो कुः' (८ २ ३०) द्वारा चकार को ककार होकर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया करने से—'गो अक, गो अग् । अब गो' शब्द के ओकार तथा अक्' शब्द के अकार के मध्य तीन प्रकार की सन्धि ['अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् तथा सवर्णदीर्घ, अवङ् अभाव मे 'सर्वत्र विभाषा गो' (४४) से वैकल्पिक प्रकृतिभाव, प्रकृतिभाव के अभाव मे 'एङ पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप] होने से छः रूप सिद्ध होते हैं। यथा—(अवङ्पक्ष मे) १ गवाक् २ गवाग् । (प्रकृतिभावपक्ष मे) ३ गोअक , ४ गो अग् । (पूर्वरूपपक्ष मे) ५ गोऽक् ६ गोऽग ॥

'औ' मे—गोअच्+औ । यहा 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' की शी, अनुबन्ध लोप, यचि भम्' (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा 'अचः' (३३५) सूत्र से अकार का लोप होकर—'गोची' यह एक ही रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार गति अर्थ मे भसञ्ज्ञा के सब स्थलों म यही बात समझनी चाहिये ।

'जस्' में—गो अच्+जस् । 'जश्शसो शिः' (२३७) से जस् को शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर उगिदचा सर्वनामस्थानेऽधातो' (२८६) सूत्र से नुम् आगम, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७६) से परसवर्ण ञकार तथा तीनों प्रकार की सन्धि करने से—' गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

टा में—गोअच्+आ (टा) । भसञ्ज्ञा होकर 'अचः' (३३५) से अकार का लोप हो जाता है—गोचा' ।

भ्याम् में—गो अच्+भ्याम् । यहा भसञ्ज्ञा न होने से अकारलोप नहीं होता है । पदान्त में 'चो कुः' (३०६) द्वारा कुत्व गकार करने पर तीन प्रकार की सधि हो जाती है—"१ गवाग्भ्याम्, २ गोअग्भ्याम्, ३ गोऽग्भ्याम्" । इसी प्रकार—भिस्, भ्यस् और सुप् मे तीन २ रूप बना लेने चाहियें ।

गतिपक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाक्, ग् गोअक्, ग् गोऽक्, ग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि
द्वि०	गवाक्, ग् गोअक्, ग् गोऽक्, ग्	गोची	गवाञ्चि गोअञ्चि गोऽञ्चि
तृ०	गोचा	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भि गोअग्भि गोऽग्भि
च०	गोचे	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्य गोअग्भ्य गोऽग्भ्य
पं०	गोच	गवाग्भ्याम् गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्य गोअग्भ्य गोऽग्भ्य
ष०	गोच	गोचो	गोचाम्
स०	गोचि	„	गवाक्षु† गोअक्षु गोऽक्षु
सं०	हे गवाक्, ग्! हे गोअक्, ग्! हे गोऽक्, ग्!	हे गोची!	हे गवाञ्चि! हे गोअञ्चि! हे गोऽञ्चि!

† यहाँ 'खरि च' (७४) से हुआ चर्त्व 'चयो द्वितीयाः ' (पृष्ठ १३६) की दृष्टि में असिद्ध है अतः चय् न होने से खकार आदेश नहीं होता।

ये सब रूप गत्यर्थक 'अञ्चुँ' धातु के हैं। यदि 'अञ्चुँ' धातु पूजार्थक होगी तो निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होगी—

गो अञ्च् = गाय की पूजा करने वाला।

'गो' कर्मोपपद 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से नकार के लोप का निषेध हो जाता है। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

सुँ से—गोअञ्च्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से संयोगान्त चकार का लोप 'निमित्तापाये ' के न्याया नुसार ञकार को पुनः नकार तथा उसे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र से ङकार करने पर—'गो अङ'। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—'१ गवाङ्, २ गोअङ्, ३ गोऽङ' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

'औ' में—गो अञ्च्+औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) सूत्र से 'औ' को शी आदेश होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्ची, २ गोअञ्ची, ३ गोऽञ्ची" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि लुप्तनकार 'अञ्चुँ' न होने से 'अचः' से अकार का लोप न होगा। इस प्रकार भत्व में सर्वत्र जानना।

'जस्' में—गो अञ्च्+जस्। जस् को शि आदेश होकर नकारलोप न होने के कारण सर्वनामस्थान परे होने पर भी 'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' (२८९) से नुम् आगम नहीं होता। 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से भी नुम् न होगा, क्योंकि यहां पर 'अचः परस्यैव झलो नुम्विधानम्' यह व्यवस्था की गई है। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्चि, २ गोअञ्चि, ३ गोऽञ्चि" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

'टा' में—गोअञ्च्+आ (टा)। नकार का लोप न होने के कारण 'अचः' (३३५) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। केवल तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्चा, २ गोअञ्चा, ३ गोऽञ्चा" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—ङे, ङसिँ, ङस्, ओस्, आम् और ङि में प्रक्रिया होती है।

'भ्याम्' में—गोअञ्च्+भ्याम्। 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से चकारलोप, 'निमित्तापाये०' के न्यायानुसार ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाङ्भ्याम्, २ गोअङ्भ्याम्, ३ गोऽङ्भ्याम्" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—भिस् और भ्यस् में भी प्रक्रिया होती है।

'सुप्' में—'गोअञ्च्+सुप्'। संयोगान्तलोप, ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर—गोअङ्+सु। 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व, 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' (८६) सूत्र से कुक् आगम करने पर तीनों प्रकार की सन्धि हो जाती है—

अवङ्पक्ष में—	गवाङ्क्षु, गवाङ्षु।
प्रकृतिभावपक्ष में—	गोअङ्क्षु, गोअङ्षु।
पूर्वरूपपक्ष में—	गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु। *

पूजापक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाङ्	गवाञ्चौ	गवाञ्चि	द्वि०	गवाङ्	गवाञ्चौ	गवाञ्चि
	गोअङ्	गोअञ्चौ	गोअञ्चि		गोअङ्	गोअञ्चौ	गोअञ्चि
	गोऽङ्	गोऽञ्चौ	गोऽञ्चि		गोऽङ्	गोऽञ्चौ	गोऽञ्चि

* यहाँ पक्ष में "चयो द्वितीयाः शरि०" (वा० १४) से वर्गद्वितीय—खकार हो जाता है। इससे सुप् में तीन रूप और बढ कर नौ रूप हो जाते हैं।

तृ०	गवाञ्चा	गवाड्भ्याम्	गवाड्भि
	गोअञ्चा	गोअड्भ्याम्	गोअड्भि
	गोऽञ्चा	गोऽड्भ्याम्	गोऽड्भि
प०	गवाञ्च	गवाड्भ्याम्	गवाड्भ्य
	गोअञ्च	गोअड्भ्याम्	गोअड्भ्य
	गोऽञ्च	गोऽड्भ्याम्	गोऽड्भ्य
च०	गवाञ्चे	गवाड्भ्याम्	गवाड्भ्य
	गोअञ्चे	गोअड्भ्याम्	गोअड्भ्य
	गोऽञ्चे	गोऽड्भ्याम्	गोऽड्भ्य
ष	गवाञ्च	गवाञ्चो	गवाञ्चाम्
	गोअञ्च	गोअञ्चो	गोअञ्चाम्
	गोऽञ्च	गोऽञ्चो	गोऽञ्चाम्
स०	गवाञ्चि	गवाञ्चो	गवाड्क्षु, गवाट्पु गवाड्क्षु
	गोअञ्चि	गोअञ्चो	गोअड्क्षु, गोअट्पु गोअड्क्षु
	गोऽञ्चि	गोऽञ्चो	गोऽड्क्षु गोऽड्क्षु, गोऽड्क्षु

स० सम्बोधन म प्रथमावत् रूप बनते हैं।

तो इस प्रकार गतिपक्ष में ४६ रूप तथा पूजापक्ष म ६६ रूप अर्थात् कुल मिलाकर ४६ + ६६ = ११५ रूप बनते ह। जस् और शस म पूजा और गति दोनों पक्षों में एक समान रूप बनते हैं अत एक सौ पन्द्रह रूपों मे छ रूप घटा देने पर—११५—६ = १०९ रूप अवशिष्ट रहते हैं। यद्यपि पूजापक्ष म सुप् म 'चया द्वितीया ' वार्त्तिक से वग द्वितीय आदेश होने से तीन रूप और बढ़ कर एक सौ बारह रूप होते हैं तथापि यहा सूत्रकार के मतानुसार एक सौ नौ (१०९) रूपो का परिगणन समझना चाहिये। इस शब्द पर एक रोचक प्रश्नोत्तर प्रसिद्ध है। तथाहि—

प्रश्न —
जायन्ते नव सौ, तथाऽमि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे
षट्सङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवच सु कस्य विबुधा। शब्दस्य रूपाणि तज्-
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितु षाण्मासिकोऽत्रावधि॥ (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)

---

१ यद्यपि तीन भ्याम् प्रत्ययों, दो भ्यस् प्रत्ययों एव पञ्चमी षष्ठी तथा इतर विभक्तियों मे भी रूपो के एक जैसा होने से एक सौ नौ (१०९) रूप युक्त नहीं कहे जा सकते तथापि यहा—"उसी एक विभक्ति म यदि रूपों की समानता पाई जाए तो उसे एक रूप मानना चाहिये, इतरेतर विभक्तियों म नहीं" यह अभिप्राय इष्ट होने से कोई दोष नहीं आता। किञ्च यहा सम्बोधन के रूपों के परिगणन का प्रश्न नहा उठाना चाहिये, क्योकि सम्बोधन विभक्ति तो विशेष प्रकार की प्रथमा विभक्ति ही होती है ('सम्बोधने च')।

भावार्थ—हे बुधजनो ! यदि आप में बुद्धि है तो हम आपको छः मास का अवसर प्रदान करते हैं आप उस शब्द को जानने का प्रयत्न करें जिस के सुँ, अम् और सुप् में नौ नौ, भ्याम् भ्यस् और भिस् में छः छः जस् और शस् में तीन तीन तथा अन्यवचनों में चार चार रूप बनते हैं।

उत्तर— { "गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥" }

भावार्थ—नपुंसकलिङ्ग में गति और पूजा के भेद से तथा प्रकृतिभाव, अवङ् और पूर्वरूप के कारण गोपूर्वक क्विबन्त अञ्च् के एक सौ नौ रूप होते हैं। तथाहि—

{ "स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥" }

भावार्थ—इस शब्द के सुँ अम् तथा सुप् में नौ नौ, भ्याम् भिस् आदि छः भकारादियों में छः छः, जस् शस् में तीन तीन तथा शेष दसों में चार चार रूप होते हैं।

यहां चकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] शकृत् । शकृती । शकृन्ति ॥

व्याख्या— शकृत् = मल व विष्ठा।

शकृत्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया करने से—'शकृत्, शकृद्'।

शकृत्+औ=शकृत्+शी=शकृती।

शकृत्+जस्=शकृत्+शि। झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम, अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—'शकृन्ति'।

'शकृत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	शकृत्, द्	शकृती	शकृन्ति	पं०	शकृतः	शकृद्भ्याम्	शकृद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	शकृतोः	शकृताम्
तृ०	शकृता	शकृद्भ्याम्	शकृद्भिः	स०	शकृति	,,	शकृत्सु
च०	शकृते	,,	शकृद्भ्यः	सं०	हे शकृत्, द् !	हे शकृती !	हे शकृन्ति !

इसी प्रकार—यकृत् (जिगर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] ददत् । ददती ॥

व्याख्या— ददत् = देता हुआ कुल आदि (शत्रन्तोऽयम्)

ददत्+सुँ। सुँ का लुक होकर नश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया से— ददत्, ददद्'।

ददत्+औ=ददत्+शी=ददती।

ददत्+जस=ददत्+शि=ददत्+इ। यहां 'उगिदचाम्... ' (२८६) सूत्र द्वारा अथवा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) सूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा होकर नाभ्यस्ताच्छतुः (३४५) द्वारा उसका निषेध हो जाता है। अब वैकल्पिक नुम् करने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३६४ वा नपुंसकस्य।७।१।७६॥

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति॥

अर्थ—अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे जो शतृ प्रत्यय तदन्त नपुंसकलिङ्ग को सर्वनाम स्थान परे होने पर विकल्प कर के नुम् आगम हो जाता है।

व्याख्या— अभ्यस्तात्। ५।१। शतुः। ६।१। [नाभ्यस्ताच्छतुः से] नपुंसकस्य। ६।१। अङ्गस्य। ६।१। [अधिकृत है] वा इत्यव्ययपदम्। नुम्। १।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने। ७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थाने...' से] अर्थ—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) जो शतृ प्रत्यय तदन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प कर के (नुम्) नुम् हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो।

ददत्+इ। यहां 'शि' यह सर्वनामस्थान परे है अभ्यस्त होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से नुम्निषेध प्राप्त था, पर नपुंसकत्व में प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नुम् का आगम होकर अनुस्वार परसवर्ण प्रक्रिया करने से—'ददन्ति, ददति' ये दो रूप बनते हैं।

'ददत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्, द्	ददती	ददन्ति, ददति
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः
पं०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
ष०	,,	ददतोः	ददताम्
स०	ददति	,,	ददत्सु
सं०	सम्बोधन प्रथमावत् होता है।		

करने से— 'तुदति' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा –

प्र०	तुदत्, द्	तुदन्ती, तुदती	तुदन्ति	प०	तुदत	तुदद्भ्याम्	तुदद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	तुदतो	तुदताम्
तृ०	तुदता	तुदद्भ्याम्	तुदद्भिः	स०	तुदति	,,	तुदत्सु
च०	तुदते	,,	तुदद्भ्यः	सं०	सम्बोधन प्रथमावत्।		

प्रकृतसूत्र से भ्वादि, दिवादि, तुदादि चुरादि तथा अदादिगण की 'या' आदि आकारान्त धातुओं से तथा स्य के आगे शतृँ प्रत्यय होने पर नपुंसक के द्विवचन शी में वैकल्पिक नुम् का आगम प्राप्त होता है। इस पर भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय धातुओं को अग्रिमसूत्र द्वारा नित्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६६ शप्श्यनोर्नित्यम् ।७।१।८१॥

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः।

पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति ॥

अर्थ—शप् व श्यन् के अवर्ण से परे जो शतृँ प्रत्यय का अवयव (त), तदन्त अङ्ग को नित्य नुम् का आगम हो जाता है शी अथवा नदी† परे हो तो।

व्याख्या—शप्श्यनोः । ६ । २ । आत् । ५ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] शतुः । ६ । १ । ['नाभ्यस्ताच्छतुः' से] अङ्गस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है।] नित्यम् । २ । १ । (क्रियाविशेषणम्) । नुम् । १ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थ — (शप्श्यनोः) शप व श्यन् के (आत्) अवर्ण से परे (शतुः) जो शतृँ का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नित्यम्) नित्य (नुम्) नुम् हो जाता है (शीनद्योः) शी और नदी परे हो तो।

भ्वादि और चुरादिगण में शप् तथा दिवादिगण में श्यन् विकरण हुआ करता है। भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय शत्रन्तों को इस सूत्र से शी परे होने पर नित्य नुम् आगम हो जाता है।

पचत् = पकाता हुआ (कुलादि)

पच् (डुपचँष् पाके) यह भ्वादिगणीय उभयपदी धातु है। इस से परे शतृँ प्रत्यय तथा शप् विकरण होकर पच् शप् शतृँ = पच् अ अत्। अब यहां 'यस्मात्प्रत्यय

† नदी का उदाहरण 'भवन्ती, दीव्यन्ती आदि है।

विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (१३३) सूत्र द्वारा पच्+अ='पच' की अङ्गसञ्ज्ञा होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'पचत्' शब्द निष्पन्न होता है।

पचत्+औ=पचत्+ई (शी)। यहां 'अन्तादिवच्च' (४१) की सहायता से 'पच' की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से पर 'त्' यह शतृँ प्रत्यय का अवयव है, तदन्त अङ्ग 'पचत्' है। इस से परे 'शी' के रहने से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया हो जाती है—'पचन्ती'।

पचत्+जस्=पचत्+शि। झलन्त होने से नुम् का आगम और पूर्ववत् अनुस्वार परसवर्णप्रक्रिया करने से—'पचन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पचत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	पचत्-द्	पचन्ती	पचन्ति	पं०	पचतः	पचद्भ्याम्	पचद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पचतोः	पचताम्
तृ०	पचता	पचद्भ्याम्	पचद्भिः	स०	पचति	,,	पचत्सु
च०	पचते	,,	पचद्भ्यः	सं०	हे पचत्-द्!	हे पचन्ती!	हे पचन्ति!

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ) चलत् (चलता हुआ) भवत् (होता हुआ) नयत् (ले जाता हुआ) नमत् (नमस्कार करता हुआ) वदत् (बोलता हुआ) इत्यादि अन्य भ्वादिगणीय तथा चोरयत् (चुराता हुआ) प्रभृति चुरादिगणीय धातुओं के रूप भी समझ लेने चाहियें।

दीव्यत् = खेलता हुआ व चमकता हुआ (कुलादि)

'दिवुँ क्रीडाविजिगीषा... ' (दिवा० प०) धातु से शतृँ प्रत्यय तथा श्यन् विकरण होकर—दिव्+श्यन्+शतृँ=दिव्+य्+अत्। अब 'हलि च' (८.२.७७) से दीर्घ तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'दीव्यत्' शब्द निष्पन्न होता है।

दीव्यत्+औ=दीव्यत्+ई (शी)। यहां श्यन् के यकारोत्तर अवर्ण से परे शतृँ का अवयव तकार विद्यमान है, अतः तदन्त 'दीव्यत्' को शी परे होने पर नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया करने से—'दीव्यन्ती' प्रयोग सिद्ध होता है।

जस् में पूर्ववत्—'दीव्यन्ति'।

'दीव्यत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	दीव्यत्-द्	दीव्यन्ती	दीव्यन्ति	पं०	दीव्यतः	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भ्यः
द्वि०	,,		,,	ष०	,,	दीव्यतोः	दीव्यताम्
तृ०	दीव्यता	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भिः	स०	दीव्यति	,,	दीव्यत्सु
च०	दीव्यते	,,	दीव्यद्भ्यः	सं०	हे दीव्यत्-द्!	हे दीव्यन्ती!	हे दीव्यन्ति!

इसीप्रकार—सीव्यत् (सीता हुआ), अस्यत् (फेंकता हुआ), कुप्यत् (क्रोध करता हुआ), शुध्यत् (शुद्ध होता हुआ) इत्यादि शत्रन्त दिवादिगणीय धातुओं के रूप होते हैं।

{ शत्रन्तों पर विशेष स्मरणीय वक्तव्य }

(१) अभ्यस्तसञ्ज्ञक शब्द । इस श्रेणी में ददत्, दधत्, जुह्वत्, बिभ्यत्, जाग्रत्, जक्षत्, दरिद्रत्, प्रभृति शब्द आते हैं। इन शब्दों का 'शी' में नुम् का आगम प्राप्त नहीं होता। 'शि' में 'वा नपुंसकस्य' (३६४) से विकल्प कर के नुम् हो जाता है।

(२) शप् व श्यन् विकरण के शत्रन्त । भ्वादि और चुरादिगणीय धातुओं से शप् विकरण तथा दिवादिगणीय धातुओं से श्यन् विकरण हुआ करता है। इनके शत्रन्तों को शी तथा शि दोनों में नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—भवत्, भवन्ती, भवन्ति। चोरयत्, चोरयन्ती, चोरयन्ति। दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।

(३) तुदादि, आकारान्त अदादि तथा 'लृट् सद्वा' (८३५) के शत्रन्त । इन को शी में 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३६१) द्वारा वैकल्पिक तथा शि में 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदत्, तुदन्ती तुदती, तुदन्ति। यात्, यान्ती याती, यान्ति। भविष्यत्, भविष्यन्ती भविष्यती, भविष्यन्ति।

(४) उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय धातुओं के शत्रन्त । इस श्रेणी में शी परे होने पर नुम् आगम बिलकुल नहीं होता। शि' में झलन्तत्वात् नित्य नुम् होता है। यथा—(क्र्यादिगणीय) मुष्णत्, मुष्णती, मुष्णन्ति। (तनादिगणीय) कुर्वत्, कुर्वती कुर्वन्ति। इत्यादि ।॥

॥ शतृ प्रत्ययान्त शब्द उगित् हुआ करते हैं अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' (१२४६) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है। ङीप् के अनुबन्धों का लोप होकर 'ई' अवशिष्ट रह जाता है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से 'ई' की नदीसञ्ज्ञा है। तब जैसे 'शी' में जैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् होता है वैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् ई' परे होने पर भी हो जाता है।

यथा—शप् और श्यन् विकरणीय धातुओं से शी में नित्य नुम् होता है, तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नित्य नुम् हो जायगा। तथाहि —

अब बालकों के अभ्यासार्थ नीचे कुछ शत्र त अपने अर्थबोधक अङ्कसहित लिख जाते हैं—

१ चलत् (२), २ विन्दत् (३), ३ जाग्रत् (१), ४ पठत् (२) ५ विशत् (३), ६ शासत् (१), ७ लिखत् (३), ८ विश्राम्यत् (२), ९ बिभ्यत् (१), १० ब्रुवत् (४), ११ दण्डयत् (२), १२ सृजत् (३) १३ दधत् (१), १४ मुञ्चत् (३) १५ रुवत् (४), १६ कथयत् (२) १७ नृत्यत् (२), १८ जुह्वत् (१), १९ सिञ्चत् (३) २० यात् (३), २१ करिष्यत् (३) ॥

यहां तकारान्त नपुंसकशब्द समाप्त होते हैं ।

		नपुंसक के 'शी (औ)' में	नदीसंज्ञक 'ई' अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में		
शप्विकरणीय श्यन्विकरणीय	१	भवन्ती	भवन्ती, भवन्त्यौ, भवन्त्यः ।	उच्चारण	नदीवत्
	२	नमन्ती	नमन्ती, नमन्त्यौ, नमन्त्यः ।	,,	,,
	३	पतन्ती	पतन्ती, पतन्त्यौ, पतन्त्यः ।	,,	,,
	४	चोरयन्ती	चोरयन्ती, चोरयन्त्यौ, चोरयन्त्यः ।	,,	,,
	५	गणयन्ती	गणयन्ती, गणयन्त्यौ, गणयन्त्यः ।	,,	,,
	६	दीव्यन्ती	दीव्यन्ती, दीव्यन्त्यौ, दीव्यन्त्यः ।	,,	,,
	७	अस्यन्ती	अस्यन्ती, अस्यन्त्यौ, अस्यन्त्यः ।	,,	,,
	८	श्राम्यन्ती	श्राम्यन्ती, श्राम्यन्त्यौ, श्राम्यन्त्यः ।	,,	,,

तुदादिगणीय, आकारान्त अदादिगणीय तथा 'लृट् सद्' वाले शत्रन्तों से 'शी' में वैकल्पिक नुम् होता है तो 'ई' में भी वैकल्पिक नुम् होगा । तद्यथा—

तुदादि०	१ तुदन्ती, तुदती	तुदन्ती, तुदन्त्यौ, तुदन्त्यः ।	उच्चारण	नदीवत् ।
		तुदती, तुदत्यौ, तुदत्यः ।	,,	,,
	२ लिखन्ती, लिखती	लिखन्ती, लिखन्त्यौ, लिखन्त्यः	,,	,,
		लिखती, लिखत्यौ, लिखत्यः	,,	,,
आकारान्त अदा०	३ यान्ती, याती	यान्ती, यान्त्यौ, यान्त्यः ।	,,	,,
		याती, यात्यौ, यात्यः ।	,,	,,
	४ पान्ती, पाती	पान्ती, पान्त्यौ, पान्त्यः ।	,,	,,
		पाती, पात्यौ, पात्यः ।	,,	,,

[लघु०] धनुः । धनुषी । 'सान्त ' (३४२) इति दीर्घः । 'नुम्विसर्जनीय ' (३५२) इति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवम्—चक्षुर्हविरादयः ॥

व्याख्या—'धन्' (जुहो० प०) धातु से औणादिक उस् प्रत्यय करने पर 'धनुस्' शब्द निष्पन्न होता है। 'धनुस्' का अर्थ है—धनुष।

धनुस्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'धनुः'। 'पुर्' की तरह रेफान्त धातु न होने से 'र्वोरुपधायाः—' (३५१) से दीर्घ नहीं होता।

धनुस्+औ। नपुंसकाच्च (२३५) से शी आदेश होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है—धनुषी।

लृटि	५ करिष्यन्ती, करिष्यती	करिष्यन्ती करिष्यन्त्यौ करिष्यन्त्यः	उच्चारण नदीवत्
		करिष्यती करिष्यत्यौ करिष्यत्यः ।	,,	,,

उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय शत्रन्त धातुओं के 'शी' में नुम् नहीं होता तो नदी सञ्ज्ञक 'ई' में भी नुम् न होगा। तथाहि—

क्र्या०	१	अश्नती	अश्नती, अश्नत्यौ, अश्नत्यः ।	उच्चारण नदीवत्।	
	२	मुष्णती	मुष्णती मुष्णत्यौ, मुष्णत्यः ।	,,	,,
अदा०	३	अदती	अदती, अदत्यौ, अदत्यः ।	,,	,,
	४	घ्नती	घ्नती, घ्नत्यौ, घ्नत्यः ।	,,	,,
जुहो०	५	जुह्वती	जुह्वती, जुह्वत्यौ जुह्वत्यः ।	,,	,,
	६	ददती	ददती, ददत्यौ, ददत्यः ।	,,	,,
स्वा०	७	प्राप्नुवती	प्राप्नुवती, प्राप्नुवत्यौ, प्राप्नुवत्यः ।	,,	,,
	८	शृण्वती	शृण्वती, शृण्वत्यौ शृण्वत्यः ।	,,	,,
तना०	९	कुर्वती	कुर्वती, कुर्वत्यौ, कुर्वत्यः ।	,,	,,
	१०	तन्वती	तन्वती, तन्वत्यौ, तन्वत्यः ।	,,	,,
रुधा०	११	जानती	जानती, जानत्यौ, जानत्यः ।	,,	,,
	१२	रुन्धती	रुन्धती, रुन्धत्यौ, रुन्धत्यः ।	,,	,,

धनुस् + जस् = धनुस् + इ (शि)। 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) द्वारा नुम् आगम और 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) से नान्त संयोग की उपधा को दीर्घ होकर—धनून्स् + इ। अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार तथा उसके व्यवधान में भी 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (५५२) द्वारा षत्व होकर—'धनूंषि' प्रयोग सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस् और भ्यस् में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व होकर रेफ का ऊर्ध्वगमन हो जाता है—धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः, धनुर्भ्यः।

धनुस् + सु (सुप्)। यहां षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से सर्वप्रथम रुँत्व हो जाता है। अब विसर्ग आदेश होकर 'वा शरि' (१०४) से पक्ष में वैकल्पिक विसर्गादेश और दूसरे पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकारादेश हो जाता है—धनुःसु, धनुस्सु। अब प्रथमरूप में विसर्ग के व्यवधान में और दूसरे रूप में सकार शर् के व्यवधान में 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (५५२) सूत्र द्वारा षत्व हो—धनुःषु, धनुस्षु। अब सकार वाले पक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व षकार करने पर—'धनुःषु, धनुष्षु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

धनुस्❀ (धनुष) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धनुः	धनुषी	धनूंषि	पं०	धनुषः	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्यः
द्वि०	„	„	„	ष०	„	धनुषोः	धनुषाम्
तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भिः	स०	धनुषि		धनुःषु, धनुष्षु
च०	धनुषे	„	धनुर्भ्यः	सं०	हे धनुः !	हे धनुषी !	हे धनूंषि !

❀ कई वैयाकरण 'धनुस्' शब्द में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र द्वारा षत्व करके 'धनुष्' शब्द बना कर सुँ आदि प्रत्यय लाया करते हैं। तब वे सुँप्रत्यय में 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँलुक् कर षत्व के असिद्ध होने से 'ससजुषो रुः' (१०५) द्वारा रुँत्व और उसके रेफ को विसर्गादेश कर 'धनुः' प्रयोग सिद्ध करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि षत्व के अनन्तर स्वादि उत्पन्न होते तो ग्रन्थकार 'धनूंषि' में षत्वसिद्धि के लिये—'नुम्विसर्जनीयेति षः' ऐसा न कहते, षत्व तो वहाँ सिद्ध ही होता। और जो लोग यह कहते हैं कि षत्व होते हुए भी जब झलन्तलक्षण नुम् हो जाता है तब निमित्त के न रहने से निमित्तीषकार भी सकाररूप में परिणत हो जाता है अतः तब 'नुम्विसर्जनीय०' (३५२) द्वारा सकार को पुनः षकार करना आवश्यक होता है, उसीका ग्रन्थकार ने 'नुम्विसर्जनीयेति षः' द्वारा निर्देश किया है। पर यह समाधान भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो

इसी प्रकार—१ वपुस = शरीर । २ हविस् = होम करने योग्य घृतादि । ३ चक्षुस् = आंख । ४ जनुस = जन्म । ५ यजुस् = यजुर्वेद । ६ ज्योतिस् = नक्षत्र । ७ आयुस् = आयु, उमर । ८ अरुस् = मर्म । ९ अर्चिस् = प्रकाश । १० सर्पिस = घृत । ११ तनुस् = शरीर । इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं ।

[लघु०] पय । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् ॥

व्याख्या— पयस् = जल व दूध ।

पयस् + सुँ । सुँलुक होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'पय' ।

पयस् + औ = पयस + शी = पयस् + ई = 'पयसी' ।

पयस + जस् = पयस् + इ (शि) । 'नपुंसकस्य झलच' (२३९) से नुम् का आगम, 'सान्महत संयोगस्य' (३४२) से उपधादीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार होकर—'पयांसि' ।

पयस् + भ्याम् । यहा 'ससजुषो रुँ' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण होकर—'पयोभ्याम्' । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पय	पयसी	पयांसि	प०	पयस	पयोभ्याम्	पयोभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पयसो	पयसाम्
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभि	स०	पयसि	,,	पय सु, पयस्सु
च०	पयसे	,,	पयोभ्य	स०	हे पय !	हे पयसी !	हे पयांसि !

'निमित्तापाये ' परिभाषा ही अनित्य है। और इसे नित्य भी स्वीकार करें तो भी 'अकृतव्यूहा पाणिनीया' आदि परिभाषाओं द्वारा प्रथम षत्व करना युक्त न बन सकेगा ।

कहीं कही 'सिद्धान्तकौमुदी' के सस्करणों में जो "षत्वस्यासिद्धत्वाद् रुत्वम्" ऐसा पाठ देखा जाता है—उसका तात्पर्य—सुँ का लुक् होने पर पदान्त में षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से रुँत्व हो जाता है—ऐसा समझना चाहिये।

और जो लोग षकारान्त होने में यह युक्ति देते हैं कि यदि यह सान्त होता तो आगे सान्त 'पयस्' शब्द लिखने की कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि उसके प्रयोग भी इसी तरह होते हैं—कोई अन्तर नहीं होता। इस पर हमारा निवेदन यह है कि 'पयस्' शब्द का उल्लेख केवल 'भ्याम्' आदियों मे 'हशि च' (१०७) द्वारा उत्वविशेष दर्शाने के लिये ही किया गया है। पयस शब्द के भ्याम् आदि में—'पयोभ्याम् ,पयोभि' प्रयोग बनते हैं परन्तु 'धनुस्' शब्द के 'धनुर्भ्याम् , धनुर्भि' आदि बनते हैं। अत 'पयस्' शब्द का उल्लेख 'धनुस्' शब्द को षान्त प्रमाणित नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अम्भस्	जल	तपस्	तप	रोधस्	नदी का किनारा
अयस्	लोहा	१५ तमस्	अन्धकार		
अर्णस्	जल	तेजस्	दीप्ति	रहस्	तेजी, वेग
अर्शस्	बवासीर	नभस्	आकाश	३० वक्षस्	छाती
५ आगस्	अपराध	पाथस्	जल	वचस्	वचन
उरस्	छाती	मनस्	मन	वयस्	उम्र व परिन्दा
ऊधस्	गौ का आपीन चक्षु।	२० महस्	तेज		
		यशस्	यश	वर्चस्	तेज
एनस्	पाप	यादस्	जलजीव	शिरस्	सिर
ओकस्†	घर	रक्षस्	राक्षस	३५ श्रेयस्	धर्म व मोक्ष
१० ओजस्	बल व तेज	रंहस्	तेजी, वेग	सरस	तालाब
अंहस	पाप	२५ रजस्	धूलि	स्रोतस्	झरना
चेतस	चित्त	रहस्	एकान्त	सहस्	बल
छन्दस्	गायत्री आदि छन्द	रेतस्	वीर्य व बीज		

ये ही शब्द जब बहुव्रीहि में किसी के विशेषण बन जावें, तो नपुंसकलिङ्ग में तो उच्चारण इसी प्रकार होगा। परन्तु पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में 'वेधस्' के समान उच्चारण होगा—प्रसन्नमना पुरुषः, प्रसन्नमना स्त्री। प्रसन्नमनसौ पुमांसौ स्त्रियौ वा। प्रसन्नमनसः पुमांसः स्त्रियः वा।

[लघु०] सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि ॥

व्याख्या—शोभनाः पुमांसो यस्मिन् तत् सुपुम् (कुलम्)। जिस कुल आदि में अच्छे २ पुरुष हों उस कुल आदि को 'सुपुंस' कहते हैं।

सुपुंस्+सुँ। यहां सुँ का लुक् होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) द्वारा सकार का

† इसी का कूट प्रश्न पूछा जाता है—'कदागुरोकसो भवन्त ?'। 'कदा अगुः, ओकसो भवन्त' यह छेद है।

भी लोप हो जाता है। अब निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' द्वारा अनुस्वार अपने पूर्व वाले रूप मकार मे परिणत हो जाता है—'सुपुम्'।

सुपुंस्+औ=सुपुंस्+शी=सुपुंस्+ई=सुपुंसी।

सुपुंस्+जस्। यहा जस के स्थान पर भावी 'शि' सर्वनामस्थान की विवक्षा मे 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा असुङ् आदेश होकर—सुपुमस+जस्। पुन 'शि' आदेश झलन्तलक्षण नुम्, सान्तमहत' (३४२) से दीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार होकर—'सुपुमांसि'।

सुपुंस्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	सुपुम्	सुपुंसी	सुपुमांसि	पं०	सुपुंस	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपुंसो	सुपुंसाम्
तृ०	सुपुंसा	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भि	स०	सुपुंसि	,	सुपुंसु
च०	सुपुंसे	,,	सुपुम्भ्य	सं०	हे सुपुम्!	हे सुपुंसी!	हे सुपुमांसि!

नोट—वस्वन्त नपुंसकों का उच्चारण—विद्वत् द्, विदुषी, विद्वांसि। उपेयिवत्, उपेयुषी, उपेयिवांसि। उपेयिवद्भ्याम्। उपेयिवत्सु। इस प्रकार होगा। अन्य सकारान्तो का नपुंसक में—ज्याय, ज्यायसी, ज्यायांसि आदि।

[लघु०] अद। विभक्तिकार्यम्। उत्व मत्वे। अमू। अमूनि। शेष पुंवत्॥

व्याख्या—अब अदस्' शब्द के नपुंसक मे रूप सिद्ध किये जाते हैं।

अदस्+सुँ। सुँलुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—अद †।

अदस+औ=अदस+ई (शी)। उत्व मत्व के असिद्ध होने से प्रथम त्यदाद्यत्व पररूप, और गुण एकादेश होकर—'अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (३५६) सूत्र से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—अमू'।

अदस्+जस्=अदस्+शि। त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर—अदानि। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (३५६) सूत्र से उत्व मत्व करने से—'अमूनि'।

द्वितीया में भी इसी तरह प्रयोग बनते हैं। शेष प्रक्रिया पुंवत् होती है।

---

† यहाँ अदस् शब्द के सान्त होने से 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (३५६) द्वारा उत्व मत्व नहीं होता है। विभक्ति परे न होने के कारण 'त्यदादीनाम' (१९३) सूत्र भी प्रवृत्त नहीं हो सकता।

नपुंसक में 'अदस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अदः	अमू	अमूनि	प०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

अभ्यास (४७)

(१) 'ऊर्न्जि' रूप पर "नरजानां संयोग" लिखने की क्या आवश्यकता थी ? सविस्तर सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) नपुंसक में किन किन प्रत्ययों के परे होने पर भसञ्ज्ञा और सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हुआ करती है ? ससूत्र स्पष्ट करें।

(३) हलन्त नपुंसक' में ऐसा कौन सा शब्द आया है जिसके सुँ और अम् के रूपों में भेद होता है ? (उत्तर—अन्वादेश में इदम्' शब्द)।

(४) गतिपक्ष के 'गवाक्षु' आदि रूपों में 'चयो द्वितीया ' क्यों प्रवृत्त नहीं होता।

(५) "धनुस शब्द से सान्त अवस्था में ही स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते है"—इस कथन की सोदाहरण सप्रमाण पुष्टि करो।

(६) 'अदः' प्रयोग में उत्व मत्व क्यों नहीं होते ? कम स कम त्यदाद्यत्व तो होना ही चाहिये था।

(७) 'इदम्' शब्द के नपुंसक के अन्वादेश में 'एनत्' आदेश क्यों विधान किया गया है, क्या 'एन' आदेश से काम नहीं चल सकता था ? भाष्यानुकूल तात्पर्य स्पष्ट करें।

(८) "नपुंसकलिङ्ग में शत्रन्त शब्द चार प्रकार के होते है"—इस कथन की परस्पर भेदनिर्देशपूर्वक सोदाहरण व्याख्या करे।

(९) वारि, ददति, तुदति, पचति, दीव्यति, दीव्यन्ति, के, इमे, ते, ये, एते—आदि प्रयोग क्या आप को कहीं अन्यशब्द वा धातु की वा अन्य विभक्ति आदि की भ्रान्ति तो उत्पन्न नहीं कराते ? यदि कराते हैं तो कहां कहां ? सविस्तर लिखें।

(१०) 'गो अञ्च्' शब्द के १०१ रूपों की सङ्क्षिप्ततरीत्या सिद्धि करे।

(११) गवाक् शब्द के १०१ रूपों की सङ्ख्या पर पूर्वपक्षियों के आक्षेप लिख कर उनका समाधान करें।

(१२) तत्, यत्, एतत् — इन मे 'तदो स —' द्वारा सकारादेश क्यों न हो ?

(१३) 'वार्षु' में खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग आदेश क्यों नहीं होता ?

(१४) ऊर्न्जि, चत्वारि, सुपुमांसि, धनूंषि, पयोभि, धनुष्षु, तपांसि, हे दण्डि ! सुपन्थानि, अह्नी, इमे, स्वनडुत्, अमूनि—इन प्रयोगों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सविस्तर सिद्धि करे ।

यहा सकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गा [शब्दा] ॥

अर्थ —यहा हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—षड्लिङ्गप्रकरण भी यहा समाप्त समझना चाहिये ।

इति भैमी व्याख्ययो—

पबृंहिताया लघुसिद्धान्त-

कौमुद्या हलन्त-नपुंसक लिङ्ग-

प्रकरण पूर्त्तिमगात् ॥

—॥—

* अथाऽव्यय-प्रकरणम् *

— — ॐ — —

सँस्कृतसाहित्य में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। १ विकारी, २ अविकारी। जो शब्द विभक्तिवचनवशात् विकार को प्राप्त होते हैं व विकारी' कहाते हैं। इस कोटि मे सुबन्त† और तिङन्त श द आते हैं। जो शब्द सदा सब परिस्थितयों में विकाररहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे 'अविकारी' कहाते हैं। यथा—च, न, यदि, अपि, नाना, विना आदि। व्याकरण मे अविकारी शब्दों को अव्यय कहते हैं। अब यहा उक्त अ ययों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— ३६७ स्वरादिनिपातमव्ययम् ।

।१।१।३६॥

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञा स्यु ।

अर्थ—स्वर् आदि शब्द तथा निपात अव्ययसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—स्वरादिनिपातम् ।१।१। अ ययम् ।१।१। समास—'स्वर्' शब्द आदिर्येषा ते स्वरादय । स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम्। समाहारद्वन्द्व । अर्थ—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि शब्द तथा निपात (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। स्वरादि शब्द पाणिनिमुनिविरचित गणपाठ' मे पढ़े गये हैं। निपात—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपादान्तर्गत 'प्राग्रीश्वरान्निपाता' (१ ४ ५६) के अधिकार में पढ़े गये हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

अब मूलगत स्वरादिगण—अर्थ, उदाहरण तथा विस्तृतटिप्पण सहित नीचे दिया जा रहा है। इस गण में बालोपयोगी अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों पर चिह्न (+) कर दिया गया है।

---

† यहां सुबन्त से तात्पर्य अव्ययभिन्न सुबन्त से है।

स्वरादि-गण

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१ स्वर् +	स्वर्ग व परलोक	पुण्यकर्माण स्वर्गच्छन्ति । मनुष्य प्रेत्य स्वर्गच्छति । 'स्वर्गे परे च लोके स्व' इत्यमर ।
२ अन्तर् +	मध्य	गृहस्यान्तर्विगाहते ।
३ प्रातर् +	प्रात काल	प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गत । रात्रौचौरप्रसङ्गेन कालोगच्छति धीमताम्॥[1]
४ पुनर् +	फिर	गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।
५ सनुतर्[2]	छिपना	सनुतश्चौरो गच्छति ।

नोट—उपर्युक्त पाञ्चों अव्यय रेफान्त हैं, अत 'हशि च' (१०७) आदि द्वारा उत्वादिकार्य नहीं होते । यथा—प्रातर्गच्छ, पुनरत्र, अन्तरस्ति, सनुतर्धेहि त तत । प्रातोऽत्र, पुनोऽपि—लिखने वाले विद्यार्थी सावधान रहे ।

१ द्यूतप्रसङ्ग = भारतम्, स्त्रीप्रसङ्ग = रामायणम् , चौरप्रसङ्ग = भागवतम् ।

२ 'सनुतर्' अव्यय का प्रयोग प्राय लोक मे नहीं देखा जाता । वेद में इस का प्रयोग पाया जाता है । ऊपर का उदाहरण 'गणरत्नमहोदधि' से उद्धृत किया गया है । अमरकोषादि लौकिक कोषों में इसका उल्लेख नहीं ।

निघण्टु मे यह अव्यय 'निर्णीतान्तर्हित' अर्थ में पढा गया है । निर्णीतञ्च तद् अन्तर्हितञ्चेति कर्मधारय' (स्कन्दमाहेश्वरकृत निरुक्तभाष्यटीका) । जो छिपा हुआ तो हो परन्तु निर्णीत हो—उसे 'सनुतर्' कह सकते हैं । व्याकरण के सब ग्रन्थों में इसका अर्थ 'अन्तर्धान' अर्थात् छिपना लिखा है । परन्तु श्रीसायण अपने वेदभाष्य में सर्वत्र इसका अर्थ 'छिपा हुआ' करते हैं । यथा—"(सनुत) अन्तर्हितनामैतत्' [ऋग्वेद १ ४२ ११] । "सनुतरित्यन्तर्हितनाम' [ऋग्वेद ५ ४५ ५] । "सनुतश्चरन्तम् = निगूढ चरन्तम्" [ऋग्वेद ५ २ ४] । इसका 'छिपा हुआ' अर्थ करने से गणरत्नमहोदधिकार का उदाहरण भी बडा सुन्दर प्रतीत होता है—सनुतश्चौरो गच्छति (छिपा हुआ चोर जा रहा है)।

६	उच्चैस्+	ऊँचा	उच्चै पर्वता सन्ति ।
७	नीचैस्+	नीचा	नीचैर्गच्छति रथ ।
८	शनैस्+	आहिस्ता	शनै पन्था शनै कन्था शनै पर्वतलङ्घनम् ।
९	ऋधक्	सत्य	ऋधग्वदन्ति विद्वास ।

नोट—लौकिककोषों मे प्राय इसका उल्लेख नहीं मिलता । वेद में इसका प्रचुर प्रयोग है ।

१०	ऋते +	बिना व बगैर	ऋते ज्ञानान्न मुक्ति ।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्याराद् ' (२ ३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है । लोक में द्वितीया का भी क्वाचित्क प्रयोग देखा जाता है । उसका समाधान कई लोग "ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" से करते हैं ।

११	युगपत्+	एक साथ	युगपद् गच्छन्ति बालका ।
१२	आरात्+	दूर व समीप	आराद् दुष्टात् सदा वसेत् (दूरे)। आराद्गीशाद् सेद् बुध (समीपे)।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्याराद् ' (२ ३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है ।

१३	पृथक् +	भिन्न व इलहदा	दुष्ट कार्यात्पृथक्काय । ईश्वरात्पृथग्जगन्नास्ति ।

नोट—इस शब्द के योग में 'पृथग्विना ' (२ ३ ३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है ।

—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा वेदाङ्गप्रकाश 'अव्ययार्थ' में 'सनुत' का 'सदा' अर्थ किया है । वेदाङ्गप्रकाश में उन्होंने 'सनुत पुरुषार्थे प्रयतेरन्' ऐसा उदाहरण भी दिया है । पता नहीं इन के अर्थ का क्या आधार है ।

१४ ह्यस् +	गुजरा हुआ पिछला दिन	ह्योऽस्माक परीक्षाऽभवत् ।
१५ श्वस् +	आगे आने वाला दिन	श्व कार्यमद्य कुर्वीत । श्वोऽस्माक गृहे यज्ञो भविता ।
१६ दिवा+	दिन	पीनोऽय देवदत्ता दिवा न भुङ्क्ते । दिवा च रात्रिश्च तयो समाहार = दिवारात्रम् । निद्रया ह्रियते नक्त दिवा च व्ययकर्मभि । (भा० १ १६ ६)
१७ रात्रौ	रात	दिवा काकरवाद् भीता रात्रौ तरति नर्मदाम् ।

नोट— गणरत्नमहोदधि' म इसका उल्लेख नहा, परन्तु काशिकादि सब ग्रन्थों म है । समझ नहीं पडता कि जब 'रात्रि' शब्द से काम चल सकता ह तब इसके मानने की क्या आवश्यकता है । यजुर्वेद के (२३ ४) मन्त्र के सिवाय अन्य किसी वेद म 'रात्रा' शब्द नहीं पाया जाता । यजुर्वेद के (२३ ४) म त्र क पदपाठ के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहा अव्यय का प्रयोग नही है कि तु 'रात्रि' शब्द क सप्तमी क एकवचन का प्रयाग है ।

'प्रक्रियाकौमुदी' की प्रसाद' टीका म टीकाकार ने "रात्रौ वृत्त तु द्रक्ष्यसि" यह उदाहरण लिख स्वय ही असन्तुष्ट होकर 'रात्रौचर' यह नया उदाहरण दिया हे । हमे किसी कोष व काव्यादि में इस नये शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ ।

१८ सायम्+	सायङ्काल	साय सन्ध्यामुपासीत ।

नोट—इसी अर्थ में घञन्त साय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है । वह घञन्त होने से पुल्ँलिङ्ग माना जाता हे । 'सङ्ख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहन्यतरस्या ङौ' (६ ३ १०६) सूत्र में इसी का ग्रहण होता है—सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने । इस विषय में सायचिर प्राह्णे ' (४ ३ २३) सूत्र की काशिकावृत्ति भी द्रष्टव्य है ।

१९ चिरम्+	देर तक	मुहूर्त्त ज्वलित श्रेयो न च धूमायित चिरम् । चिर जीवतु मे भर्ता ।

नोट—दीर्घकालवर्त्ती पदार्थ मे त्रिलिङ्गी 'चिर' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ करता है। यथा—

चिरजीविन्—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषण ।
कृप परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविन ॥"
अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविन । [रामायण]

चिरजीविका—वृणीष्व वित्त चिरजीविकाञ्च । [कठोपनिषदि]

चिरायुस्—लब्धदौहृदा च वीर्यव त चिरायुष पुत्र जनयति । [सुश्रुते]

चिरलोक—स एक पितृणा चिरलोकलोकानामानन्द । [तै उप]

इसी प्रकार चिरक्रिय, चिरपाकी प्रभृति शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त 'चिर जीवतु मे भर्ता' प्रभृति 'चिरम्' अव्यय के उदाहरण भी 'चिर' शब्द से क्रियाविशेषणत्वेन निष्प न हो सकते हैं। अत इस अव्यय का फल—'चिरञ्जीवी, चिरञ्जीवक' प्रभृति कतिपय शब्दो में ही देखा जाता है। 'चिरन्तन' भी 'चिर' शब्द से निष्पन्न हो सकता है—देखो 'सायचिरम् ' (४ ३ २३) सूत्र पर काशिकावृत्ति ।

२० मनाक् +	थोडा	रे पान्थ विह्वलमना न मनागपि स्या ।
२१ ईषत् +	थोडा व आसान	पात्र ईषदपि दान कल्याणकरम् । ईषत्कर कटो भवता।
२२ जोषम्	सुख, चुप्पी	जोषमास्ते जितेन्द्रिय । जोष कुरु मूढ ! ।
२३ तूष्णीम् +	मौन	न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह । [गीता]
२४ बहिस् +	बाहर (बाह्य)	बहिर्गच्छ इत स्थानात् । न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय सश्रय ते ।
२५ अवस्	बाहर (बाह्य)	अवो गच्छति । [गणरत्नमहोदधि]

नोट— इसक प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

२६ अधस् +	नीचे	'अध पश्यसि कि बाले ! तत्र कि पतितं भुवि । रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥ 'अधोऽध पश्यत कस्य महिमा नोपचीयते ॥
२७ समया +	समीप	त्वां समयास्ते । [तेरे समीप है ।]
	मध्य	ग्रामं समयास्ते । [ग्राम के मध्य है ।]

नोट—इसके योग में द्वितीया का विधान है ।

२८ निकषा +	समीप	'समेत्य लङ्कां निकषा हनिष्यति' । [शिशुपालवधे]

नोट—इसके योग में भी द्वितीया का विधान है ।

२९ स्वयम् +	अपने आप व खुद	स्वयमिच्छामि पठितुम् । स्वयङ्कृतमिदं कर्म ।*
३० वृथा +	व्यर्थ	'वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम् । वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवापि च ॥'
३१ नक्तम् +	रात (में)	नक्तञ्चरोऽसौ सहसा प्रयाति ।

नोट—संस्कृत साहित्य में 'नक्त' इस प्रकार का अजन्त नपुंसक शब्द भी क्वाचित्क प्रयुक्त होता है । तद्घटित शब्द यथा—

नक्तचर—"जयेत् नक्तचरान् सर्वान् सपुरोहित भूगत " । (?)

नक्तभोजिन्—"हविष्यभोजनं स्नानं सत्यमाहारलाघवम् ।"

'अग्निकार्यमधः शय्या नक्तभोजी षडाचरेत् ॥" (भविष्यपु०)

इसे अव्यय मानना भी परमावश्यक है । अन्यथा—नक्तञ्चर नक्तञ्चारी प्रभृति शब्द उपपन्न न हो सकेंगे ।

३२ नञ् +	नहीं	न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके, सहस्रशो यन्न मया व्यधायि । सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द ! क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

* चतुरः सखि मे भर्ता यल्लिखति च तत् परो न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥

नोट—इसके अनुबन्ध ञकार का लोप हो जाता है, अतः प्रयोग मे 'न' ही आता है। यह अनुबन्धकरण इसलिये किया गया है कि—'नलोपो नञः' (६.३.७२) द्वारा इसी नकार का ग्रहण हो (यथा—अनेकधा), अग्रिम 'न' का न हो, अतः 'नैकधा' आदियों मे नकार का लोप नही होता। इस 'नञ्' के अनेक अर्थ होते हैं। यहां बालोपयोगी साधारण अर्थ लिख दिया है ईषत् अर्थ मे भी कुछ कुछ प्रसिद्ध है—'अनुदरा कन्या'। विशेष विस्तार सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या मे देखें।

३३ न +	नहीं	"चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणाम्। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।" इसी प्रकार—गमिकर्मीकृतनैकनीवृता, नैकधा, नान्तरीयम् प्रभृति।
३४ हेतौ	निमित्त	हेतौ हृष्यति। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—हमे किसी ग्रन्थ में इस अव्यय का प्रयोग नहीं मिल सका। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। ऊपर दिया श्रीवर्धमान का उदाहरण भी सारहीन प्रतीत होता है। 'हेतौ हृष्यति' का अर्थ है—'निमित्त से प्रसन्न होता है'। यह अर्थ भावसप्तम्यन्त 'हेतु' शब्द से भी सिद्ध हो सकता है। अतः इसके प्रयोग अन्वेषणीय है।

३५ इद्धा	प्रकाश [जाहिर]	'समिद्धमिद्धेश महो ददासि'। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ मे नहीं मिला। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। चारों वेदसंहिताओं में भी इसका कहीं पता नहीं चलता। ऊपर का उदाहरण गणरत्नमहोदधिकार श्रीवर्धमान का है। अन्य सब ग्रन्थकारो ने इसे ही उद्धृत किया है। प्रतीत होता है कि अन्य ग्रन्थकारों को इसके अतिरिक्त अन्य कोई उदाहरण नहीं मिल सका। वाचस्पत्यकोषकार श्रीतारानाथ ने यह उदाहरण भागवत

का माना है परन्तु हम यह भागवत म नहा मिल सका। सम्भव है कि यह भागवत में ही हो और हमार दृष्टिगोचर न हुआ हो। परन्तु इतना तो सत्य ह कि वत्तमान उपल ध सस्कृतसाहि य म इसके प्रयोग अन्वेषणीय हे।

३६ अद्धा	१ सचमुच	'अद्धा नकिरन्यस्त्वावान्' (ऋग्वेद १ ४२ १३)। [हे प्रभो! सचमुच तेरे जैसा कोइ नहीं]।
	२ सत्य	'क अद्धा वेद' (ऋ० ३ ५४ ५) [इस ससार का कौन सत्य जानता है।]
	३ साक्षात् व प्रत्यक्ष	त्वयि मेऽनन्यविषया मतिमधुपतेऽसकृत्। रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥ [भागवत १ ८ ४२]†
	४ नि सन्देह	'यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम्' [भागवत १ १२ २८]। (नि सन्दह वह अमरपद को पावेगा)॥
३७ सामि	१ आधा	१ सामि कार्यं त्वया कृतम्।
	२ निन्दित	२ साम्यधम सेवितोऽनेन।

३८ वत्

नोट—यह प्रत्यय है। 'वतिप्रत्ययान्त अव्यय हो' यह इसके ग्रहण का प्रयोजन है। यहा 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' (५ १ ११४), तत्र तस्येव' (५ १ ११५), तदर्हम्' (५ १ ११६) इन तीन सूत्रों से विहित 'वति' प्रत्यय का ही ग्रहण समझना चाहिये। 'ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्'– ये दो वतिप्रत्ययान्त के उदाहरण दिये गये हैं। इसीप्रकार—नृपवत् बालवत्, चौरवत् आदि अन्य वत्यन्त भी जान लेने चाहिये। यह 'वति' प्रत्यय सादृश्य अर्थ म प्रयुक्त होता है।

† हे मधुपते! जैसे गङ्गा का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर बढता रहता है वैसे ही साक्षात् आप मे मेरी सवदा अनन्यप्रीति हो।

॥ एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवानर्चति न पितृन्। [शत० ८ ३ १ २४] यहाँ पर समास में उसका प्रयोग है।

यथा—ब्राह्मणवत् = ब्राह्मण के समान, क्षत्रियवत् = क्षत्रिय के समान इत्यादि। वस्तुतः इस अव्यय का पाठ यहां उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वत्प्रत्ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा तो 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही सिद्ध हो सकती है।

३९ सना	सदा व नित्य	सना भव = सनातनो धर्मः। ['सायंचिरम्—' इति ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च]। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्। [महाभारते]
४० सनत्	सदा व नित्य	सनत्कुमार [सदा कुमार]।
४१ सनात्	सदा व नित्य	सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे [ऋ० १ ५१ ६]

नोट—यह अव्यय प्रायः वेद में ही देखा जाता है।

४२ उपधा	भेद	

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में प्रयुक्त तथा किसी कोष में लिखा नहीं मिला। काशिका, गणरत्नमहोदधि आदि प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में इस का पाठ उपलब्ध नहीं। हमारा कुछ ऐसा विचार है कि यह बाद में [स्यात् 'प्रक्रियाकौमुदी' के समय से] स्वरादिगण में सम्मिलित कर लिया गया है। पर हमें यह विदित नहीं हो सका कि सम्मिलित करने वाले ने कौन से ऐसे प्रयोग देखे हैं जिनके कारण उसे परवश (मजबूर) होकर इसे अव्यय मानना पड़ा है। आशा है कि अन्वेषणप्रेमी विद्वज्जन इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

४३ तिरस्+	टेढ़ा व तिरछा	तिरोदृष्ट्या समीक्षते।
	छिपना	अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।
	अनादर	गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि- स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

नोट—'छिपना' अर्थ में तिरस् अव्यय का प्रयोग प्रायः धातु के साथ ही पाया जाता है। 'तिरोऽन्तर्धौ' (१ ४ ७) सूत्र द्वारा छिपना अर्थ में तिरस की गति सञ्ज्ञा हो जाती है। गतिसञ्ज्ञा होने से 'कुगतिप्रादयः' (२ २ १८) सूत्र द्वारा समास हो जाता है। समास होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७ १ ३७) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है—यथा—तिरोभूय, तिरोधाय इत्यादि।

परन्तु 'कृञ्' धातु के योग में छिपना अर्थ होने पर भी 'विभाषा कृञि' (१ ४ ७१) सूत्र द्वारा 'तिरस्' की विकल्प कर के गतिसञ्ज्ञा होती है। गतिसञ्ज्ञा वाले पक्ष में 'कुगतिप्रादयः' (२ २ १८) द्वारा समास होकर क्त्वा को ल्यप् हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य। गति सञ्ज्ञा के अभाव वाले पक्ष में समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। यथा—तिरः कृत्वा†।

४४ अन्तरा+	मध्य	'अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति'।
	विना	न च प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते। [मुद्राराक्षसे]

नोट—इस अव्यय के योग में 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' (२ ३ ४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान किया जाता है।

४५ अन्तरेण+	विना	क्रियान्तरान्तरायमन्तरेणार्यं द्रष्टुमिच्छामि। [मुद्राराक्षसे]
	मध्य	त्वां मां चान्तरेण हरिः।

नोट—इस अव्यय के योग में भी 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' (२ ३ ४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान है।

† गति पक्ष में 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८ ३ ४२) सूत्र द्वारा विसर्ग को विकल्प कर के सकारादेश हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य, तिरः कृत्य। परन्तु 'तिरः कृत्वा' में गतिसञ्ज्ञा न होने से सकारादेश भी नहीं होता।

४६ ज्योक्	बहुत समय	'सवमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिभवति महान् कीर्त्या'। [छान्दोग्योपनिषदि]

नोट—यह अ यय वैदिकसाहित्य म ही प्रयुक्त देखा जाता है। लौकिकग्र थों मे इसका प्रयाग नहीं देखा जाता। इसके शीघ्र, समाप्ति आदि अन्य अथ भी हैं।

४७ कम्	जल	कञ्जम् = पद्मम् [पानी में पैदा होने वाला, कमल]।
	मस्तक	कञ्जा = कशा [मस्तक पर पैदा होने वाले, केश]।
	कुत्सित व नि दनीय	कन्दर्प = काम [जिसके कारण कुत्सित अभिमान हो, काम]
	सुख	कयु = सुखी [अत्र 'कशम्भ्या बभयुस् ' (५ २ १३८) इति मत्वर्थीयो 'युस्' प्रत्यय । सित्वाच्च 'सिति च' इति पदत्वेन मोऽनुस्वार । वैकल्पिकपरसवणश्च—'कय्ँयु '।]
४८ शम् +	सुख व शान्ति	शङ्कर शङ्करोतु न ।
४९ सहसा +	विना विचार	सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम्।
	यकदम	सहसाग्निरिवोत्थित ।
५० विना +	बगैर	दुभगाभरणप्रायो ज्ञान भार क्रिया विना ।

नोट— इसके योग में 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' (२ ३ ३२) सूत्र स द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी का विधान होता है।

५१ नाना +	अनेक	नानापुराणनिगमागमसम्मत यद्, रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥ (तुलसीरा०)

	बिना	नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा ।

नोट—इस शब्द के योग में भी पूर्वोक्त सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

सूचना—बिना और नाना का पाठ भी 'वत् की तरह यहां य-न सा प्रतीत होता है। तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (३६८) से ही इनकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

५२ स्वस्ति +	मङ्गल व कल्याण	स्वस्त्यस्तु ते।

नोट—इस अव्यय के योग में नमःस्वस्ति ' (८९८) सूत्र से चतुर्थी विभक्ति विधान की जाती है। उदाहरण में तुभ्यम् के स्थान पर ते' आदेश हुआ है।

५३ स्वधा	पितरों के उद्देश्य से त्याग करना	पितृभ्यः स्वधा।

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्वोक्त सूत्र से चतुर्थी विभक्ति होती है। इसके अन्य भी अनेक अर्थ शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों में किये गये हैं। इसके अतिरिक्त वैदिकसाहित्य में स्वधा' इस प्रकार आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी देखा जाता है। यथा—

१ अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीत [ऋग्वेद १ १६४ ३८]

२ आदह स्वधामनु। [ऋग्वेद १ ६ ४]

३ नमो व पितर स्वधायै। [यजुर्वेद २ २] इत्यादि।

५४ अलम् +	भूषण (सजाना)	अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते। [मनु०]

नोट—यहां भूषणेऽलम्' (१ ४ ६३) सूत्र से 'अलम्' की गतिसञ्ज्ञा हो जाने से 'कुगतिप्रादयः (९४६) द्वारा समास हो जाता है। अतः 'समासेऽनञ्पूर्वे ' (८८४) सूत्र से क्त्वा को ल्यबादेश होता है।

पर्याप्ति (काफी होना)	अलं भुक्तवान् । अलमस्त्यस्य धनम् ।
शक्ति (सामर्थ्य)	अलं मल्लो मल्लाय । दैत्येभ्यो हरिरलम् ।

नोट—शक्ति अर्थात् सामर्थ्य अर्थ मे 'अलम्' के योग मे 'नमः स्वस्ति ' (८९८) सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती है। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इस वार्तिक मे पर्याप्ति का तात्पर्य सामर्थ्य से ही है, पूर्वोक्त पर्याप्ति से नही ।

वारण (रोकना)	अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् । न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः, शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ (रघु०) अलमतिप्रसङ्गेन ।

नोट—ऐसे स्थलों पर प्रायः तृतीया विभक्ति प्रयुक्त होती है। विशेष 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें ।

५५ वषट्	देवाताओं के	वषडस्तु तुभ्यम् (यजुर्वेद ११ ३९)
५६ श्रौषट्	निमित्त	अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निम् । (ऋग्वेदे १ १३९ १)
५७ वौषट्	हवि त्याग	इसका उदाहरण अन्वेषणीय है ।

नोट—इन मे से 'वषट्' के योग में 'नमः स्वस्ति ' (८९८) द्वारा चतुर्थी होती है ।

५८ अन्यत्	अन्य, इतर, भिन्न	देवदत्त आयाताऽयञ्च यज्ञदत्त । [गणरत्न०]

नोट—इसके प्रयोग भी अन्वेषणीय हैं ।

५९ अस्ति	सत्त्व = विद्यमानता	अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च । अस्ति नास्ति न जानन्ति न्हि दहि पुन पुन ॥ (चाणक्य०) अस्तिक्षारा ब्राह्मणा । अस्त्यहमार्येणादिष्ट । (मुद्राराक्षस) । अस्ति परलोके मतिरस्येत्यास्तिक ।
६० उपांशु	विजन (एकान्त)	परिचेतुमुपांशु धारणा कुशपूत प्रवयास्तु विष्टरम् । (रघु०)

नोट—"जिह्वोष्ठौ चालयेत्किञ्चिद् देवतागतमानस । निजश्रवणयोग्य स्यादुपांशु स जप स्मृत " । इस लक्षण वाला जप भी 'उपांशु' कहाता है पर तु वह उकारान्त पुल्लिङ्ग है—अव्यय नहीं ।

६१ क्षमा	क्षमा	क्षमा करोतु भवान् । [व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि]

नोट—इस अव्यय का संस्कृतसाहित्य में प्रयोग अन्वेषणीय है ।

६२ विहायसा	आकाश	विहायसा पश्य विहङ्गराजम् । [हेमचन्द्र]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । उपर्युक्त उदाहरण श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत अभिधान चिन्तामणि का है ।

६३ दोषा	रात्रि	दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति । [माघे ४ ४६] दिवाभूता रात्रि ,दोषाभूतमह । [महाभाष्ये १ १ ४१]

नोट—'दोषा' यह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी प्रयुक्त हुआ करता है । यथा—'तत कथाभि समतीत्य दोषाम्' (भट्टि० २२ २४) ।

६४ मृषा +	मिथ्या व असत्य	अय दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।

		मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादप प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नल । [नैषधे]
६५ मिथ्या +	झूठ व असत्य	यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ (मनु०)
	व्यर्थ	ज्योतिषं जलदे मिथ्या, मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् । योगो बह्वशने मिथ्या, मिथ्या ज्ञानञ्च मद्यपे ॥
६६ मुधा +	व्यर्थ	सीतया रामचन्द्रस्य गले कमलमालिका । मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेऽपि क्रियापदे ॥ (अत्र 'प्रत्यक्षेपि' क्रिया)
६७ पुरा +	प्रबन्ध = निरन्तर क्रिया करना	उपाध्यायेन स्म पुराधीयते । अविरतमपाठीत्यर्थः ।
	निकट आगामी काल	गच्छ पुरा देवो वर्षति । समनन्तरं वर्षिष्यतीत्यर्थः । अत्र 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (१ ३ ४) इति लट् ।
	व्यतीत प्राचीन काल	पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे, कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः । अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥
६८ मिथो	एकान्त व आपस में	मन्त्रयन्ते मिथो । [शब्दकौस्तुभे]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । किञ्च ध्यान रहे कि इससे अच् परे होने पर 'ओत्' (५६) सूत्र प्रवृत्त होकर प्रगृह्यसञ्ज्ञा कर देता है । यथा—मिथो अत्र, मिथो इति ।

६९ मिथस् +	एकान्त	मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ (मनु० ६ ७०) ['रहसि' इति कुल्लूक]

परस्पर — असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयो ।
अविन्दस्तत्त्वत स य शपथेनापि लम्भयत ॥
(मनु०)

७० प्रायस् + | बहुधा (अक्सर) | प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव या त्यापद ।†

७१ मुहुस् + | बार बार (पुन २) | मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ।

७२ प्रवाहुकम् } ७३ प्रवाहिका | समानकाल, शीघ्र | प्रवाहुक गृह्णीयात् । [प्रक्रियाकौमुदी प्रसादटीका]

नोट—कई गणपाठों म 'प्रवाहुकम्' के स्थान पर 'प्रवाहिका' पाठ पाया जाता है । इन अव्ययो क प्रयोग सस्कृतसाहित्य में अन्वेषणीय हैं । किसी कोष म इनका उल्लेख नहीं । ग्रहणीरोगवाची 'प्रवाहिका' शब्द टाबन्त होता है । स्वामी दयान द सरस्वती ने प्रवाहुकम्' पाठ मान कर उसका 'प्राबल्य अथ किया है । इस अथ में 'प्रवाहुक्' शब्द तो काठकसहिता मे देखा जाता है—' देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग् ग्रहान् गृह्णाना आयन्'' । [काठक २९ ६] । सम्भव है कि इस शब्द का किसी लुप्त शाखा म पाठ हो ।

७४ आर्यहलम् | बलात्कार करना | आर्यहल गृह्णाति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

७५ अभीक्ष्णम् + | निरन्तर, पुन २ | वले प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम् ।

७६ साकम् + } ७७ सार्धम् + | साथ | पित्रा साक सार्धं वाऽऽगत पुत्र ।

नोट—साकम्, साधम् इन दोनों अव्ययों के योग में अप्रधान मे 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२ ३ १९) द्वारा तृतीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार—'समम्, सत्रा सह' इनके साथ भी तृतीया का विधान है ।

७८ नमस् + | नमस्कार | येन धौता गिर पुसा विमलै शब्दवारिभि ।
तमश्चाज्ञानज भिन्न तस्मै पाणिनये नम ॥

† 'प्राय' इस प्रकार अकारान्त शब्द भी होता है—निन्दाप्राया सेवा त्यजेत् ।

नोट—इस अव्यय के योग में 'नमःस्वस्ति ' (८६८) द्वारा चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इस अव्यय के 'अस्त्र, वज्र' आदि अन्य अर्थ भी वेद में प्रसिद्ध हैं।

७६ हिरुक्	वर्जन=छोड़ना	य ई ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। [ऋग्वेदे १ १६४ ३२]

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में ही प्रसिद्ध है।

८० धिक् +	धिक्कार	रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे, विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिक् धिक्। अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति, व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिक् धिक्॥

नोट—इस अव्यय के योग में 'उभसर्वतसोः कार्या ' द्वारा द्वितीया का विधान होता है।

८१ अथ +	प्रारम्भ	अथ शब्दानुशासनम्। अथ योगानुशासनम्।
	आनन्तर्य	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [वेदान्तशास्त्रे १ १]। [अथ = साधनचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः] अथ प्रजानामधिपः प्रभाते—(रघुवंशे)। [अथ = निशाशयनानन्तरमित्यर्थः।]
	संशय	शब्दो नित्योऽथानित्यः? (महाभाष्ये)।
	समुच्चय	भीमोऽथार्जुनः।
	पक्षान्तर	अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः— (वेणीसंहारे)। अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि (गीता०)

नोट—'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गल नहीं हुआ करता किन्तु

---

१ अत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इतिविहितस्य कनः 'जीविकार्थे चापण्ये' इति लुपोऽभावाद् रामकं सीतिकां लक्ष्मणकम् इत्येव प्रयोगाः साधवः।

अन्य अथ का वाचक यह यदि आदि म प्रयुक्त किया जाए तो मङ्गल का द्योतक हा ‑ाता ह। यथा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (यहा भी आन‑तय अथ ही ह)। यह शब्द माङ्गलिक माना जाता है, मङ्गला‑र नहीं।

८२ अम् — शीघ्र और अल्प — इसके प्रयोग अ‑वषणीय हे।

नोट—वत्तमान उपलब्ध लौकिक व वैदिक साहित्य म हम यह शब्द कहा न ीं मिला। ग.दीक्षित आदि इसे प्रत्यय मानते हैं। उनका कथन है कि 'अमु च छन्दसि' (५ ४ १२) सूत्र से विहितप्रत्ययान्त की अ ययसञ्ज्ञा होता है। उदाहरण यथा—प्र त नय प्रतर वयस्य—(यजुर्वेद १२ २६)। परन्तु चाहे यहा 'अम्' मे प्रत्यय भी समझ लें तो भी 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति' (३६८) म ही इसके अ ययसञ्ज्ञक हो जाने से यहा ग्रहण व्यथ सा प्रतीत होता है।

८३ आम् + — स्वीकार क ना — आम्! ज्ञातम्।

नोट—कई लोग यहा भी पूर्ववत् 'किमेत्तिङव्यय— (५ ४ ११) आदि सूत्रो स आम्प्र ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा मानते हैं।

८४ प्रताम् — ग्लानि — इसके उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं।

८५ प्रशान् — तुल्य, सदृश, समान — प्रशान् देवदत्तो यज्ञदत्तेन। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट— इसके प्रयाग अन्वेषणीय हैं।

८६ मा + — मत — माऽस्तु।

८७ माङ् + — मत — भ वन्! मा स्म भूदेवम्।

नोट—यहा का विशेष विचार माङि लुङ् (४३५) सूत्र पर दखें।

आकृतिगणोऽयम् ।

यह स्वरादिगण आकृतिगण है । आकृतिगण का तात्पर्य (३६) सूत्र पर शकन्ध्वादिगण में समझा कर लिख चुके हैं ।

वस्तुत पाणिनि के गणपाठ में कालक्रम से जितने फेरफार हुए हैं, उतने स्यात् ही व्याकरण के किसी ग्रन्थ में हुए हों । स्वरादिगण में कई शब्द जो आज से चार शताब्दी पूर्व उसमें न थे आज विद्यमान हैं । कई शब्द इस गण से निकाल कर चादिगण में सम्मिलित कर दिये गये हैं॥ इन सब को सहेतुक पृथक् २ करना—एक महान् परिश्रम साध्य कार्य है । यदि प्रभु की इच्छा हुई तो 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में आप यह सब देख सकेंगे ।

स्वरादिगण में गिनने योग्य कुछ अन्य शब्द यथा—

१ समम् = साथ । २ सत्रा = साथ । ३ भूयस् = पुन फिर । ४ झटिति = शीघ्र व जल्दी । ५ झगिति = शीघ्र व जल्दी । ६ तरसा = शीघ्र व जल्दी । ७ द्राक् = शीघ्र व जल्दी । ८ अञ्जसा = शीघ्र व जल्दी । ९ मङ्क्षु = शीघ्र व जल्दी । १० सपदि = उसी समय, तत्क्षण । ११ कामम् = यथेच्छ, बेशक । १२ संवत् = वर्ष ('संवत्सर' का संक्षिप्त रूप है) । १३ बदि = कृष्णपक्ष ('बहुलदिवस' का संक्षिप्त रूप है) । १४ शुदि = शुक्ल पक्ष ('शुक्लदिवस' का सङ्क्षिप्त रूप है) । १५ साक्षात् = सामने, दर्शन । १६ साचि = टेढा । १७ अजस्रम् = निरन्तर, हमेशा । १८ अनिशम् = निरन्तर, हमेशा । १९ वरम् = अच्छा । २० स्थाने = उचित । २१ कृतम् = 'अलम्' के अर्थ में बस निषेध, रोकना । २२ प्रादुस् = प्रकट होना । २३ आविस = प्रकट करना । २४ प्रकामम् = यथेच्छ । २५ उषा = रात । २६ ओम् = अङ्गीकार करना, परब्रह्म । २७ अवश्यम् = निश्चय से । २८ सततम् = निरन्तर व हमेशा । २९ साम्प्रतम् = इस समय, ठीक । ३० परम् = लेकिन, परन्तु, किन्तु । ३१ सुष्ठु = अच्छा । ३२ दुष्ठु = निकृष्ट । ३३ मिथु = दो । ३४ कु = कुत्सित, थोड़ा । ३५ चिरेण = देर तक । ३६ चिराय = देर तक । ३७ चिररात्राय = देर तक ।

॥ यथा 'मिथो' अव्यय का पाठ स्वरादियों में न होकर चादियों में ही होना उचित प्रतीत होता है । यदि स्वरादियों में पाठ मानेंगे तो 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा निपात सञ्ज्ञा न होगी । तब निपात न होने से 'ओत्' (५६) सूत्र द्वारा —'मिथो + अत्र, मिथो + इति' आदि रूपों में प्रगृह्यसञ्ज्ञा उपपन्न न हो सकेगी ।

३८ चिरात्=दूर तक। ३९ चिरस्य=दूर तक। ४० सु=पूजा व सत्कार (यथा—सुब्राह्मणा) बहुत—(सुशोका)। इत्यादि अन्य भी यथा प्रयोग शिष्टग्रन्थो से जान लेने चाहिये।

'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र मे निपातो की भी अव्ययसञ्ज्ञा की गई है। निपातो का सम्पूर्णतया वर्णन अष्टाध्यायी मे 'प्राग्रीश्वरान्निपाता' (१ ४ ५६) सूत्र के अधिकार मे किया गया है। अब चादिगण का परिगणन करते है। ध्यान रहे कि चादियो की निपातसञ्ज्ञा (५३) सूत्र मे कर चुके है।†

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१ च +	समुच्चय, और	ईश्वर गुरुञ्च भजस्व।
	नोट—'च' के अर्थों का विवेचन द्वन्द्वसमास मे देखे।	

† चादिगण को यदि स्वरादिगण मे सम्मिलित कर दे तो भी इसकी सञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है। तो पुन इसकी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन यह है कि 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) सूत्र मे 'असत्त्व' कथन के कारण द्रव्यवाचक चादियो की निपात सञ्ज्ञा और उसके कारण अव्यय सञ्ज्ञा न हो। यथा—

'पशु' शब्द चादिगण मे पढा गया है। 'पशु' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक—पशु=चौपाया, दूसरा—सम्यक्=अच्छी तरह। चौपाया अर्थ वाला 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक होने से न निपातसञ्ज्ञक होता है और न अव्ययसञ्ज्ञक। यथा—'पशुपश्य' (चौपाये को देखो) यहाँ अव्ययसञ्ज्ञा न होने से 'पशु' शब्द से परे द्वितीयाविभक्ति का लुक् नहीं होता। 'पशु पश्य' (ठीक तरह से देखो) यहा 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक नहीं अत उसकी अव्यय सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक हो जाता है। इसीप्रकार लक्ष्मीवाचक 'मा' शब्द की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती, निषेधवाचक की हो जाती है।

अब यदि चादियो का पाठ स्वरादियों मे ही होता और उसकी निपातसञ्ज्ञा न की जाती तो 'पशु पश्य' इत्यादि स्थलो की तरह 'पशु पश्य' इत्यादियों मे भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने से अनिष्ट हो जाता जो अब नहीं होता। सार यह है कि—स्वरादियो मे तो द्रव्यवाचको की भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है, यथा—'स्व पश्य' (स्वर्ग को देख)। परन्तु चादियो मे द्रव्यवाचक की नही होती। किञ्च—'निपाता आद्युदात्ता' (फिट्सूत्र ४ ८०) द्वारा आद्युदात्त स्वर भी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन है।

२ वा +	विकल्प	यवैर्वा व्रीहिभिर्वा यजेत ।
		'श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्, यदि भवति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि ।'

नोट—इसके उपमादि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

३ ह	पादपूर्त्ति	इति ह स्माहुराचार्य्याः । तस्य ह शतं जाया बभूवुः ।

नोट—यह शब्द पादपूर्त्ति के लिये तथा कहीं कहीं वाक्यपूर्त्ति व शैलीवशात् शोभा के लिये वैदिकसाहित्य व प्राचीनसाहित्य में प्रयुक्त होता है । इसके सम्बोधन आदि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

४ अह	१ आचारातिक्रमण	स्वयमह ओदनं भुङ्क्ते आचार्यं सक्तून् पाययति । स्वयमह रथेन याति, उपाध्यायं पदातिं गमयति ।
	२ पूजा	अह माणवको भुङ्क्ते ।
५ एव +	अवधारण	पार्थ एव धनुर्धरः । अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव ।

नोट—सादृश्य, अनवक्लृप्ति आदि इसके अन्य अर्थ भी देखे जाते हैं ।

ध्यान रहे कि 'च' से लेकर 'एव' तक का प्रयोग पाद व वाक्य के आदि में नहीं होता । "पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः" (वाग्भटालङ्कारे) । इस प्रकार 'खलु' 'तु' आदि के विषय में भी जानना चाहिये ।

६ एवम् +	१ उक्त बात का निर्देश	एववादिनि देवर्षौ—(कुमार० ६ ८४) ।
	२ निश्चय	एवमेतत् ।
	३ स्वीकार	एवं कुरु ।

७ नूनम् +	१ तक [खयाल दौड़ाना]	पूर्व मया नूनमभीप्सितानि, पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि । तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ (रामायण)
	२ निश्चय ही	'अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस् त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।' (शाकु०)
८ शश्वत् +	१ नैरन्तर्य	शश्वत्सत्यं वदेत्
	२ नित्य	क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
९ युगपत् +	एक साथ	आगता युगपत् सर्वे ।
१० भूयस् +	पुनः, फिर	भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः । (गीता) { भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन, न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥ }
	आधिक्य	भूयो देहि सत्पात्राय ।
११ कूपत्	प्रश्न, वितर्क, प्रशंसा	कूपद्य गायति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

१२ सूपत्	'कूपत्' वाला अर्थ	इसका प्रयोग लोक वेद में कहीं उपलब्ध नहीं ।
१३ कुवित्	बहुत	कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद् । (ऋ० १ १४३ ६) ।

नोट - इस अव्यय का प्रयोग वैदिकसाहित्य में पर्याप्त पाया जाता है परन्तु लौकिकसाहित्य में बिलकुल नहीं ।

१४ नेत् ।	शङ्का	नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम । (निरुक्ते)

नोट—यह अव्यय गवेषणीय है । वेद में 'नेत्' का प्रयोग तो

अनेक बार आया है परन्तु वहां सर्वत्र पदपाठकारों ने 'न+इत्' ऐसा छेद ही माना है। ऊपर का उदाहरण निरुक्त का है। उसमें भी ऋक्परिशिष्ट (अष्टमाष्टक षष्ठाध्याय द्वितीयवर्गान्त) से उद्धृत किया गया है। शब्दकौस्तुभादि ग्रन्थों में इसे ही उद्धृत किया गया है।

१५ चेत् +	यदि	"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।" (गीता)
१६ चण् +	यदि	अयञ्च मरिष्यति। चेन्मरिष्यतीत्यर्थः।

नोट—'च' यह अव्यय यदि णित् हो तो उसका अर्थ 'यदि' होता है, जैसा कि ऊपर 'काशिका' का उदाहरण दिया गया है। अनुबन्धरहित यह समुच्चय आदि अर्थों का वाचक होता है। [देखो—'निपातैर्यद्यदि .....' (८.१.३०)]

१७ यत्र +	जहां	यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति। "यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"। (चाण०)

नोट—इसके अनवक्लृप्ति आदि अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं। यद्यपि त्रलन्त होने से 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) सूत्र द्वारा ही इसकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है तथापि यहां चादियों में पाठ निपातसञ्ज्ञा के लिये है। निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'निपातैर्यद्यदि—' (८.१.३०) सूत्र में स्पष्ट है।

१८ कच्चित् +	इष्ट बात के प्रश्न में	आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः, कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्। [रघु०] "कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान्। यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे"। [महाभारत]
१९ नह		नह भोक्ष्यसे। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—'नह प्रत्यारम्भे' इति श्रीवर्धमान निश्चितनिषेध इति कौस्तुभे दीक्षित । यह अव्यय न और ह' इन दो अव्ययों के समुदाय से बनाया गया है । इसके उदाहरण गवेषणीय हैं ।

२० हन्त + | १ विषाद दुःख 'काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया ।

२ हर्ष सुख प्रसन्नता हन्त ! भो ! लब्धं मया स्वास्थ्यम्' ।

३ वाक्यारम्भ 'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः । (गी०)

४ अनुकम्पा दया हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार' ।

२१ माकिर् | मत (निषेध) 'माकिर्नो दुरिताय धायीः । (ऋग्वेद १ १४८ ४)

नोट—शाकटायनाचार्य इस अव्यय को सान्त मानते हैं । इसका प्रयोग केवल वेद में ही उपलब्ध होता है ।

२२ माकिम् | मत (निषेध)

नोट—वैदिकसाहित्य में माकीम्' ऐसा दीर्घघटित पाठ देखा जाता है । यथा— माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सशारि केवटे'' (ऋग्वेद ६ ५४ ७) ।

२३ नकिर् | निषेध सत्यमद्धा नकिर न्यस्त्वावान् ।'(ऋ० १ ५२ १३)

२४ नकिम् | निषेध

नोट—वैदिकसाहित्य में नकीम् इसप्रकार दीर्घघटित पाठ देखा जाता है । यथा—''नकीमिन्द्रो निकर्तवे ' (ऋग्वेदे ८ ७८ ५) ।

२५ माङ् | मत (निषेध) मा कार्षीः मा हार्षीः ।

नोट—अनुबन्ध ङकार का लोप होकर 'माङ् का 'मा' ही अवशिष्ट रहता है । ध्यान रहे कि इस अव्यय का स्वरादियों में भी पाठ किया गया है । श्रीनागेश के विचार में इसका वहां पाठ व्यर्थ है क्योंकि वहां पढ़ने से स्वर (अन्तोदात्त) में तो कोई अन्तर आता ही

नहीं, उलटा—यहां पढ़ने के कारण लक्ष्मीवाची 'मा' शब्द की अव्यय सञ्ज्ञा नहीं होती—जो न करनी ही अभीष्ट है। यहां का विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में करेंगे।

२६ नञ् +	नहीं	न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं पटुः ।

नोट—इसका भी स्वरादियों में पाठ श्रीनागेश के मतानुसार अप्रामाणिक है—देखो 'लघुशब्देन्दुशेखर'।

२७ यावत् +	१ अवधि (पर्यन्त)	'स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व'। (उत्तरराम०) 'सर्पकोटरं यावत्'। (पञ्चतन्त्रे)
	२ जब (यदा)	'यावदुत्थाय निरीक्षते तावद्धंसोऽवलोकितः'(पञ्च०)
	३ जब तक	'यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः'। 'यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहम्—' (भर्तृहरि)।
	४ { उस समय तक, तब तक	'तद् यावद् गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि'। 'यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि'। (शाकु०)

नोट—'जितना' अर्थ में त्रिलिङ्गी 'यावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग देखा जाता है। यथा—

"पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते।"
(कुमार०)

'यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः"॥
(गीता)

२८ तावत् +	पहले (अन्य काम करने से पूर्व)	आर्ये! इतस्तावद् आगम्यताम्।
	तब तक	तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते।

नोट— यावत्' की तरह 'तावत्' शब्द भी त्रिलिङ्गी परिमाणवाची हुआ करता है। यथा—

'यावती सम्भवेद् वृत्तिस्तावती दातुमर्हसि ।

२९ त्वै

विशेष अथ वै प्रकृष्यते। [गणरत्नमहोदधौ]

वितर्क त्वस्त्वा एषोऽभिगच्छति। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—यह अव्यय ब्राह्मणग्रन्थों के कतिपय प्रयोगों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सका। शतपथ (माध्यन्दिनीय) के (१२ २ २ १२) में इसका प्रयोग देखा जाता है। एवम् अन्य ब्राह्मणों में भी क्वाचित्क प्रयोग हैं।

३० न्वै

विशेष वितर्क को न्वा एषोऽभिगच्छति। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—कई लोग 'त्वै' के स्थान पर 'न्वै' का पाठ करते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों का पाठ देखा जाता है। न्वै' का पाठ निदर्शनार्थ माध्यन्दिनीय शतपथ में (१२ ४ १ ३) के स्थान पर देखें।

३१ ह्रै

वितर्क इसका उदाहरण व प्रयोग वर्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

३२ रै

१ दान (देना) रै करोति। दानं ददातीत्यर्थः।

२ अनादर त्वं रै किं करिष्यसि।

नोट—इस अव्यय के उपर्युक्त दोनों उदाहरण 'प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसादटीका' के हैं। 'प्रौढमनोरमा' में भी इन्हें उद्धृत किया गया है। अन्यत्र प्रयोग अन्वेषणीय है।

३३ श्रौषट् पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।

३४ वौषट् पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।

३५ स्वाहा देवताओं के निमित्त अग्नये स्वाहा। हविर्दान में

३६ स्वधा	पहले स्वरादियों मे व्याख्या की जा चुकी है।	
३७ वषट्	पहले स्वरादियों मे व्याख्या की जा चुकी है।	

नोट—स्वरादियों मे कथित श्रोषट् आदि अनेक अच वालों का यहा पुनर्ग्रहण स्वरभेद के लिये ही है।

३८ तुम्	तूँ २ कह कर अनादर करना	गुरु हुङ्कृत्य तुङ्कृत्य '।

नोट—यहा 'तुम्' से उपयुक्त उदाहरणगत 'तुम्' के ग्रहण में हमारा मन सन्देह करता है। आगे सुधीजन ही युक्तायुक्त को विचारें।

३९ तथाहि +	किसी प्रसिद्ध बात के निदर्शन म	' त वेधा विदध नून महाभूतसमाधिना। तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणा "॥ [रघु०]

नोट—यह अव्यय 'तथा' और 'हि' इन दो अव्ययों के समुदाय से रचा गया है।

४० खलु +	१ निश्चय वस्तुत सचमुच	'न खल्वनिर्जित्य रघु कृती भवान्' (रघु०)। 'पुत्रादपि प्रियतर खलु तेन दानम्' (पञ्चतन्त्रे)
	२ अनुनय करना	'न खलु न खलु बाण सन्निपात्योयमस्मिन्' (शाकु०)
	३ जिज्ञासा पूछताछ	स खल्वधीते वेदम्।
	४ नियम, अवधारण	'प्रवृत्तिसारा खलु मादृशा धिय' (गणरत्नमहोदधौ) प्रवृत्तिसारा एवेत्यर्थः।
	५ निषेध	खलु कृत्वा।['अलखल्वो प्रतिषेधयो '(३ ४ १८)]

नोट—'न पादादौ खल्वादय' वाला वामनसूत्र निषेधार्थकभिन्न 'खलु' के लिये है।

४१ किल +	१ प्रसिद्ध बात कहने में	'कंस जघान किल वासुदेव'। बभूव योगी किल कार्त्तवीर्य ।
	२ अरुचि	'एवं किल कश्चिद्वन्ति'। [केषाञ्चिदेव कथन वक्तुररुचिविषय इत्यर्थ ।]
	३ न्यक्कार तिरस्कार	स किल योत्स्यते'। [तस्य योधनशक्तिराहित्य द्योतनात् तिरस्कारो गम्यते ।]
	४ सम्भावना	पार्थ किल विजेष्यते कुरून्' [पार्थकर्तृ ककुरुविजय सम्भावनाविषय इत्यर्थ ।]
	५ अलीक अवास्तविक बात कहने में	'प्रसह्य सिंह किल तां चकर्ष' (रघु०)। सिंहकर्तृ क नन्दिनीकर्षण वस्तुतोऽलीकमित्यर्थ ।
४२ अथो	समुच्चय	'स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या— (मनु०)
	आनन्तर्य	'इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना, मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्। अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्त्तिनीम्, विवर्त्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥'' (कुमार०)

नोट—इस अव्यय के भी प्राय 'अथ' के समान अर्थ होते हैं। किञ्च—इसके आगे स्वर आने पर 'ओत् (५६) सूत्र द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव होने के कारण सन्धि नहीं होती। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमथो एन छन्दोऽध्यापयेति ।

४३ अथ

इसका विवेचन स्वरादियों में हो चुका है। स्वरादियों में इस के पाठ का प्रयोजन बतलाते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षित प्रौढमनोरमा' में लिखते हैं— 'स्वरादियों में इसके पढने का प्रयोजन यह है कि मङ्गलरूपसत्त्ववाची 'अथ' शब्द की भी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जावे। यथा नैषध में— (१५ ६)।

''उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ॥''

यहां 'अथ स्नपयाम्बभूव' का अर्थ 'मङ्गल स्नपन चकार' ऐसा है। निपातों मे पढ़ा गया यह 'अथ' शब्द तो स्वरूप से ही मङ्गलजनक होता है किन्तु उसका वाचक नहीं होता।'

तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी आदि ने दीक्षितजी के इसी कथन का अनुकरण किया है। परन्तु दीक्षितजी के ये विचार हमें कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो केवल स्वरादियों के अन्तर्गत पाठ से ही काम चल सकता है निपातों में गिनने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हमारा तो कुछ ऐसा विचार है कि स्वरादियों में इस का पाठ ही प्रक्षिप्त है। इसका पाठ केवल चादियो में ही है। इस विषय पर विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में व्यक्त करेंगे।

४४ सुष्ठु +	प्रशस्त अच्छा	'सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र'।
४५ स्म +	भूतकाल में	'क्षीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि' (माघे)

नोट—यहां भूतकाल में भी 'लट् स्मे' (३ २ ११८) तथा 'अपरोक्षे च' (३ २ ११९) सूत्र से लट् हो जाता है।

४६ आदह	१ हिंसा	'आदहारीन् पुरंदर'। [गणरत्नमहोदधौ]
	२ उपक्रम	'आदह भक्तस्य भोजनाय' [गणरत्नमहोदधौ]
	३ कुत्सन	कुर्वादह यदि करिष्यसि' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिल सका। श्री दीक्षितजी को भी इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ यह उन्होंने स्पष्ट 'शब्दकौस्तुभ' मे स्वीकार किया है।

उपसर्ग विभक्ति स्वर प्रतिरूपकाश्च। (गणसूत्रम्)

अर्थः—उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादियों में पढ़ने चाहिये। जो वस्तुत उपसर्ग तो न हों किन्तु उपसर्ग के समान प्रतीत हों उन्हें

'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसीप्रकार—विभक्ति के समान प्रतीत होने वाले 'विभक्ति प्रतिरूपक' तथा अच के समान प्रतीत होने वाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहाते हैं।

(उपसर्गप्रतिरूपक यथा—)

४७ अवदत्तम् | दिया हुआ | किमन्नम् अवदत्त त्वया ?

नोट—यहां 'अव' के उपसर्ग न होने के कारण 'दा' धातु को 'अच उपसर्गात्तः' (७ ४ ४७) सूत्र द्वारा तान्त आदेश नहीं होता। 'दो दद् घोः' (७ ४ ४६) सूत्र से 'दद्' आदेश ही होता है। ध्यान रहे कि 'अव' उपसर्ग के योग में 'अवत्तम्' रूप बनता है। इसी प्रकार—

{ "अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकमणि।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥" }

(विभक्तिप्रतिरूपक यथा—)

४८ अहंयु | अहङ्कारवान् | "अहंयुनाऽथ क्षितिप शुभंयु रूचे वचस्तापसकुञ्जरेण"। [भट्टि० १ २०]

नोट—'अहम्' यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। 'अस्मद्' शब्द के प्रथमा के एकवचन के समान प्रतीत होता है परन्तु है उससे नितान्त भिन्न ही। इस अव्यय से 'अहंशुभमोर्युस्' (११६२) सूत्र द्वारा मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय हो जाता है। अहम् अस्यास्तीति—'अहंयु'। 'अहंयु' शब्द उकारान्त त्रिलिङ्गी हो जाता है (ध्यान रहे कि इसे सकारान्त समझना भूल है। सित्व पदत्वार्थ है। अतः 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो जाता है)। 'अहंयु' शब्द में यदि 'अस्मद्' शब्द होता तो 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७ २ ९८) द्वारा मपर्यन्त मद् आदेश होकर—'मद्युः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

इसीप्रकार 'शुभम्' (पवित्रता व भाग्य) इस विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय से भी 'युस्' प्रत्यय होकर—'शुभंयु' शब्द निष्पन्न होता है। इस का उदाहरण भी ऊपर साथ ही दे दिया है।

चिरेण, चिराय, चिरात्, चिरे, चिरस्य, अकस्मात्, मम ['क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव' (कुमार० १ १२), 'ममत्वं गतराज्यस्य', 'ममता मता'] इत्यादि अव्ययों को भी कई लोग स्वरादियों में न पढ कर चादियों में पढ़ते हैं। ये सब विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय हैं। विभक्ति न होने पर भी इन में विभक्ति का भ्रम होता है। इन में सुबन्तविभक्ति का भ्रम होने से इन को सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय भी कहते हैं। तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय का उदाहरण यथा—

४९ अस्तिक्षीरा | क्षीरवती गौ आदि | अस्ति ममैकाऽस्तिक्षीरा गौः।

नोट—अस्ति (विद्यमानम्) क्षीरं (दुग्धम्) यस्याः सा = अस्तिक्षीरा। बहुव्रीहिसमास। यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थ विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। यदि यह तिङन्त होता तो इसका सुबन्त 'क्षीर' शब्द के साथ समास न हो सकता। [देखो—'अनेकमन्यपदार्थे' (६३५)]।

वस्तुतः 'अस्ति' को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका पीछे स्वरादियों में पाठ आ चुका है। अतः इसकी अव्ययसञ्ज्ञा तो सिद्ध है ही। इसके स्थान पर 'अस्मि' (मैं) का उदाहरण यहां के लिये युक्त है। 'अस्मि' के उदाहरण यथा—

१ "त्वाम् अस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति" (साहित्यदर्पणे)

२ "दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणाम्
　　　पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये"।

३ "आससूतेरस्मि जगत्सु जातः" (किरा० ३ ।६)।

योगशास्त्र में प्रसिद्ध 'अस्मिता' शब्द भी इस अव्यय से निष्पन्न होता है। इसीप्रकार—अस्तु, आह, आस प्रभृति भी तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय हैं।

(स्वरप्रतिरूपक यथा—)

५० अ	आक्षेप	अ पचसि त्व जाल्म !
	सम्बोधन	अ अनन्त !
५१ आ	१ पूर्वप्रक्रान्त वाक्य के अन्यथा करने मे	आ एव नु मन्यसे । [अब तू ऐसा मानता है । अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है ।]
	२ स्मरण	आ एव किल तत् । [ओह ! वह ऐसा ही है ।]
५२ इ	सम्बोधन, विस्मय	इ इन्द्र पश्य ।
५३ ई	सम्बोधन	ई ईश !
५४ उ	सम्बोधन, वितर्क	उ उमेश !
५५ ऊ	सम्बोधन	ऊ ऊषरे बीज वपति ।
५६ ए	,,	ए इतो भव ।
५७ ऐ	,,	ऐ इतो भव ।
५८ ओ	,,	ओ श्रावय ।
५९ औ	,,	औ महात्मन् ! ।

नोट—इन अव्ययों से अच् परे होने पर 'निपात एकाजनाङ्' (५५) सूत्र द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो जाता है। ये सब स्वरप्रतिरूपक अव्यय हैं।

६० पशु	ठीक तरह	लोध नयन्ति पशु मन्यमाना ।
६१ शुकम्	शीघ्र	शुक गच्छति । [प्रक्रियाकौमुदी की प्रासादटीका]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

६२ यथाकथाच	अनादर	'यथाकथाच दीयते' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—प्रयोग गवेषणीय हैं।

६३ पाट्	सम्बोधन	पाट् पान्था !
६४ प्याट्	,,	प्याट् पाठका !
६५ अङ्ग +	सम्बोधन	'तृणेन कार्य भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण'। 'प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते ।

नोट—'अङ्ग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यथा—

' क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा ।
हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते ॥"

६६ है	सम्बोधन	है राम ! पाहि माम् ।
६७ हे +	,,	हे राम ! मा पालय ।
६८ भोस् +	,,	क कोऽत्र भो ! दौवारिकाणाम् ।
६९ अये +	,,	अये ! गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शम्भो ! त्रिनयन !
७० घ	पादपूर्ति, हिंसा प्रातिलोम्य	घ हिनस्ति मृग व्याधा । [प्रक्रियाकौमुदी प्रासादटीका]

नोट—इस अव्यय का प्रयोग आधुनिक उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में नहीं मिलता । अथर्ववेद में 'घ' का पाठ तीन स्थानों पर आया है परन्तु वहा अव्यय का प्रयोग न होकर धातु का रूप प्रयुक्त किया गया है ।

७१ विषु	साम्य	विषु विद्यतेऽस्येति—विषुवत् । समरात्रिन्दिव काल (Equinox) इत्यर्थः । उक्तञ्च भारते— "भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहो र्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम् ॥"
	नाना	उदाहरणमृग्यम् ।
७२ एकपदे	शीघ्र	'निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्त स्वरानिव' (माघे०) ।

	अचानक	कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे' (रघु० ८ ४८)
७३ पुत्	कुत्सा गर्हा	उदाहरणमृग्यम्।
	नोट—शब्दकौस्तुभ प्रौढमनोरमा, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थों में यहां 'पुत' पाठ रखकर पुत्=कुत्सितमवयवं छादयतीति-पुच्छम्" ऐसा उदाहरण भी लिखा हुआ है।	
७४ आत	इतोऽपि=इस कारण से भी	'आतश्च सूत्रत एव' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके)

आकृतिगणोऽयम्।

यह चादिगण भी आकृतिगण है। प्रयोग में देखे जाने वाले कुछ अन्य शब्द यथा—

१ आहोस्वित्=विकल्प। २ उताहो=विकल्प। ३ दिष्ट्या=बधाई व आनन्द। ४ चाटु=चापलूसी। ५ चटु=चापलूसी। ६ इति=समाप्ति। ७ इव=सादृश्य, तरह। ८ अद्यत्वे=आजकल। ९ जातु=कदाचित्। १० नो=नहीं। ११ अह्नाय=शीघ्र। १२ अहो=आश्चर्य। १३ व=सादृश्य (मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियो वत्सतरौ मम)। १४ प्रसह्य=बलपूर्वक, जबरदस्ती। १५ किञ्च=और भी, इसके अतिरिक्त। १६ ते=तुझ से (त्वया)। १७ मे=मुझ से (मया) ['तेमेशब्दौ निपातेषु (५ २ १०) इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ। श्रुतं ते (त्वया) वचनं तस्य', 'विलस्य वाणी न कदापि मे (मया) श्रुता'।] इत्यादि शिष्टग्रन्थों के प्रयोगानुसार जान लेने चाहियें।

यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि स्वरादि और चादि दोनों आकृतिगण हैं तथापि जिन में निपातस्वर (आद्युदात्त) इष्ट हो उन्हें चादियों में और जिन में इष्ट न हो उन्हें स्वरादियों में गिनना चाहिये। किञ्च जहां दोनों प्रकार के स्वर अभीष्ट हों उन को दोनों गणों में पढ़ना युक्त है। इन चादियों से अतिरिक्त अन्य भी बहुत से निपात होते हैं। उन सब की भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। इन सब का विवेचन जानने के इच्छुक 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१ ४ ५६) के अधिकार को अष्टाध्यायी व काशिकावृत्ति में देखें।

प्र' आदि भी निपाताधिकार में प्रादय (१ ४ ५८) द्वारा निपातसञ्ज्ञक होकर अव्ययसञ्ज्ञक हो जाते हैं। इन प्रादियों का क्रिया के योग में तथा क्रियायोग के अभाव में भी स्वतन्त्ररीत्या प्रयोग हुआ करता है। क्रिया के योग मे इन की (३५) सूत्र से उपसर्गसञ्ज्ञा विशेष है। निपातसञ्ज्ञा तो दोनों अवस्थाओं मे ही अक्षुण्ण बनी रहती है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— ३६८ तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ।१।१।३७॥

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्यय स्यात्।

अर्थ —जिस तद्धितान्त से वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तद्धित ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। असर्वविभक्ति ।१।१। अव्ययम् ।१।१। [स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] समास —नोत्पद्यन्ते सर्वा वचनत्रयात्मिका* विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्ति, बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(असर्वविभक्तिः) जिस से वचनत्रयात्मिका सम्पूर्ण विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह (तद्धित = तद्धितान्त†) तद्धितान्त (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

यथा—'अत' (इस से) इस तद्धितान्त से सब विभक्तियां उत्पन्न नही हो सकतीं अर्थात् 'इस से को, इस के द्वारा, इसके लिये' इत्यादि विभक्तियों वाला व्यवहार इस से नहीं हो सकता। इसलिये यह अव्ययसञ्ज्ञक है। इसलिये—'अत्रत' 'तत्रत' 'कुत्रत' आदि प्रयोग ठीक नहीं।

---

* "एकवचनमुत्सर्गत करिष्यते" इस महाभाष्य के कथन से सब विभक्तियों का एकवचन तो सब शब्दों से स्वत सिद्ध है ही, अत 'असर्वविभक्ति' यह कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहां इसका यह आशय समझना चाहिये कि—जिस तद्धितान्त से सब विभक्तियों के सब वचनों की उत्पत्ति न हो उसकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

† केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात् सञ्ज्ञाविधावपि तदन्तविधिरिति भाव ।

प्रशस्त पचतीति—पचतिरूपम् [प्रशसाया रूपप' (५ ३ ६६)] ईषत पचतीति—पचतिकल्पम् [इषदसमाप्तौ कल्पब ' (५ ३ ६७)]। यहा इन तद्धितान्तो से भी सब वचनत्रयात्मिका विभक्तिया उत्पन्न नहीं हो सकतीं अत इन की भी अ॒व्ययसञ्ज्ञा होकर सुप का लुक प्राप्त होता ह—जो अत्यन्त अनिष्ट है। किञ्च वचनत्रयात्मिका सब विभक्तिया तो उभय शब्द से भी उत्पन्न नहीं होतीं और यह तद्धितान्त भी है अत इसकी भी अ॒व्यय सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक् आदि दोष प्राप्त होते हैं। इस पर उन उन तद्धितप्रत्ययों का परिगणन करते हैं जिन के अन्त म आने से अव्यय सञ्ज्ञा होती है। †

[लघु०] परिगणन कर्त्तव्यम्। तसिलादय प्राक्पाशप । शस्प्रभृतय प्राक् समासान्तेभ्य । अम्। आम्। कृत्वोऽर्था । तसि-वती। ना नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

अर्थ —उन तद्धित प्रत्ययों का परिगणन करना चाहिये

(क) 'तसिल् से लेकर 'पाशप्' के पूव तक सब प्रत्यय।

(ख) 'शस्' से लेकर समासान्तों के पूव तक सब प्रत्यय।

(ग) 'अम्' और 'आम्' प्रत्यय।

(घ) 'कृत्वसुच्' तथा उस के अथ वाले अन्य प्रत्यय ।

(ङ) 'तसि' और 'वति' प्रत्यय।

(च) 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ये तद्धितप्रत्यय जिन क अन्त में हो उनकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है। यथा— अत ' (यहा 'तसिल्' प्रत्यय अन्त में है)।

व्याख्या— उपयु क्त सब प्रत्यय अष्टाध्यायी क क्रम से कहे गये हैं। जिन्हे अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होगी उन के लिये यह सब समझना अत्यन्त सुकर है। हम कोष्ठ में ससूत्र इनका स्पष्टीकरण करते हैं—

---

† यहा यह यान रहे कि इस परिगणन के विना दोषनिवृत्ति असम्भव है, अत यह 'तद्धितश्चासवविभक्ति' सूत्र यर्थ सा हो जाता है। अत एव प्राचीन वैयाकरणों ने इस परिगणन को स्वरादिगण में सम्मिलित कर दिया है। [देखो—काशिकावृत्ति १ १ ३७]

(क) तसिलादय प्राक्पाशपः।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
तसिल	'पञ्चम्यास्तसिल्' (५ ३ ७)	कुत = किस से, सवत = सब से, अत = इस से यत = जिस से, तत = उस से, बहुत = बहुतो से, इत्यादि।
	पर्यभिभ्याञ्च' (५ ३ ६)	परित = चहु ओर, अभित = दोनो ओर।
त्रल	सप्तम्यास्त्रल्' (५ ३ १०)	कत्र = कहा, तत्र = वहा, यत्र = जहा, अत्र = यहा, सवत्र = सब जगह, अन्यत्र = दूसरी जगह, बहुत्र = बहुत जगह, इत्यादि।
ह	'इदमो ह' (५ ३ ११)	इह = यहा।
	'वाह च च्छन्दसि' (५ ३ १३)	कुह = कहा (वेद मे ही प्रयोग होता है)।
अत्	'किमोऽत्' (५ ३ १२)	क्व = कहा।
दा	'सर्वैकान्यकिंयत्तद काले दा' (५ ३ १५)	सवदा = सदा, सदा = हमेशा, कदा = कब, एकदा = एक बार, अ यदा = अन्य बार, यदा = जब, तदा = तब।
हिंल	'इदमो हिंल्' (५ ३ १६)	एतर्हि = इस समय।
	'अनद्यतने हिंलन्यतरस्याम्' (५ ३ २१)	कर्हि = कब, यर्हि = जब, तर्हि = तब, इत्यादि।
धुना	'अधुना' (५ ३ १७)	अधुना = अब। [भाष्य के मत से 'अधुना' प्रत्यय है, इदम्' को इश्' होकर उसका लोप हो जाता है]
दानीम्	'दानीञ्च (५ ३ १८)	इदानीम् = अब।
	'तदो दा च' (५ ३ १६)	तदानीम् = तब।

द्यस् आदि (निपातन)	'सद्य परुत्परार्यैषम परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युर परेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः' (५ ३ २२)	सद्य = उसी समय, फौरन, तत्काल। परुत् = पूर्वले वर्ष (में)। परारि = पहिले से पहिले वर्ष (में) परार। एषमस् (एषम) = इस वर्ष। परेद्यवि = परले दिन, परसों। अद्य = आज। पूर्वेद्युस् () = पूर्व दिन। अन्येद्युस् ( ) = अन्य दिन। अन्यतरेद्युस् ( ) = अन्य से अन्य दिन। इतरेद्युस ( ) = अन्य दिन। अपरेद्युस् ( ) = अन्य दिन। अधरेद्युस् ( ) = परले दिन, परसो। उभयेद्युस् ( ) = दोनों दिन (में)। उत्तरेद्युस् ( ) = अगले दिन।
	'द्युश्चोभयाद्वक्तव्य'	उभयद्युस ( ) = दोनों दिन।
थाल्	'प्रकारवचने थाल्' (५ ३ २३)	यथा = जैसे, तथा = वैसे सर्वथा = सब प्रकार से, उभयथा = दोनों तरह से, इत्यादि।
थमु	इदमस्थमु' (५ ३ २४)	इत्थम् = इस प्रकार।
	'किमश्च' (५ ३ २५)	कथम् = कैसे, किस प्रकार।
था	'था हेतौ च च्छन्दसि' (५ ३ २६)	कथा = किस कारण से [वेद में ही प्रयोग होता है]।
अस्ताति	दिक्शब्देभ्य सप्तमी पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्व स्ताति' (५ ३ २७)	पुरस्तात् = पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)। इसी प्रकार—अधस्तात् इत्यादि।
अतसुच्	'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५ ३ २८)	दक्षिणत = दक्षिण में, दक्षिण से दक्षिण (दिशा और देश केवल दो के लिये)। उत्तरत = उत्तर में, उत्तर से उत्तर (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)।

	'विभाषा परावराभ्याम्' (५ ३ २९)	परत = पर मे पर से, पर। अवरत = पीछे मे, पीछे से पीछे। (दिशा, देश और काल)
अस्तातेर्लुक्	'अञ्चेर्लुक्' (५ ३ ३०)	प्राक = पूर्व मे, पूर्व से, पूर्व (दिशा देश काल)।
रिल् रिष्टातिल्	'उपर्युपरिष्टात्' (५ ३ ३१)	उपरि उपरिष्टात् } ऊपर मे, ऊपर से, ऊपर (दिग्देशकाल)।
आति	'पश्चात् (५ ३ ३१)	पश्चात् = पीछे ['अस्ताति' की तरह अर्थ]
अ आ	'पश्च पश्चा च च्छन्दसि' (५ ३ ३३)	पश्च पश्चा } पीछे (अस्तात्यर्थे, वेद एव प्रयोग ।)
आति	'उत्तराधरदक्षिणादाति' (५ ३ ३४)	उत्तरात् = अस्तात्यर्थे, यथा - उत्तरस्तात्। अधरात् = अस्तात्यर्थे, यथा—अधरस्तात्। दक्षिणात्=अस्तात्यर्थे, यथा —दक्षिणस्तात्।
एनप्	'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (५ ३ ३५)	उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन। सब जगह 'अस्ताति' वाला अर्थ केवल पञ्चमी का ग्रहण नहीं, एवमग्रे।
आच्	'दक्षिणादाच्' (५ ३ ३६)	दक्षिणा (अस्तात्यर्थे)।
आहि	'आहि च दूरे' (५ ३ ३७)	दक्षिणाहि (अस्तात्यर्थे)।
	'उत्तराच्च' (५ ३ ३८)	उत्तराहि (अस्तात्यर्थे)।
असि	पूर्वाधरावराणामसि पुरधव श्चैषाम्' (५ ३ ३९)	पुरस् ( ), अधस् ( ), अवस् ( )। (अस्ताति की तीनों विभक्तियों वाला अर्थ)
धा	सङ्ख्याया विधार्थे धा' (५ ३ ४२)	एकधा = एक प्रकार, द्विधा = दो प्रकार, त्रिधा = तीन प्रकार। इसी प्रकार—चतुर्धा, पञ्चधा, षोढा, षड्धा आदि।

ध्यमुञ्	'एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्' (५ ३ ४४)	एकध्यम् = एक प्रकार।
धमुञ्	'द्वि-योश्च धमुञ'(५ ३ ४५)	द्वधम् = दो प्रकार त्रैधम् = तीन प्रकार।
एधाच	'एधाच्च' (५ ३ ४६)	द्वेधा = दो प्रकार त्रधा = तीन प्रकार।

अब इस के आगे 'याप्ये पाशप्' (५ ३ ४७) इस सूत्र से पाशप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। 'पाशप स पूर्व का ग्रहण होने से पाशप प्रत्ययान्त की अव्यय सञ्ज्ञा नहीं होती। अतएव—याप्या (निन्दिता) वैयाकरण = वैयाकरणपाश इत्यादियों में सुप् का लुक् नहा होता। सुप का लुक् तो अव्यय स परे ही हुआ करता है। देखो—'अव्ययादाप्सुप' (३७२)।

(ख) शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः ।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
शस्	'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' (५ ४ ४२) इत्यादि	बहुश = बहुत (कर्मादिकारक)। अल्पश = थोडा (कर्मादिकारक)। इत्यादि।
तसि	'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि' (५ ४ ४४)	प्रद्युम्नो वासुदेवत प्रति [प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है]। अभिमन्युरर्जुनत प्रति।
	'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वार्त्तिक)	आदौ इति आदित । मध्ये इति—मध्यत ।
	'अपादाने चाहीयरुहो' (५ ४ ४५)	चौरादिति चौरतो बिभेति। अध्ययनादिति अध्ययनत पराजयते ।
	'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयाया' (५ ४ ४६)इत्यादि	वृत्तेनेति वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रेणेति चारित्रतोऽतिगृह्यते। इत्यादि ।
च्वि	'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्वि' (५ ४ ५०) इत्यादि।	अशुक्ल शुक्ल सम्पद्यते त करोतीति शुक्लीकरोति। इत्यादि।

साति	'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' (५ ४ ५२) इत्यादि ।	उदकीभवति—उदकसाद्भवति लवणम् । इत्यादि
त्रा	देये त्रा च (५ ४ ५५) इत्यादि ।	ब्राह्मणत्रा करोति । ब्राह्मणाधीन देय करोती त्यथ । 'राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वा ध्वराज्योपमयेन राज्यम्' । (नैषध–३ २४)
डाच्	'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच्' (५ ४ ५७) इत्यादि	पटपटाभवति। दमदमाकरोति । इत्यादि ॥

इसस आगे समासान्त आरम्भ हो जाते हैं । तदन्तों की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती । यथा—व्यूढोरस्क ।

(ग) 'अम्' और 'आम्' ।

अम्	'अमु च छन्दसि' (५ ४ १२)	'प्रतर नयाम ' । [वेद एव]
आम्	'किमेत्तिङव्ययघ दाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५ ४ ११)	पचतितराम् । पचतितमाम् । [अच्छा पकाता है ।] इत्यादि ।

(घ) कृत्वोऽर्थाः ॥

कृत्वसुच्	'सख्याया क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५ ४ १७)	पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । [पाञ्च बार खाता है] सप्तकृत्व = सातबार ।
सुच	'द्वित्रिचतुर्भ्य सुच्' (५ ४ १८)	द्वि = दो बार । त्रि = तीनबार । चतु = चार बार ।
	'एकस्य सकृच्च' (५ ४ १९)	सकृत् = एक बार ।
धा	'विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले' (५ ४ २०)	बहुधा = अनेक बार ।

(ङ) 'तसि और वति' प्रत्यय ।

तसि	तसिश्च' (४ ३ ११३)	सुदामत । पीलुमूलत । हिमवत्त ।†
वति	'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' 'तत्र तस्येव (५ ४ ११४-११६) इत्यादि ।	ब्राह्मणेन तुल्य वत्तत इति ब्राह्मणवत् । मथुर यामिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकार । इत्यादि ।

(च) 'ना' और 'नाञ' प्रत्यय ।

ना नाञ्	विनञ्भ्या नानाञौ न सह (५ २ २७)	विना = पृथक् नाना = पृथक	यहा का वक्तव्य पीछे स्वरादिगण म (५० ५१) शब्दों पर लिख चुके हैं ।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— ३६६ कृन्मेजन्त । १ । १ । ३८ ॥

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्यय स्यात् । स्मारम् स्मारम । जीवसे । पिबध्यै ॥

अर्थ —मकारान्त व एजन्त कृत्प्रत्यय जिस के अन्त म हो उस की अव्ययसञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—कृत । १ । १ । मेजन्त । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] समास —म् च एच् च = मेचौ । इतरेतरद्वन्द्व । मचौ अन्ते यस्य स मेजन्त । बहुव्रीहिसमास सौत्रमत्वात् कुत्वाभाव । ध्यान रहे कि केवल कृत्प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता अत सञ्ज्ञाविधि में भी तदन्तविधि होकर 'कृत् से 'कृदन्त' का ग्रहण होता है । अथ — (मेजन्त) मकारान्त और एजन्त (कृत = कृदन्त) जो कृत्, वह जिसके अन्त में हो ऐसा शब्द (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है ।

णमुल , कमुल, खमुञ् , तुमुन्—ये चार प्रत्यय ही कृत्प्रत्ययों में मान्त होते हैं । इनके उदाहरण यथा—

---

† ध्यान रहे कि यहाँ का 'तसि' प्रत्यय पीछे शस् प्रभृति मे आए हुए 'तसि' प्रत्यय से भिन्न है ।

णमुल्—स्मारं स्मारम्। 'स्मृ चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (३।४।२२) सूत्र द्वारा णमुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, 'अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और रपर करने से—'स्मारम्'। अब 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से द्वित्व होकर—'स्मारं स्मारम्' प्रयोग सिद्ध होता है †। यहां अन्त में 'अम्' (णमुल्) यह कृत् प्रत्यय विद्यमान रहने से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा होने से कृदन्तत्वात् सुप् की उत्पत्ति होने पर वक्ष्यमाण (३७२) सूत्र से उसका लुक् हो जाता है। 'स्मारं स्मारं गुरोर्वचः' (प्रौढमनोरमा) [गुरु जी के वचनों को बार बार स्मरण कर के]।

कमुल्—'अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्' (विभक्तुमित्यर्थः)। यहां 'शकि णमुल्कमुलौ' (३।४।१२) द्वारा णमुल् प्रत्यय हो जाता है। इसी सूत्र से 'अपलुपं नाशकत्' (अपलोप्तुमित्यर्थः) यहां 'कमुल्' प्रत्यय हो जाता है।

खमुञ्—चोरङ्कारम् आक्रोशति'। यहां 'कृ' धातु से 'कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ्' (३।४।२५) सूत्र द्वारा 'खमुञ्' प्रत्यय हो जाता है।

तुमुन्—पठितुम् (पढ़ने के लिये), भवितुम् (होने के लिये) इत्यादियों में 'तुमुन्ण्वुलौ—' (८४६) आदि सूत्रों से 'तुमुन्' प्रत्यय होता है।

ध्यान रहे कि णमुल् आदि चारों कृत्प्रत्यय अनुबन्धों का लोप हो जाने से मकारान्त हो जाते हैं। यथा—णमुल्—अम्, कमुल्—अम्, खमुञ्—अम्, तुमुन्—तुम्।

कृत्प्रत्ययों में एजन्तप्रत्यय [एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त, औकारान्त] 'तुमर्थे से—' (३।४।९) आदि सूत्रों से वेद में विधान किये जाते हैं। तदन्तों की भी अव्ययसञ्ज्ञा होती है। उदाहरण यथा—

प्रत्यय	उदाहरण	विधायकसूत्र	प्रत्यय	उदाहरण
से	वक्षे	'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (३।४।९)	कध्यै	आहुवध्यै
सेन्	एषे		कध्यैन्	आहुवध्यै
अस	जीवसे		शध्यै	मादयध्यै
असेन्	जीवसे		शध्यैन्	पिबध्यै
क्से	प्रेषे		तवै	दातवै
कसेन्	श्रियसे		तवेङ्	सूतवे
अध्यै	उपाचरध्यै		तवेन्	कर्त्तवे
अध्यैन्	उपाचरध्यै			

† आख्यानार्थे णिचि मित्त्वे ह्रस्वे 'चिण्णमुलोः' इति वा दीर्घः।

प्रत्यय	उदाहरण	सूत्र
निपातन	प्रयै, रोहिष्ये अव्यथिष्यै	'प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै' (३ ४ १०)
तवै	म्लेच्छितवै	'कृत्यार्थे तवकेन्केन्यत्वन' (३ ४ १४)
केन्	अवगाहे	

इत्यादि कृदन्त शब्द वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक आदि होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३७० क्त्वा-तोसुन्-कसुनः ।१।१।३६॥

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः॥

अर्थ,—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे भी अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—क्त्वा तोसुन् कसुनः ।१।३। अव्ययानि ।१।३। ['स्वरादि निपातमव्ययम्' से वचनविपरिणाम द्वारा।] केवल प्रत्यय की सञ्ज्ञा का कुछ भी प्रयोजन न होने से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(क्त्वातोसुन्कसुनः) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे (अव्ययानि) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। उदाहरण यथा—

क्त्वा—कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा, गत्वा आदि। यहां 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३ ४ २१) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। अतः क्त्वाप्रत्ययान्त होने के कारण इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् (३७२) आदि है।

तोसुन्—उदेतोः, अपाकर्तोः, आविःनितोः आदि। यहां 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदि चरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' (३ ४ १६) सूत्र द्वारा तोसुन् (तोस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

कसुन्—विसृपः, आतृदः। यहां 'सृपितृदोः कसुन्' (३ ४ १७) सूत्र द्वारा 'कसुन्' (अस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इन की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

क्त्वा, तोसुन् और कसुन् इन तीन प्रत्ययों में तोसुन् और कसुन् केवल वेद में तथा क्त्वा प्रत्यय लोक वेद दोनों में प्रयुक्त होता है। ये तीन प्रत्यय भी कृत्सञ्ज्ञक होते हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्— ३७१ अव्ययीभावश्च ।१।१।४०॥

अधिहरि ॥

अर्थः— अव्ययीभावसमास भी अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या— अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अव्ययम् ।१।१। ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] अर्थः— (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसमास (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

समासप्रकरण में अव्ययीभावसमास का विवेचन किया गया है वहीं देखें। उदाहरण यथा—

अधिहरि [हरौ इत्यधिहरि। (हरि में)]

यहां विभक्त्यर्थ में 'अव्ययं विभक्ति०' (९०८) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास हो जाता है। अव्ययीभावसमास होने से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि होता है। इसी प्रकार 'यथाशक्ति' आदियों में भी समझ लेना चाहिये।

अब अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन दर्शाने के लिये अग्रिमसूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्— ३७२ अव्ययादाप्सुपः ।२।४।८२॥

अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम् ॥

अर्थः— अव्यय से विहित आप् (टाप् आदि) और सुप् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है।

व्याख्या— अव्ययात् ।५।१। आप्सुपः ।६।१। लुक् ।१।१। ['ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' से] आप् च सुप् च = आप्सुप्, तस्य = आप्सुपः, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः— (अव्ययात्) अव्यय से विधान किए हुए (आप्सुपः) आप् और सुप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'आप्' से टाप्, डाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का तथा 'सुप्' से सु, औ, जस् आदि का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा—

तत्र शालायाम् [उस शाला में]। यहां 'तत्र' यह अव्यय 'शाला' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण है, अतः इस से 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय होकर प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है।

'सुप्' का लुक् तो प्रत्येक अव्यय से होता है। इस सूत्र विषयक विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में देखें।

अब 'अ यय' का लक्षण करने के लिये एक अत्यन्त प्राचीन श्लोक (गोपथब्राह्मण की ब्रह्मपरक श्रुति) उद्धृत करते हैं—

[लघु०] "सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥"

अर्थ—जो तीनो लिङ्गों सब विभक्तियो और सब वचनों म विकार को प्राप्त नही होता—एक जैसा ही रहता है—बदलता नहीं, वह अ यय कहाता है।

व्याख्या—'अ ययम्' यह अ वथ (अर्थानुसारिणी) सञ्ज्ञा है। नास्ति यय = विनाश = विकृतिर्यस्य यस्मिन् वा, तद् अ ययम्। जिस म किसी प्रकार की विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक जैसा स्वरूप रह उस 'अ यय' कहते ह। इसी लक्षण को ऊपर के श्लोक मे और अधिक परिष्कृत किया गया है। श्लोक म विभक्ति से तात्पर्य कम आदि कारक और 'वचन' से एकत्व, द्वित्व और बहुत्व का ग्रहण समझना चाहिये।

अब 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के विषय मे श्रीभागुरि आचाय का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] "वष्टि† भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयो।
आप चैव हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा ॥"

वगाह। अवगाह। पिधानम्। अपिधानम् ॥

अर्थ—भागुरि' आचाय 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लाप चाहते हैं तथा हल त शब्दों से स्त्रीत्वबोधक 'आप' प्रत्यय भी विधान करना चाहते हैं।

व्याख्या—'भागुरि' आचार्य सम्भवत पाणिनि से पूव के आचाय हो चुके हैं। पर तु अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उनके मत का कहीं उल्लेख नहीं किया। 'भागुरि' के मत में 'अव' और 'अपि उपसर्गों के आदि अकार का लोप हो जाता है, अन्य आचार्यों के मत मे न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

† वष्टेश्छान्दसत्वेन प्रयोगश्चिन्त्य इति नागेश। एतज्ज्ञापकाद् भाषायामप्यस्य प्रयोग इति तत्त्वबोधिनीबालमनोरमाकारादय।

भागुरिसम्मतलोपपक्षे	लोपाभावे (अन्येषा मते)	अर्थ
१ वगाह	अवगाह	गोता
२ पिधानम्	अपिधानम्	ढकना
३ वकाश	अवकाश	अवसर

इसी प्रकार अ य धातुओं के योग मे भी शिष्टग्रन्थानुसार लोप समझना चाहिये।

किञ्च—'हलन्त श दों से स्त्रीलिङ्गबोधक टाप् हो' यह भी भागुरि आचाय चाहते हैं। पाणिनि के मत मे हलन्तों से टाप् विधायक कोई सूत्र नही अत विकल्प सिद्ध हो जायगा। उदाहरण यथा—

१ वाच् (वाणी) वाच्+टाप् (आ) = वाचा।
२ निश (रात्रि) निश्+टाप् (आ) = निशा।
३ दिश् (दिशा) दिश+टाप (आ) = दिशा।

इसीप्रकार—

४ क्षुध् (भूख) क्षुध्+टाप् (आ) = क्षुधा ।
५ गिर् (वाणी) गिर्+टाप् (आ) = गिरा।
६ प्रतिपद् (पहली तिथि) प्रतिपद्+टाप (आ) = प्रतिपदा ।
७ सम्पद् (सम्पत्ति) सम्पद्+टाप् (आ) = सम्पदा।
८ विपद् (विपत्ति) विपद्+टाप् (आ) = विपदा।

परन्तु शेखरकार श्रीनागेश इस टाप् वाले पक्ष को अप्रामाणिक मानते हैं। विशेष जिज्ञासु उनका मत वहीं देखें।

[लघु०] इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम्।

इति सुबन्तम्।

इति पूर्वार्धम् ॥

अर्थ —यहां 'अव्ययप्रकरण' और उसके साथ ही सुबन्त प्रकरण समाप्त होता है। किञ्च ग्रन्थ का पूर्वार्ध भी यहीं समाप्त जानना।

अभ्यास (४८)

(१) मिथो' अव्यय का स्वरादिगण में पाठ उपयुक्त है या नहीं, सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करो।

(२) तद्धितश्चासवविभक्ति ' सूत्र की याख्या करते हुए असवविभक्ति ' पद का तात्पर्य स्पष्ट करो और यह भी लिखो कि इस सूत्र के रचे जाने पर भी परिगणन की क्या आवश्यकता थी ?

(३) उपसगप्रतिरूपक और विभक्तिप्रतिरूपक अ यया का स्वाकार करने की क्या आवश्यकता ह, उदाहरण दकर स्पष्ट करो ।

(४) निम्नलिखित अव्यया का साथ सादाहरण स्पष्टीकरण करो तथा इनकी अव्यय सञ्ज्ञा करन वाला सूत्र भी साथ लिखो—

अथ, पठितुम्, परस्तात्, स्थाने, अलम्, नाना विरूप, यर्हि पुरा, अस्ति
एषम तिरस्, अन्तरा, चिरम्, कम्, समया, कच्चित्, अस्मि, ऐकध्यम्,
जीवस, परुत् खलु प्रसह्य यथाशक्ति, किल, सनुतर् ।

(५) "परिगणन कत्त यम् ' यह कह कर किन किन प्रत्ययों का परिगणन किया गया है—सोदाहरण लिखो ।

(६) स्वर् , अन्तर् , प्रातर् आदि अ यय यदि सकारान्त होते तो क्या अनिष्ट हो जाता, सोदाहरण सप्रमाण लिखो ।

(७) 'भागुरि' आचाय के मत में क्षुध् , दिश् निश् वाच् , प्रतिपद्, सम्पद् आदि शब्दों के क्या २ रूप बनते हैं ? सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(८) मान्त कृत्प्रत्यय कौन कौन से हैं ? तदन्तों की अ ययसञ्ज्ञा किस सूत्र से होती है ?

(९) 'अव्ययसञ्ज्ञा' की अन्वर्थता सिद्ध कर 'अ यय' का साथ लक्षण लिखो ।

(१०) 'यत्र' अ यय का चादिगण मे पाठ क्यो किया गया है ? 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति से भी इसकी अ ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है ।

(११) (क) 'चादयोऽसत्त्वे म 'असत्त्वे' कथन का क्या अभिप्राय है ?
(ख) 'चण् और 'च' म तथा 'नञ् और न' में अन्तर बताओ ।
(ग) 'तिर कृत्वा' और 'तिर कृत्य' इन दोनों के अथ का भेद स्पष्ट करो ।

इति श्रीभाटियावशावतस स्वर्गीय श्रीरामचन्द्र-वर्म सूनु-श्रीभीमसेन-शास्त्रि-कृताया भैम्यभिधविस्तृतव्याख्ययोपेताया
लघु सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अव्यय-प्रकरण
समाप्तम् ।

समाप्तञ्चात्रपूर्वार्द्धम् ॥ शुभ भूयात् ॥

परिशिष्टम्

पूर्वार्द्ध-मूल-गत-सूत्राणाम् अकारादि-वर्णानुक्रमणिका

—— ०*० ——

सूत्राणि — पृष्ठसंख्या

* सूत्रों के आगे ( ) इस प्रकार कोष्ठान्तर्गत अङ्क, उन सूत्रों के ग्रन्थगतक्रम के सूचक हैं। ग्रन्थ के प्रत्येक सूत्र से पूर्व उनका अङ्क लिखा है ।

— ❀ —

पूर्वार्द्ध-गत-वार्त्तिकानाम् अकारादिवर्णानुक्रमणिका

—— ० ❀ ० ——

परिभाषादीनामनुक्रमणिका

(यहा व्याख्या वा मूल गत परिभाषाओं न्यायों तथा विशेषवचनों की सूची दी जा रही है।)

—— ० ※ ० ——